जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ - ३४१३०६ (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

वाणिज्य स्नातक–द्वितीय वर्ष

(BACHELOR OF COMMERCE)

षष्ठम् पत्र

PAPER-VI

व्यवसायिक पर्यावरण

(Business Environment)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

COPYRIGHT
Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

Written By :
Sh. Nepal Pawan Gang (Section-A,B)
Dr. Usha Rathi (Section-C)
Sh. Rakesh Kankani (Section -D)

Edition : 2014

Printed Copies : 100

Published By : Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुक्रमणिका (Contents)

खण्ड–अ	भारतीय व्यावसायिक वातावरण (परिवेश), विचारधारा तत्व एवं महत्व, आय, बचत और विनियोग की प्रवृत्तियां, व्यापार संतुलन एवम भुगतान संतुलन	01–31
खण्ड–ब	भारत में बेरोजगारी, निर्धनता, क्षेत्रीय असंतुलन, सामाजिक अन्याय, मुद्रा, प्रसार समान्तर अर्थव्यवस्था, औद्योगिक रुगणता की बढ़ती समस्या	32–81,
खण्ड–स	मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों में सरकार की भूमिका, भारत की औद्योगिक एवं लाइसेंसिंग नीति, उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण, विदेशी निवेश एवं उसका नियमन भारत की आयात एवं निर्यात नीति अवमूल्यन सहयोग (वर्तमान परिवर्तनों के विशेष संदर्भ में)	82–146
खण्ड–द	सामायिक सांस्कृतिक वातावरण सामाजिक संस्थाएं एवं प्रणाली, व्यवसाय का सामायिक उत्तरदायित्व, व्यावसायिक नीतिशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक वातावरण, अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष	147–198

खण्ड–अ

व्यावसायिक वातावरण का आशय एवं घटक

(Concept and Component of Business Environment)

व्यावसायिक वातावरण का आशय उस वातावरण से है जो एक व्यावसायिक संस्था के कार्यों एवं विकास को प्रभावित करती है। व्यवसाय वातावरण के विभिन्न घटकों से निरन्तर प्रभावित होता रहता है। व्यावसायिक वातावरण में आर्थिक, भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी, वैधानिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय आदि घटकों को शामिल किया जाता है। जब तक ये व्यावसायिक वातावरण अनुकूल रहते हैं, व्यवसाय का विकास होता रहता है। प्रतिकूल वातावरण व्यवसाय पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। बहुत से बाहरी एवं आंतरिक घटक व्यवसाय को प्रभावित करते हैं। ये घटक परिवर्तनशील होते हैं। अतः व्यावसायिक वातावरण के अनुसार व्यवसाय में भी उपयुक्त परिवर्तन किए जा सकते हैं।

कैथ डैविस के अनुसार, **''व्यावसायिक वातावरण सभी स्थितियों, घटनाओं और प्रभावों का योग है, जो व्यवसाय के आस–पास पायी जाती है, और उसे प्रभावित करती हैं।''**

आर्थर एम. वीमर (Arthur M. Weimer) के अनुसार **''व्यावसायिक वातावरण में सभी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक या संस्थागत दशाओं को शामिल किया जाता है जिनके अन्तर्गत व्यावसायिक क्रियाकलापों का संचालन किया जाता है।''**

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि व्यावसायिक वातावरण किसी भी व्यावसायिक संस्था की वे गतिशील दशाएं, परिस्थितियां तथा घटक हैं जिनसे संस्था की कार्यकुशलता एवं सफलता प्रभावित होती है फलतः व्यावसायिक संस्था को उस वातावरण के अनुरूप स्वयं को ढ़ालना पड़ता है।

व्यावसायिक वातावरण के घटक

(Components of Business Environment)

व्यावसायिक वातावरण के दो मुख्य घटक हैं–

(I) आन्तरिक वातावरण (Internal Environment)

(II) बाह्य वातावरण (External Environment)

(I) आन्तरिक वातावरण (Internal Environment) : व्यावसायिक संस्था के आन्तरिक वातावरण का तात्पर्य संस्था के आन्तरिक संगठन से है जिसके अन्तर्गत दिन प्रतिदिन के कार्य–कलापों का संचालन होता है। इसके अन्तर्गत व्यवसाय के उद्देश्यों, प्रबन्धकीय नीतियों, संगठन के विभिन्न विभागों, कर्मचारी–प्रबन्ध सम्बन्धों, भौतिक साधनों, अनुसंधान कार्य की दशाएं, वित्तीय साधनों, विपणन क्रियाओं आदि को सम्मिलित किया जाता है। प्रायः ये घटक संस्था के नियंत्रण में होते हैं फिर भी इनमें निरन्तर जटिलताएं एवं बाधाएं उत्पन्न होती रहती हैं। आन्तरिक वातावरण का एक महत्त्वपूर्ण घटक/मानव पर संस्था की सफलता अथवा असफलता निर्भर करती है। इसके साथ ही उत्पादन, सामग्री, धन, मशीनरी, प्रबन्ध आदि का भी संस्था के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। अतः आन्तरिक वातावरण में निम्नांकित घटकों को महत्त्वपूर्ण माना जाता है–

1. प्रबन्धकीय नीतियां
2. व्यावसायिक लक्ष्य
3. व्यावसायिक विचारधारा
4. संसाधनों की उपलब्धि
5. उत्पादन प्रणाली
6. यंत्र एवं तकनीक
7. श्रम एवं प्रबन्ध की कुशलता एवं परस्पर सम्बन्ध
8. संगठन संरचना, दायित्व एवं शक्तियां आदि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(II) बाह्य वातावरण (External Environment) : व्यवसाय के संचालन एवं विकास में बाह्य वातावरण का प्रभाव मुख्य रूप से होता है। बाह्य व्यावसायिक वातावरण में ऐसे बाह्य–तत्त्वों को शामिल किया जाता है जो व्यवसाय को प्रभावित करते हैं। बाह्य वातावरण में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, सरकारी, कानूनी, जनांकिकीय, प्राकृतिक आदि तत्त्वों को सम्मिलित किया जाता है जिन पर व्यावसायिक संस्था का कोई नियंत्रण नहीं होता। अतः हम कह सकते हैं कि बाह्य व्यावसायिक वातावरण में आस–पास के उन सभी तत्त्वों को शामिल किया जाता है, जो व्यवसाय को प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।

बाह्य वातावरण संस्था का वास्तविक वातावरण होता है। बाह्य वातावरण को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

(I) व्यष्टि वातावरण (Micro Environment)

(II) समष्टि वातावरण (Macro Environment)

(I) व्यष्टि वातावरण (Micro Environment) :

व्यष्टि वातावरण को प्रत्यक्ष–कार्यवाही (Direct-Action) वातावरण भी कह सकते हैं क्योंकि यह वातावरण संस्था की क्रियाओं तथा प्रबन्धकों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहता है एवं अधिक निकट होता है।

हिल एण्ड जोन्स (Hill & Jones) के अनुसार, **"व्यवसाय के सूक्ष्म वातावरण में व्यावसायिक इकाई को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाले तत्त्वों जैसे–प्रतियोगी इकाईयां, ग्राहक, पूर्तिकर्त्ता आदि को शामिल करते हैं।"** व्यष्टि वातारण के प्रमुख घटक निम्नलिखित हैं–

(1) उपभोक्ता (Consumers)/ग्राहक (Customers) : ग्राहक अथवा उपभोक्ता व्यष्टि वातावरण का एक प्रमुख घटक है। प्रबन्धकों को अपने उत्पाद/सेवाओं के लिए ग्राहकों के सम्बन्ध में सभी सूचनाएं जुटानी पड़ती हैं। जैसे– ग्राहकों की आवश्यकताएं, पसन्द, रूचि के साथ ही उपभोक्ता की आयु, लिंग, निवास, आय, पेशा आदि की भी जानकारी रखनी पड़ती है। ग्राहकों/उपभोक्ताओं की इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही उत्पादन किया जाता है ताकि ग्राहक के संतुष्टि–स्तर में वृद्धि की जा सके। उपभोक्ता ग्राहक, औद्योगिक ग्राहक, थोक विक्रेता ग्राहक, फुटकर विक्रेता ग्राहक, अन्तर्राष्ट्रीय ग्राहक, सरकार आदि। आज उपभोक्ता की संतुष्टि का कार्य अधिक चुनौतीपूर्ण हो गया है। अतः ग्राहक/उपभोक्ता व्यवसाय के व्यष्टि वातावरण का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटक है।

(2) मध्यस्थ (Intermediaries) : मध्यस्थ व्यावसायिक इकाई के उत्पादों के संवर्द्धन, विक्रय एवं वितरण में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। मध्यस्थों के बिना व्यावसायिक इकाई की विनिमय प्रक्रिया पूरी करना संभव नहीं है। ये मध्यस्थ व्यावसायिक इकाई के लिए ग्राहकों की तलाश एवं ग्राहकों तक सामग्री के वितरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये मध्यस्थ– एजेण्ट, दलाल, वितरक आदि के रूप में कार्यरत होते हैं।

(3) आपूर्तिकर्त्ता (Suppliers) : प्रत्येक व्यावसायिक इकाई को कच्चा माल एवं सहायक वस्तुओं की निरन्तर उपलब्धि हेतु बड़ी संख्या में आपूर्तिकर्त्ताओं की जरूरत होती है। आपूर्तिकर्त्ता व्यावसायिक इकाई को आवश्यक संसाधन उपलब्ध कराते हैं जिनसे उत्पादों अथवा सेवाओं के निर्माण, वितरण, मूल्य एवं लाभ प्रभावित होते हैं। अतः इनकी नीतियां, कार्यकलाप, व्यवहार व्यावसायिक इकाई को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।

(4) प्रतियोगी संस्थाएं (Competitive Institutions) : व्यवसाय से सम्बन्धित प्रतिस्पर्धी संस्थाएं व्यावसायिक वातावरण का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। वर्तमान में प्रतिस्पर्धा और अधिक बढ़ गयी है। कोई भी व्यावसायिक संस्था एकाधिकार की स्थिति में नहीं है। अतः व्यावसायिक इकाईयों को प्रतिस्पर्धाओं की रणनीति, योजनाओं, व्यूह रचनाओं, मूल्यनीति, गुणवत्ता, विश्वसनीयता आदि की पूर्ण जानकारी रखनी चाहिए।

(5) जनसमूह (Publics) : जनसमूह से आशय ऐसे समूह से है जो किसी व्यावसायिक इकाई की क्षमता को प्रभावित कर सकती है। ऐसे समूहों को निम्नांकित प्रकार में विभक्त कर सकते हैं–

(i) वित्तीय जनसमूह (Financial Publics) : ऐसे जनसमूह में ऋणदाता, बैंक, अंशधारी, ऋणपत्रधारी, निवेश करने वाली संस्थाएं आदि को शामिल किया जा सकता है।

(ii) जनसंचार माध्यम (Publics Media) : ऐसे जनसमूह में समाचार पत्र, रेडियो, टी.वी. एवं संचार के अन्य माध्यम आते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(iii) सरकारी जनसमूह (Government Publics) : ऐसे जनसमूह में सरकारी संस्थाएं एवं सरकारी तंत्र आते हैं, जो सरकारी नीतियों एवं नियमों को क्रियान्वित करते हैं।

(iv) नागरिक कार्यवाही जनसमूह (Civil Action Publics) : ऐसे जनसमूहों में जनता का प्रतिनिधित्व एवं संरक्षण करने वाले समूह सम्मिलित हैं जैसे– उपभोक्ता संरक्षण संघ, पर्यावरण संरक्षण आदि।

(v) सामान्य जनसमूह (General Publics) : ऐसे समूह में वे सम्मिलित हैं जो उत्पाद अथवा सेवाओं से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं।

ये सभी समूह व्यावसायिक इकाई को प्रभावित करते हैं। अतः इन समूहों से सम्पर्क रखना, उनके सुझावों एवं उनकी समस्याओं पर ध्यान देना व्यावसायिक इकाई के प्रबन्धकों के लिए आवश्यक है।

II. समष्टि वातावरण (Macro Environment) :

समष्टि वातावरण का आशय बाह्य वातावरण की उन शक्तियों से है जो सम्पूर्ण व्यावसायिक इकाई की क्रियाओं को प्रभावित करती है। समष्टि वातावरण को सामान्य वातावरण अथवा अप्रत्यक्ष–कार्यवाही वातावरण भी कहते हैं। इस वातावरण में आने वाला अनुकूल परिवर्तन व्यवसाय के लिए लाभप्रद होता है जबकि प्रतिकूल परिवर्तन हानिकारक हो सकते हैं।

फिलिप (Philip Kotler) के अनुसार, ''समष्टि वातावरण में उन सभी वातावरणीय तत्त्वों को शामिल किया जाता है जो व्यावसायिक इकाईयों के लिए अवसर एवं चुनौतियां उत्पन्न करें।'' समष्टि वातावरण के प्रमुख घटक निम्नानुसार हैं–

(1) जनांकिकीय वातावरण (Demographic Environment) : जनांकिकीय वातावरण अलग–अलग स्थानों में अलग–अलग होता है। यह एक परिवर्तनशील वातावरण है। इस वातावरण का निर्माण जनसंख्या सम्बन्धी विभिन्न घटकों से होता है, जैसे–जनसंख्या का आकार, घनत्व, आयु संरचना, लिंग, जाति एवं धर्म, शैक्षिक स्तर, पारिवारिक ढांचा, आर्थिक विभक्तिकरण, आय, क्षेत्रीय स्वरूप आदि। जनसंख्या में वृद्धि जहां श्रम की उपलब्धता में वृद्धि करती है वहीं अर्थव्यवस्था में वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग में भी वृद्धि करती है। इसका अनुकूल प्रभाव अर्थव्यवस्था पर पड़ता है। शिक्षा का उच्च स्तर से कुशल श्रम की आपूर्ति में वृद्धि होती है। उच्च आय वर्ग की अधिकता, आयु–संरचना में संतुलन, लिंग अनुपात में संतुलन आदि भी व्यावसायिक वातावरण में अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार विभिन्न जनांकिकीय घटक किसी भी व्यवसाय के नीति निर्धारण में सहायक होते हैं। प्रबन्धकों को विभिन्न जनांकिकीय घटकों का निरन्तर अध्ययन कर नीति निर्धारण करना चाहिए।

(2) आर्थिक वातावरण (Economic Environment) : आर्थिक वातावरण से तात्पर्य उन सभी बाह्य आर्थिक तत्त्वों एवं शक्तियों से है जिनका व्यावसायिक इकाई के कार्य संचालन पर प्रभाव पड़ता है। आर्थिक वातावरण जटिल एवं परिवर्तनशील होते हैं। आर्थिक वातावरण के मुख्य तीन तत्त्व हैं– (i) आर्थिक स्थितियां (ii) आर्थिक नीतियां (iii) आर्थिक व्यवस्था।

(i) आर्थिक स्थितियां : आर्थिक स्थितियों में आय का स्तर, आय का वितरण, मांग की प्रवृत्ति, व्यापार–चक्र, बाजार का आकार, मूल्य स्तर, पूंजी निर्माण की दर, औद्योगिक विकास की दर आदि को सम्मिलित किया जाता है। इन स्थितियों का आर्थिक वातावरण पर प्रभाव पड़ता है। अतः व्यावसायिक संस्था को इन स्थितियों पर निरन्तर नजर रखनी चाहिए।

(ii) आर्थिक नीतियां : सरकार द्वारा बनायी गयी आर्थिक नीतियां व्यावसायिक वातावरण को प्रभावित करती है। व्यावसायिक नीतियों का निर्माण करते समय सरकार की आर्थिक नीतियों का ध्यान रखना पड़ता है ताकि आर्थिक नीतियों का प्रतिकूल प्रभाव व्यवसाय पर नहीं पड़े। प्रमुख आर्थिक नीतियों में मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति, आयात–निर्यात नीति, विदेशी निवेश नीति, औद्योगिक नीति, औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति, उपभोक्त संरक्षण नीति, विदेशी विनिमय नीति आदि सम्मिलित किए जाते हैं।

(iii) आर्थिक व्यवस्था : किसी देश की आर्थिक व्यवस्था उस देश के व्यावसायिक इकाईयों को प्रभावित करती हैं। आर्थिक व्यवस्था निम्नोक्त हो सकती है–अ. पूंजीवाद ब. समाजवाद स. मिश्रित। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं में अधिकतर निजी क्षेत्र की भूमिका रहती है जबकि समाजवादी व्यवस्था में आर्थिक क्रियाएं सरकार द्वारा संचालित की जाती हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था में समाजवादी एवं पूंजीवादी दोनों अर्थव्यवस्थाओं का अस्तित्व रहता है। विकासशील देशों के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था ज्यादा सहयोगी होती है। आजकल समाजवादी व्यवस्थाओं से पूंजीवादी व्यवस्था की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ अन्य आर्थिक तत्त्व भी हैं, जो आर्थिक पर्यावरण को प्रभावित करते हैं। जैसे–आर्थिक संरचना, यातायात सुविधाएं, संचार, बैंकिंग सेवाएं, बीमा कम्पनियां, मुद्रा बाजार, पूंजी बाजार आदि।

(3) सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण (Socio-Cultural Environment) : समाज एवं संस्कृति व्यवसाय को प्रभावित करती हैं। यह वातावरण का एक अनार्थिक घटक है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण से आशय उस वातावरण से है जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों, परम्पराओं, रीति–रिवाजों, जीवन शैली आदि घटकों से बनता है। ये घटक हैं–सांस्कृतिक मूल्य, जीवन शैली, जीवन–स्तर, दायित्व–बोध, धार्मिक अवस्थाएं, परिवर्तन के प्रति समाज का दृष्टिकोण, रीति–रिवाज एवं परम्पराएं, रूढ़ियां, वर्ग–भेद, लिंग–भेद, पारिवारिक व्यवस्था, कार्य के प्रति लोगों का दृष्टिकोण, शिक्षा, विवाह, शहरीकरण, आदतें आदि।

इन सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटकों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। सामाजिक मूल्य बदलते रहे हैं। धार्मिक अवस्थाएं एवं जीवन शैली में परिवर्तन हो रहा है। महिलाओं की स्थिति एवं सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हो रहा है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों एवं उनमें आए परिवर्तन के अनुसार व्यावसायिक इकाईयों को अपनी व्यूह रचना करनी चाहिए।

(4) राजनीतिक वातावरण (Political Environment) : राजनीतिक वातावरण का आशय देश की विभिन्न आर्थिक एवं सामाजिक क्रियाओं के प्रति सरकार की विचारधारा, दृष्टिकोण एवं सोच से है। राजनीतिक वातावरण व्यावसायिक इकाई की क्रियाओं को प्रभावित करता है। व्यावसायिक इकाईयों के विकास में निम्नांकित राजनीतिक घटक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं–

(i) राजनीतिक विचारधारा

(ii) लोक कल्याण एवं सामाजिक न्याय की विचारधारा

(iii) सरकारी नीतियां

(iv) विदेश नीति

(v) राजनीतिक स्थिरता

(vi) सैन्य एवं सुरक्षा नीति

(vii) भ्रष्टाचार एवं राजनीतिक चंदा

(viii) केन्द्र एवं राज्य सरकार के बीच सम्बन्ध

(ix) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

राजनीतिक वातावरण के उपर्युक्त घटक व्यावसायिक वातावरण को प्रभावित करते हैं। देश की आर्थिक नीतियां एवं आर्थिक कानून राजनीतिक वातावरण के अनुरूप ही बनाए जाते हैं। विशेषकर औद्योगिक नीति, विनिवेश नीति, निजीकरण नीति, तकनीकी नीति आदि राजनीतिक वातावरण के अनुसार ही परिवर्तित किए जाते हैं। देश में किस तरह के व्यवसाय किए जाए, निजी क्षेत्र एवं सार्वजनिक क्षेत्र का विभिन्न व्यवसायों में प्रवेश का निर्धारण, किन व्यावसायिक क्षेत्रों में विदेशी कम्पनियों को प्रवेश की अनुमति, लघु इकाईयों के लिए व्यावसायिक क्षेत्रों का आरक्षण आदि के संदर्भ में सरकार की विचारधारा व्यवसाय को प्रभावित करती है। सरकार द्वारा बनाए गए नियम व्यावसायिक इकाईयों के सुचारू संचालन एवं नियंत्रण में मदद करती है।

(5) प्राकृतिक वातावरण (Natural Environment) : वे प्राकृतिक घटक जो प्राकृतिक संसाधनों की आपूर्ति एवं व्यावसायिक इकाईयों के कार्यकलापों को प्रभावित करते हैं, प्राकृतिक वातावरण के घटक कहलाते हैं। प्राकृतिक वातावरण के घटक निम्नलिखित हैं–

(i) प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता जैसे–वनस्पति, जल, खनिज पदार्थ, नदियां, पहाड़, वन्य जीव, समुद्र आदि।

(ii) जलवायु।

(iii) प्राकृतिक परिस्थितियां जैसे–विभिन्न प्रकार के प्रदूषण, भूकम्प, ज्वालामुखी, तूफान, बाढ़ आदि।

(iv) व्यावसायिक स्थल।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रत्येक राष्ट्र के प्राकृतिक संसाधन सीमित होते हैं। अतः इनका अनुकूलतम प्रयोग व्यवसाय में करना होता है। विभिन्न विनिर्माणी उद्योग के लिए अलग–अलग प्रकार के जलवायु की आवश्यकता होती है। पर्यावरणीय दशाएं एवं जलवायु व्यवसाय की मांग एवं पूर्ति को प्रभावित करती है। शक्ति के साधन व्यवसाय के मूल आधार हैं। जल, कोयला, पेट्रोल, विद्युत, आणविक शक्ति, गैस, सौर–ऊर्जा आदि हमें प्रकृति से ही प्राप्त होती है। पर्यावरण जो प्राकृतिक तत्त्वों से निर्मित होता है, व्यवसाय के संचालन को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। इस प्रकार प्राकृतिक वातावरण व्यवसाय की संरचना एवं भावी विकास को प्रभावित करता है।

(6) तकनीकी वातावरण (Technical Environment) : तकनीकी घटकों का व्यावसायिक वातावरण पर बहुत व्यापक प्रभाव पड़ता है। व्यावहारिक कार्यों के लिए व्यवस्थित ज्ञान के प्रयोग को तकनीकी कहते हैं। तकनीकी वातावरण में वे सभी शक्तियां सम्मिलित हैं जो किसी व्यावसायिक इकाई के लिए तकनीकी संसाधनों की उपलब्धता एवं उनकी तकनीकी क्रियाओं को प्रभावित करती है। तकनीकी वातावरण के प्रमुख घटक निम्नांकित हैं–

(i) तकनीकों की उपलब्धता

(ii) तकनीकी विकल्पों की उपलब्धता

(iii) तकनीकी स्तर

(iv) तकनीकी लागत

(v) तकनीकी परिवर्तन

(vi) सरकारी तकनीकी नीति

(vii) तकनीकों के आयात–निर्यात की नीति।

वर्तमान में तकनीकी वातावरण में काफी तेजी से परिवर्तन तो हो रहे हैं। उत्पादन की प्रणालियां परिवर्तित हो रही हैं। नवीन यंत्रों का विकास हो रहा है। उत्पादन में नवीन सामग्रियों का विकास हो रहा है। निरन्तर शोध किए जा रहे हैं। गैर–पारम्परिक एवं नवीन ऊर्जा के स्रोत खोजे जा रहे हैं। परिहन एवं संचार माध्यमों में नवीन विधियां अपनायी जा रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तकनीकों का हस्तान्तरण किया जा रहा है। इस प्रकार तकनीकी पर्यावरण की पूरी व्यावसायिक इकाईयों को प्रभावित करती है। अतः प्रबन्धकों को तकनीकी प्रभावों को ध्यान में रखकर अपने व्यावसायिक इकाई की व्यूह रचना करनी चाहिए।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण (International Environment) : अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार करने वाली संस्थाओं को प्रभावित करते हैं। वर्तमान में भूमण्डलीकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक वातावरण पूरे भू–मण्डल के व्यावसायिक क्रियाओं को प्रभावित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के प्रमुख घटक निम्नांकित हैं–

(i) विभिन्न देशों की आर्थिक नीतियां

(ii) विदेशी पूंजी

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय बाजार

(iv) विदेशी संस्थाओं से प्रतिस्पर्धा

(v) दूसरे देशों से आपसी सम्बन्ध

(vi) आयात–निर्यात

(vii) बहुराष्ट्रीय कम्पनियां

(viii) तकनीकी हस्तान्तरण

(ix) अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक समझौते एवं सहयोग

(x) युद्ध।

उपर्युक्त घटक अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक वातावरण को प्रभावित करते हैं। निर्यात पर निर्भर रहने वाले उद्योगों के लिए विदेशी बाजार में मंदी अथवा विदेशी सरकारों की संरक्षणवादी नीतियों से कई समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार उदारीकरण की नीति से उन उद्योगों को सहायता मिलती है जो बाहर से कच्चे माल व

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपकरणों का आयात करते हैं। आज एक राष्ट्र में उत्पन्न व्यावसायिक संकटों की लहरें दूसरी अर्थव्यवस्था को भी प्रभावित करती हैं।

व्यावसायिक वातावरण के अध्ययन का महत्त्व
(Importance of the Study of Business Environment)

किसी भी उद्यम/व्यवसाय की सफलता के लिए उसके आस–पास का वातावरण का अध्ययन बहुत आवश्यक है। वातावरण यदि व्यवसाय के लिए अनुकूल है तो उसकी सफलता लगभग निश्चित होती है और यदि प्रतिकूल है तो सफलता में संदेह रहता है। वर्तमान में व्यवसाय का वातावरण अधिक जटिल एवं गतिशील होता जा रहा है। अतः व्यावसायिक इकाईयों को वातावरण का पूर्णतः अध्ययन करना एवं वातावरण के अनुरूप आवश्यक परिवर्तन करना व्यवसाय की सफलता के लिए अति आवश्यक है।

व्यावसायिक वातावरण के अध्ययन के निम्नलिखित महत्त्व हैं–

(1) नीतियों एवं रणनीतियों का निर्माण : व्यावसायिक वातावरण हमेशा परिवर्तनशील होते हैं। परिवर्तन के आधार पर ही व्यवसाय की नीति एवं रणनीति तैयार की जाती है। व्यावसायिक वातावरण के आधार पर व्यावसायिक इकाईयों को अपनी नीतियों में परिवर्तन करते रहना चाहिए ताकि व्यावसायिक सफलता को निश्चित किया जा सके।

(2) व्यवसाय को समृद्ध एवं गतिशील बनाना : व्यावसायिक वातावरण का अध्ययन करके ही वातावरण में होने वाले परिवर्तनों को समझकर व्यवसाय को अधिक समृद्ध एवं सकारात्मक दिशा की ओर ले जाया जा सकता है। प्रबन्धकों को अधिक कुशल एवं सतर्क बनाकर व्यवसाय के आकार में वृद्धि की जा सकती है। व्यवसाय में होने वाली प्रतिकूल एवं नकारात्मक परिवर्तनों को सकारात्मक किया जा सकता है।

(3) संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग : व्यवसाय में प्रयुक्त होने वाले सभी आर्थिक, मानवीय एवं भौतिक संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग व्यावसायिक वातावरण का अध्ययन करके ही किया जा सकता है। अतः उपलब्ध संसाधनों के सर्वोत्तम उपयोग के लिए व्यावसायिक वातावरण का विश्लेषण करना परमावश्यक है।

(4) सूचनाओं एवं आंकड़ों की उपलब्धता : व्यावसायिक वातावरण से ही हम व्यावसायिक इकाईयों के लिए आवश्यक सूचनाएं एवं आंकड़े एकत्र कर सकते हैं। इन आंकड़ों एवं सूचनाओं के आधार पर ही व्यावसायिक इकाई की कार्य प्रणाली एवं उत्पादक की मात्रा, गुणवत्ता आदि को निर्धारित किया जा सकता है। व्यवसाय सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण निर्णय बिना सूचनाओं एवं आंकड़ों के संभव नहीं है।

(5) प्रतियोगी इकाई की नीतियों एवं रणनीतियों का अध्ययन : किसी भी व्यावसायिक इकाई की सफलता के लिए आवश्यक है कि उसकी प्रतियोगी इकाई की नीति एवं रणनीतियों का अध्ययन कर उससे मुकाबले के लिए अपनी नीतियों एवं रणनीतियों को तैयार करना। इससे व्यावसायिक इकाई न केवल प्रतियोगी संस्थाओं से प्रतियोगिता में सफल हो पाती है बल्कि वे अपना अस्तित्व भी बाजार में मजबूत तरीके से बरकरार रखती है।

(6) व्यवसाय की सीमाओं को जानना : प्रत्येक व्यावसायिक इकाईयों को अपनी कमजोरी एवं दुर्बलताओं का पता लगाते रहना चाहिए ताकि वे उन्हें योजनाबद्ध तरीके से दूर कर स्वस्थ एवं मजबूत इकाई के रूप में विकसित कर सके। व्यावसायिक वातावरण का विश्लेषण कर व्यावसायिक इकाईयों को अपनी क्षमता एवं सीमाओं का ज्ञान हो जाता है।

(7) चुनौतियों का पूर्वानुमान : व्यावसायिक वातावरण में होने वाले नित नए परिवर्तन व्यावसायिक इकाईयों के लिए हमेशा चुनौतीपूर्ण होते हैं। व्यावसायिक वातारण के विश्लेषण के द्वारा हम तकनीकी परिवर्तन, आर्थिक परिवर्तन, फैशन परिवर्तन, नीतियों में परिवर्तन, विभिन्न संसाधनों की वर्तमान स्थिति को जान सकते हैं एवं उससे उत्पन्न होने वाली चुनौतियों का सामना करने के लिए इकाईयों को तैयार कर सकते हैं।

(8) बाजार की जानकारी : किसी भी व्यवसाय के लिए उसका बाजार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। बाजार से ही उसे ग्राहकों, पूर्तिकर्त्ताओं, प्रतियोगी संस्थाओं आदि की जानकारी होती है। बाजार में उत्पादों की होने वाली मांग एवं पूर्ति की स्थिति तेजी–मंदी आदि की जानकारी के आधार पर ही व्यावसायिक इकाई अपने बाजार सम्बन्धी सही निर्णय ले सकते हैं। बाजार की दशाओं का अध्ययन व्यवसाय की सफलता के लिए अति आवश्यक है।

(9) व्यवसाय के आन्तरिक वातावरण को जानना : व्यावसायिक वातावरण के विश्लेषण के माध्यम से व्यवसाय के आन्तरिक वातावरण को जानकर आगे आने वाली बाधाओं को दूर किया जा सकता है। आन्तरिक वातावरण यदि प्रतिकूल है तो व्यवसाय की सफलता में प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और यदि अनुकूल है तो अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यदि व्यावसायिक इकाईयों में हड़ताल होती रहती है तो इसका प्रभाव इकाई के उत्पादन एवं विकास पर प्रतिकूल पड़ेगा और कर्मचारी का मनोबल ऊंचा है तो इसका अनुकूल प्रभाव व्यवसाय पर पड़ेगा।

(10) नवाचार : व्यावसायिक वातावरण का अध्ययन करके ही कोई इकाई नवाचार को अपनाती है एवं इकाई को सफलता के शिखर तक नवाचार के माध्यम से पहुंचा सकती है। नये उत्पादों एवं सेवाओं का बाजार में आना एवं उन्हें भरपूर सफलता मिलना व्यावसायिक वातावरण के विश्लेषण से ही संभव हो पाया है।

(11) अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों का अध्ययन : व्यावसायिक वातावरण के विश्लेषण एवं अध्ययन से ही अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों का व्यावसायिक इकाई पर प्रभाव को जाना जा सकता है। आज वैश्वीकरण के युग में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, राजनीतिक प्रभावों को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। विश्व के अन्य उत्पादों से प्रतियोगिता एवं आयात–निर्यात को सुचारू रूप से क्रियान्विति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों का ज्ञान आवश्यक है।

(12) अन्य महत्त्वपूर्ण बिन्दु :

अ. राजनीतिक स्थितियों का अध्ययन

ब. सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रभावों का ज्ञान

स. सरकारी आर्थिक नीतियों का ज्ञान

द. तकनीक सुधार करना

य. अवसरों को जानना आदि।

इस प्रकार व्यावसायिक वातावरण का अध्ययन एवं विश्लेषण किसी भी व्यावसायिक इकाई के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न

वृहतउत्तरात्मक प्रश्न

1. व्यावसायिक वातावरण को परिभाषित करें। व्यावसायिक वातावरण के विभिन्न घटकों का वर्णन करें।
2. व्यावसायिक वातावरण से आप क्या समझते हैं? बाह्य वातावरण का विस्तृत वर्णन करें।
3. व्यावसायिक वातावरण का अर्थ बताएं। व्यवसाय की सफलता में वातावरण विश्लेषण की महत्ता का वर्णन करें।
4. व्यवसाय की सफलता में व्यावसायिक वातावरण के अध्ययन के महत्त्व का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. व्यावसायिक वातावरण का अर्थ लिखें।
2. व्यावसायिक वातावरण के आर्थिक घटक को लिखें।
3. आन्तरिक व्यावसायिक वातावरण क्या है?
4. व्यष्टि वातावरण से आप क्या समझते हैं?
5. समष्टि वातावरण क्या है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भारत में आय, बचत एवं विनियोग की प्रवृत्तियां

(Income, Savings and Investment Trends in India)

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के विकास के लिए राष्ट्रीय आय, बचत एवं विनियोग की प्रवृत्तियों की दिशा एवं मात्रा का विशेष महत्त्व है। इन प्रवृत्तियों के आधार पर ही किसी देश के आर्थिक विकास की दर को जाना जा सकता है।

राष्ट्रीय आय (National Income)

किसी भी देश में जो अंतिम वस्तुएं एवं सेवाएं उत्पन्न होती हैं उनके मौद्रिक मूल्य के शुद्ध योग को राष्ट्रीय आय कहा जाता है। इसमें वस्तु अथवा सेवाओं के मूल्यों की दोहरी गणना नहीं होनी चाहिए।

राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार, **"राष्ट्रीय आय में बिना दोहरी गणना के एक अर्थव्यवस्था में एक दी हुई अवधि में उत्पन्न की जाने वाली सेवाओं एवं वस्तुओं के मूल्य का माप किया जाता है।"**

प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income) :

किसी निश्चित समय में किसी देश के निवासियों की औसत आय को प्रति व्यक्ति आय कहा जाता है। प्रति व्यक्ति आय की गणना के लिए कुल राष्ट्रीय आय में से जनसंख्या का भाग देने से प्रति व्यक्ति आय ज्ञात की जा सकती है। प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय आय के आकार के साथ–साथ जनसंख्या के आकार पर भी निर्भर करती है।

राष्ट्रीय आय की गणना विधियाँ (Methods of Measuring National Income)

भारत में राष्ट्रीय आय की गणना को दो भागों में बांटा जा सकता है–

I. स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व

II. स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद

I. स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व विभिन्न विशेषज्ञों ने राष्ट्रीय आय गणना के लिए विभिन्न तरीके अपनाए थे जैसे– दादा भाई नौरोजी, शाह और खम्माता, वाडिया एवं जोशी ने राष्ट्रीय गणना हेतु कृषि क्षेत्र के उत्पादनों के मूल्य का अनुमान लगाया एवं उसका कुछ प्रतिशत गैर–कृषि क्षेत्र की आय के रूप में जोड़ दिया था। प्रति व्यक्ति आय 1867–68 में नैरोजी ने रु. 10, 1921–22 में शाह एवं खम्माता ने रु. 14 अनुमान लगाया था। डॉ. वी.के. आर. वी. राव ने 1931 में राष्ट्रीय आय मापने का एक वैज्ञानिक तरीका अपनाया। उन्होंने कृषि क्षेत्र एवं निगम क्षेत्र दो भागों में अर्थ व्यवस्था को बांटा। कृषि क्षेत्र में कृषि के अतिरिक्त वन, खानें, मछली पालन, चारागाह आदि को रखा गया एवं निगम क्षेत्र में उद्योग, निर्माण, व्यवसाय, परिवहन, सेवाएं आदि को रखा गया। डॉ. वी.के. आर.वी. राव ने कृषि के उत्पाद के अनुमान के लिए उत्पाद विधि (Product Method) एवं निगम क्षेत्र की आय के अनुमान के लिए आय विधि (Income Method) अपनाया। इनमें विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय को जोड़कर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया गया। डॉ. राव ने वर्ष 1931–32 में प्रति व्यक्ति आय रु. 62 एवं वाणिज्य मंत्रालय ने वर्ष 1945–46 में प्रति व्यक्ति आय रु. 198/– अनुमानित किया था। स्वतंत्रता पूर्व राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने का उद्देश्य भारत की गरीबी को दर्शाना था।

II. स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद

प्रो. पी.सी. महालानोबिस की अध्यक्षता में सन् 1949 में राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) बनायी गयी जिसकी प्रथम रिपोर्ट 1951 में एवं अंतिम रिपोर्ट 1954 में प्रकाशित हुई। इन्होंने राष्ट्रीय आय गणना हेतु उत्पादन एवं आय गणना विधियों का उपयोग किया। समिति की रिपोर्ट के अनुसार 1948–49 में भारत की राष्ट्रीय आय 8710/– रुपए एवं प्रति व्यक्ति आय 225 रुपये थी। समिति की रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अनुमान लगाने का कार्य केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन (Central Statistic Organisation) को दिया गया। 1955 से लेकर अब तक यह संगठन राष्ट्रीय आय की गणना के लिए वर्ष 1999–2000 को आधार वर्ष चुना। केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन राष्ट्रीय आय गणना का कार्य कर रहा है। केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने वर्ष 2004–05 में राष्ट्रीय आय सम्बन्धी राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी (National Accounting Statistics) नामक रिपोर्ट प्रतिवर्ष प्रकाशित कर रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय आय गणना विधि

भारत में स्वतंत्रता पश्चात् निम्नलिखित राष्ट्रीय आय गणना विधियां अपनायी गयी हैं–

1. उत्पाद विधि (Product Method): इस विधि में एक वर्ष में देश की घरेलू सीमा में प्रत्येक उद्यम के द्वारा उत्पादित उत्पाद की गणना करके घरेलू उत्पादन की गणना की जाती है। इस विधि में 'दोहरी गणना' से बचने के लिए प्रत्येक उद्यम द्वारा मूल्य वृद्धि (Value-added) की गणना कर ली जाती है। इसलिए इस विधि को मूल्य वृद्धि विधि (Value added Method) भी कहा जाता है। उत्पाद विधि में घरेलू उत्पाद में विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय को जोड़कर राष्ट्रीय आय की गणना कर ली जाती है। इस विधि में प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादित विभिन्न वस्तुओं की मात्रा को उनके औसत कीमत से गुणा करके कुल उत्पादन के कुल मूल्य को ज्ञात कर लिया जाता है। इसके बाद कुल उत्पादन में प्रयोग किए जाने वाले मध्यवर्ती पदार्थों (Intermediate Goods) का मूल्य घटा दिया जाता है। कुल उत्पादन के कुल मूल्य में से घिसावट व्यय को घटाकर शुद्ध मूल्य ज्ञात कर लिया जाता है।

2. आय विधि (Income Method): इस विधि के अन्तर्गत एक वर्ष में उत्पादन के प्राथमिक साधनों श्रम, भूमि, पूंजी, उद्यम को उनकी उत्पादक सेवाओं के बदले में मजदूरी, लगान, ब्याज और लाभ के रूप में दिए गए भुगतान की गणना करके राष्ट्रीय आय की गणना की जाती है।

3. व्यय विधि (Expenditure Method): व्यय विधि का प्रयोग निर्माण क्षेत्र में राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए किया जाता है। व्यय विधि में ग्रामीण निर्माण कार्य की गणना हेतु निर्माण कार्य पर की गयी कुल व्यय की राशि की गणना की जाती है तथा शहरी निर्माण कार्य के लिए वस्तु प्रवाह विधि का प्रयोग किया जाता है।

भारत में राष्ट्रीय आय की गणना में कठिनाई

भारत में राष्ट्रीय आय की माप में निम्नलिखित कठिनाईयां आती हैं–

1. मुद्रा मूल्य ज्ञात करने में कठिनाई : भारत में उत्पादन का अधिकांश भाग उत्पादकों द्वारा उपभोग कर लिया जाता है अथवा वस्तु–विनिमय के रूप में उपयोग कर लिया जाता है। अतः उत्पादित वस्तुओं का सही–सही मुद्रा मूल्य ज्ञात करने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है।

2. बढ़ता हुआ काला धन : कर चोरी के लिए उत्पादन को कम करके दिखाया जाता है। आय के विभिन्न स्रोतों को कम करके दिखाया जाता है। भारतीय अर्थव्यवस्था में काला धन प्रचुर मात्रा में है जो दिखाया ही नहीं जाता। काले धन की बढ़ती मात्रा के कारण राष्ट्रीय आय की सही–सही गणना बहुत कठिन कार्य है।

3. गणना की विविध अवधारणाएं : राष्ट्रीय आय की गणना के लिए उत्पाद, आय, व्यय आदि कई अवधारणाओं को आधार बनाया जाता है। देश में नयी वस्तुओं का उत्पादन जैसे–इलेक्ट्रॉनिक्स, कम्प्यूटर वस्तुओं आदि का निर्माण आधार वर्ष में नहीं होने के कारण उनकी मूल्य–गणना में काफी कठिनाई आती है।

4. आंकड़े उपलब्ध न होना : कृषि, पशुपालन, मछली पालन, बागवानी, फूलों की खेती, छोटे व घरेलू उद्योग आदि के उत्पादन के सम्पूर्ण आंकड़े उपलब्ध नहीं होते। इनमें जुड़े अशिक्षित लोग उत्पादन का हिसाब–किताब नहीं रखते।

5. अशिक्षा : अशिक्षा के कारण भी सही–सही आंकड़े नहीं मिल पाते हैं। अशिक्षित लोग राष्ट्रीय आय की गणना की महत्ता समझ नहीं पाते और गणना करने वालों को सही सूचनाएं उपलब्ध नहीं करा पाते हैं।

6. आय सम्बन्धी गलत सूचनाएं : लोग अपनी आय की सही सूचना नहीं देते हैं। वे विभिन्न कारणों से अपनी वास्तविक आय की सूचना देने में हिचकिचाते हैं। फलतः राष्ट्रीय आय की गणना में आय की सही सूचनाओं के अभाव में अधूरापन रहता है।

7. अन्य कठिनाईयां :

अ. राष्ट्रीय सांख्यिकीय संगठन एवं राष्ट्रीय सेम्पल सर्वे संगठन द्वारा उपयोग की जाने वाली सेम्पलिंग विधि पर्याप्त नहीं है।

ब. अन्तर्क्षेत्रीय विषमता के कारण एक क्षेत्र के आधार पर दूसरे क्षेत्र का अनुमान लगाना गलत हो सकता है।

स. स्मगलिंग, जुआ आदि गैर–कानूनी तरीकों से अर्जित की गयी आय की गणना नहीं की जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द. गृहणियों द्वारा किये गये घरेलू कार्यों से अर्जित की गयी आय की गणना नहीं हो पाती आदि।

इस प्रकार भारत में राष्ट्रीय आय की सही–सही गणना में काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है।

भारत में राष्ट्रीय आय की प्रवृत्ति (Trends in National Income) :

भारत में राष्ट्रीय आय की प्रवृत्ति एवं उनमें होने वाले परिवर्तनों को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से जाना जा सकता है–

1. राष्ट्रीय आय में वृद्धि : राष्ट्रीय सांख्यिकीय संगठन (Central Statistics Organisation) प्रत्येक वर्ष राष्ट्रीय आय के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित आंकड़ों का प्रकाशन करता है। जैसे चालू कीमत पर राष्ट्रीय आय, आधार वर्ष पर स्थिर कीमत पर राष्ट्रीय आय। चालू वर्ष के उत्पादन को चालू वर्ष की कीमतों से गुणा करके राष्ट्रीय आय निकाली जाती है। आधार वर्ष के कीमत से चालू वर्ष के उत्पादन को गुणा करके स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय निकाली जाती है। स्थिर कीमतों पर निकाली गयी राष्ट्रीय आय में वृद्धि उत्पादन वृद्धि से होती है। इसमें कीमत वृद्धि का प्रभाव राष्ट्रीय आय पर नहीं पड़ता है।

तालिका–1

भारत में राष्ट्रीय आय की प्रवृत्ति

वर्ष	चालू कीमत पर राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपए में)	वर्ष 1999–2000 की कीमत पर राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपए में)
1950-51	9152	204924
1960-61	15593	309045
1970-71	40135	437719
1980-81	121129	583548
1990-91	456409	967773
2000-01	1700467	1647903
2007-08	4031881	3449970
2008-09	4632304	3672192

(Source: Economic Survey, 2009-10)

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है वर्ष 1999–2000 आधार वर्ष की कीमतों पर निकाली गयी राष्ट्रीय आय एवं चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो रही है। चालू कीमतों पर निकाली गयी राष्ट्रीय आय वर्ष 1950–51 में 9152 करोड़ रुपए थी जो 2008–09 में बढ़कर 4632304 करोड़ रुपए हो गयी। इसी प्रकार स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि हुई है। जो आर्थिक विकास एवं लोगों के जीवन स्तर में सुधार का सूचक है।

राष्ट्रीय आय की वार्षिक वृद्धि दर :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तालिका–2

स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय की वार्षिक वृद्धि दर

योजनाएं	राष्ट्रीय आय प्रतिवर्ष (%)
प्रथम पंचवर्षीय योजना	3.6
द्वितीय पंचवर्षीय योजना	4.1
तृतीय पंचवर्षीय योजना	2.5
चौथी पंचवर्षीय योजना	3.3
पांचवीं पंचवर्षीय योजना	5.0
छठी पंचवर्षीय योजना	5.4
सातवीं पंचवर्षीय योजना	5.8
आठवीं पंचवर्षीय योजना	6.7
नौवीं पंचवर्षीय योजना	5.5
दसवीं पंचवर्षीय योजना	7.8
ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007–08)	9.1
(2008–09)	6.7
(2009–10)	7.2

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष वृद्धि होती रही है। राष्ट्रीय आय में 5% प्रतिवर्ष से अधिक दर से वृद्धि होती रही है। दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002–07) में राष्ट्रीय आय में 7.8% प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई है। वैश्विक मंदी के कारण 2008–09 में राष्ट्रीय आय में 6.7% की वृद्धि हुई। 2010–11 में राष्ट्रीय आय में 8.2% की दर से वृद्धि होने का अनुमान है।

2. प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि : चालू कीमत पर प्रति व्यक्ति आय निकालने के लिए चालू कीमत पर निकाली गयी कुल राष्ट्रीय आय को कुल जनसंख्या से विभाजित किया जाता है। स्थिर कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय निकालने के लिए स्थिर कीमत पर निकाली गयी कुल राष्ट्रीय आय को कुल जनसंख्या से विभाजित किया जाता है।

तालिका–3

भारत में प्रति व्यक्ति आय की प्रवृत्ति

वर्ष	चालू कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय (करोड़ रुपए)	आधार वर्ष 1999'2000 की कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय (करोड़ रुपए)
1950-51	255	5708

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1960-61	359	7121
1970-71	742	8091
1980-81	1784	8594
1990-91	5440	11535
2000-01	16688	16172
2007-08	35430	30316
2008-09	40141	31821

(Source: Economic Survey, 2009-10)

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि चालू कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय व 1999–2000 आधार वर्ष की कीमतों पर निकाली गयी प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हो रही है। 1950–51 में स्थिर कीमतों पर निकाली गयी प्रति व्यक्ति आय 5708 थी जो वर्ष 2008–09 में बढ़कर 31821 हो गयी।

तालिका–4

स्थिर मूल्यों पर प्रति व्यक्ति आय वृद्धि दर

योजनाएं	प्रति व्यक्ति आय प्रतिवर्ष %
प्रथम पंचवर्षीय योजना	1.8
द्वितीय पंचवर्षीय योजना	2.0
तृतीय पंचवर्षीय योजना	0.2
चौथी पंचवर्षीय योजना	1.0
पांचवीं पंचवर्षीय योजना	2.7
छठी पंचवर्षीय योजना	3.2
सातवीं पंचवर्षीय योजना	3.6
आठवीं पंचवर्षीय योजना	4.6
नौवीं पंचवर्षीय योजना	3.5
दसवीं पंचवर्षीय योजना	6.1
ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007–08)	7.6
(2008–09)	5.2
(2009–10)	5.8

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तालिका नं. 4 से स्पष्ट है कि योजनावधि में प्रति व्यक्ति आय में अनियमित रूप से वृद्धि होती रही है। किसी वर्ष प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि पिछले वर्ष की तुलना में काफी अधिक हो गयी है तो किसी वर्ष काफी कम हो गयी है। तालिका नं. 4 से स्पष्ट है कि छठी पंचवर्षीय योजना से दसवीं पंचवर्षीय योजना के बीच 3.2% प्रतिवर्ष 8 से 6.1% प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती रही है। यह अर्थव्यवस्था के विकास का सूचक है। प्रति व्यक्ति आय में वर्ष 2007–08 में 7.6%, वर्ष 2008–09 में 5.2% एवं 2009–10 में 5.8% वृद्धि हुई है। वर्ष 2008–09 में प्रति व्यक्ति आय की दर में आयी कमी का कारण वैश्विक आर्थिक मंदी रही है। भारत की प्रति व्यक्ति आय अन्य देशों की तुलना में काफी कम है। प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से भारत का विश्व में 89वाँ स्थान है।

3. उद्योगवार राष्ट्रीय आय (National Income by Industry of Origin) :

राष्ट्रीय आय के क्षेत्रवार वितरण को तीन भागों में बांटा जा सकता है–

अ. प्राथमिक क्षेत्र (Primary Sector) : प्राथमिक क्षेत्र में कृषि, वन, मछली पालन, खानें, खदान सम्बन्धी क्रियाएं आदि को सम्मिलित किया जाता है। प्राथमिक क्षेत्र में खासकर कृषि क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। निर्वाह योग्य कृषि के स्थान पर व्यावसायिक कृषि का महत्त्व अधिक बढ़ गया। कृषि उत्पादन की नई तकनीक अपनायी गयी। हरित क्रांति से कृषि उत्पादन में अच्छी वृद्धि हुई। प्राथमिक क्षेत्र में विकास की दर कम होती गयी है। 2009–10 में प्राथमिक क्षेत्र में विकास की दर (-) 0.2 थी। भारत में कृषि क्षेत्र की विकास दर संतोषजनक नहीं है। राष्ट्रीय आय में प्राथमिक क्षेत्र का योगदान 1950–51 में 61% था जो कि घटकर 2009–10 में मात्र 14.8% रह गया है। इसका प्रमुख कारण उद्योग एवं सेवा क्षेत्र में हो रही वृद्धि है।

2. द्वितीयक क्षेत्र (Secondary Sector) : द्वितीय क्षेत्र में उद्योग तथा निर्माण, बिजली, गैस, जलापूर्ति आदि से सम्बन्धित क्रियाएं शामिल हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद औद्योगिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। आधारभूत उद्योग जैसे–इस्पात, मशीनरी, रसायन, पेट्रोलियम आदि की स्थापना की गयी। नये–नये उपभोक्ता वस्तुएं, इलेक्ट्रॉनिक्स सामान के उद्योग स्थापित किए गए। उद्योगों का आधुनिकीकरण किया गया। राष्ट्रीय आय में द्वितीयक क्षेत्र के योगदान में वृद्धि हुई है। 1950–51 में राष्ट्रीय आय में द्वितीयक क्षेत्र का योगदान 14.5% था जो कि बढ़कर 2009–10 में 28% हो गया है। द्वितीयक क्षेत्र की विकास दर में भी वृद्धि हुई है। वर्ष 2000–01 में द्वितीयक क्षेत्र की वार्षिक विकास दर 6.4% थी जोकि बढ़कर वर्ष 2009–10 में 8.2% हो गयी। द्वितीयक क्षेत्र के विकास दर में सुधार आया है।

3. तृतीयक क्षेत्र (Tertiary Sector) : तृतीयक क्षेत्र में यातायात, संचार, व्यापार, बैंक–बीमा, कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर, सार्वजनिक प्रशासन, रक्षा तथा अन्य सेवाएं, विदेशी व्यापार आदि सम्मिलित हैं। 1950–51 में तृतीयक क्षेत्र का राष्ट्रीय आय में योगदान 24.5% था जो बढ़कर 2009–10 में 57ण्2ः हो गया। इसी प्रकार तृतीयक क्षेत्र की वार्षिक विकास दर 2000–01 में 4.4% थी जो बढ़कर 2009–10 में 8.2% हो गयी। भारत में तृतीयक क्षेत्र जैसे यातायात, बैंकिंग, बिजली, संचार, सिंचाई आदि में काफी परिवर्तन हुए हैं। रेल, हवाई–जहाज, सड़कें, समुद्री–जहाज आदि का काफी विस्तार किया गया हैं। सूचना तकनीकी एवं बिजनेस प्रोसेस आऊट सोर्सिंग (BPO), पर्यटन आदि सेवाओं में काफी विस्तार हुआ है।

आर्थिक विकास के साथ ही राष्ट्रीय आय की संरचना में परिवर्तन होता रहता है। आर्थिक विकास के प्रारंभ में अल्पविकसित देशों में कृषि अर्थात् प्राथमिक क्षेत्र का सापेक्षिक महत्त्व ज्यादा होता है। जैसे–जैसे आर्थिक विकास होता जाता है प्राथमिक क्षेत्र के स्थान पर द्वितीय एवं तृतीयक क्षेत्र का सापेक्षिक महत्त्व बढ़ता जाता है। राष्ट्रीय आय में आर्थिक विकास के साथ ही द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्र का योगदान बढ़ता जाता है। भारत में प्राथमिक क्षेत्र विशेषकर कृषि का राष्ट्रीय आय में अब भी अच्छा योगदान है। विकसित देशों में 2 से 3% राष्ट्रीय आय का भाग कृषि क्षेत्र से है जबकि भारत में अभी भी 15% के करीब है। अतः हम कह सकते हैं कि अभी भारत को और अधिक संरचनात्मक परिवर्तन की जरूरत है।

भारत में राष्ट्रीय आय में धीमी गति से वृद्धि के कारण
(Causes of Slow Growth in National Income in India)

भारत में राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में बहुत ही धीमी गति से वृद्धि हुई है। अन्य देशों की तुलना में भारत की राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। भारत में राष्ट्रीय आय के धीमी गति से वृद्धि के निम्नलिखित कारण हैं–

1. कृषि पर निर्भरता : भारत की अधिकांश जनसंख्या कृषि क्षेत्र में लगी हुई है। भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर है। मानसून की अनुकूलता कृषि उत्पादन में वृद्धि कर राष्ट्रीय आय में वृद्धि कर देती है जबकि मानसून की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रतिकूलता राष्ट्रीय आय में भारी कमी कर देती है। भारत में सिंचाई साधनों के विकास के बावजूद भी कुल कृषि योग्य भूमि में से केवल 1/3 भाग भूमि को ही सिंचाई सुविधा उपलब्ध हो पायी है। अतः राष्ट्रीय आय में कमी का एक प्रमुख कारण कृषि की अनिश्चितता है।

2. बचत एवं निवेश की कम दर : भारत में लोगों में बचत एवं विनिवेश करने की प्रवृत्ति कम पायी जाती है। हालांकि योजनावधि में बचत एवं निवेश की दर में वृद्धि हुई है। फिर भी विकसित राष्ट्रों की तुलना में यह काफी कम हैं। वर्ष 2008–09 में भारत में बचत दर 32.5% और निवेश दर 34.9% थी।

3. तीव्र गति से जनसंख्या वृद्धि : लगातार जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण राष्ट्रीय आय में वृद्धि के बावजूद भी प्रति व्यक्ति आय में विशेष वृद्धि नहीं हो पायी है।

4. निम्न उत्पादकता : भारत में कृषि क्षेत्र में अन्य देशों की तुलना में उत्पादकता बहुत कम है। हालांकि वर्तमान में कृषि क्षेत्र में आधुनिक उपकरणों एवं वैज्ञानिक तरीके से उत्पादन में वृद्धि का प्रयास किया जा रहा है फिर भी उत्पादकता बहुत कम है।

5. अपर्याप्त औद्योगिक विकास : भारत में आज भी आधारभूत उद्योगों की कमी है। औद्योगिक क्षेत्र में संतोषजनक विकास नहीं हो पाया है। सूती वस्त्र, चीनी, जूट जैसे उद्योग कृषि द्वारा उत्पादित कच्चे माल की पूर्ति पर निर्भर हैं। भारतीय उद्योगों को कच्चे माल की कमी, शक्ति के साधनों का अभाव, यातायात सुविधाओं का अभाव, वित्त की कमी, खराब श्रम सम्बन्ध आदि समस्याओं का सामना करना पड़ता है। औद्योगिक विकास की धीमी गति के कारण राष्ट्रीय आय में भी धीमी गति से वृद्धि हो रही है।

6. ऊर्जा संसाधनों का अभाव : उद्योगों के लिए पर्याप्त ऊर्जा उपलब्ध नहीं हो पाती है। बिजली, कोयला, पेट्रोल की अपर्याप्त उपलब्धता का प्रतिकूल प्रभाव औद्योगिक उत्पादन पर पड़ता है। अतः राष्ट्रीय आय वृद्धि की दर कम रहती है।

7. यातायात साधनों का अभाव : यातायात के साधनों का पर्याप्त विकास नहीं होने के कारण देश के आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार के विस्तार में कई बाधाएं आती हैं। इससे राष्ट्रीय आय की वृद्धि पर प्रतिकूल असर पड़ता है।

8. सामाजिक कारण : भारत में निरक्षरता देश के पिछड़ेपन का एक प्रमुख कारण है। निरक्षरता व्यक्ति के विकास को अवरूद्ध करती है। अशिक्षित लोग भाग्यवादी एवं रूढ़िवादी, निराशावादी हो जाते हैं। जातिप्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली एवं अंधविश्वास भी आर्थिक प्रगति में बाधक बनते हैं। इस प्रकार भारत की सामाजिक व्यवस्था आर्थिक विकास को प्रोत्साहित नहीं कर पाती। फलतः राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर कम रहती है।

9. राजनीतिक कारण : प्रारम्भ में अंग्रेज शासकों ने देश के आर्थिक विकास पर विशेष ध्यान नहीं दिया। भारतीय उपनिवेश अंग्रेजों के लिए कच्चा माल आपूर्ति का उपनिवेश बन गया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी सरकार वोट की राजनीति के कारण जाति प्रथा आदि को बढ़ावा देती रहती है। अर्थव्यवस्था में आर्थिक घोटालों की लम्बी सूची है। जातिवाद, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिक दंगों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को कमजोर बनाया है। राजनीतिक अस्थिरता भी आर्थिक विकास में बाधा रही है। अतः अनेक राजनीतिक कारणों से भी राष्ट्रीय आय में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पायी है।

उपरोक्त समस्याओं को दूर करके राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर तीव्र की जा सकती है।

भारत में बचत की प्रवृत्ति
(Saving Trends in India)

भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था के विकास के लिए पूंजी की आवश्यकता रहती है। पूंजी निर्माण के लिए बचत आवश्यक है। अतः पूंजी निर्माण बचत, आय और उपभोग की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। आय का वह भाग जो अंतिम उपभोग पर खर्च नहीं किया जाता है उसे बचत कहा जाता है। लार्ड केन्ज के अनुसार, **"आय का उपभोग की तुलना में आधिक्य बचत कहलाता है।"** जब बचत को पूंजीगत पदार्थों जैसे–यंत्रों, मशीनों, औजारों, सिंचाई सुविधाओं, यातायात निर्माण आदि पर व्यय किया जाता है तो उसे निवेश कहा जाता है। निवेश से पूंजी निर्माण होता है। देश के आर्थिक विकास हेतु पूंजी निर्माण दर में वृद्धि आवश्यक है। पूंजी निर्माण से ही उत्पादन, रोजगार, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भारत में बचत के स्रोत (Sources of Savings in India)

बचत का अनुमान लगाने के लिए अर्थव्यवस्था को तीन क्षेत्रों में बांटा जा सकता है–

1. परिवार क्षेत्र (Household Sector) : इस क्षेत्र में ऐसी सभी उत्पादक आर्थिक इकाईयां सम्मिलित की जाती हैं जो वैयक्तिक, साझेदारी अथवा अनिगमित व्यापार के आधार पर चलायी जाती है। इनमें परिवार, बिना लाभ के काम करने वाली संस्थाओं जैसे–कॉलेज, अस्पताल आदि तथा गैर कम्पनी व्यावसायिक इकाईयों को सम्मिलित किया जाता है। भारत की कुल बचतों में परिवार क्षेत्र की बचत का हिस्सा लगभग 70% है। वर्ष 2008–09 में परिवार क्षेत्र की कुल बचतें चालू कीमतों पर 1261332 करोड़ रुपए थी।

2. निजी निगमित निगम क्षेत्र (Private Corporate Sector) : इस क्षेत्र में संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियां सम्मिलित की जाती हैं। इनमें निजी निगमित उद्यम क्षेत्र की कम्पनियों से प्राप्त होने वाली बचतें शामिल की जाती हैं। ये कम्पनियां अपने लाभ के जिस हिस्से का हिस्सेदारों में बंटवारा नहीं करती है, वह हिस्सा इनकी बचत कहलाता है। इस क्षेत्र की बचतों का कुल बचतों में भाग 26% लगभग है। 2008–09 में निजी निगमित क्षेत्र की बचतें चालू कीमतों पर 470256 करोड़ रुपए थी।

3. सरकारी क्षेत्र (Public Sector) : इस क्षेत्र में सरकार के स्वामित्व, प्रबन्ध एवं नियंत्रण में चलने वाले उपक्रम शामिल किए जाते हैं। सरकारी विभागों एवं निगमों जैसे–रेलवे, डाक–तार विभाग आदि की बचतें शामिल की जाती हैं। 2008–09 में सरकारी क्षेत्र की बचतें 79997 करोड़ रुपए थी।

तालिका–5

चालू कीमतों पर सकल घरेलू बचत
(Gross Domestic Savings at Current Prices)

वर्ष	परिवार क्षेत्र की बचतें	निजी निगम क्षेत्र की बचतें	सरकारी क्षेत्र की बचतें	सकल घरेलू बचतें	सकल घरेलू बचतें (सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में)
1950-51	612	93	182	887	8.9
1960-61	1254	281	454	1989	11.6
1970-71	4634	672	1343	6649	14.6
1980-81	19868	2339	4929	27136	18.9
1990-91	109897	15164	6279	131340	23.1
2000-01	442136	90143	(-)40194	492085	23.4
2007-08	1120221	431588	249660	1801469	36.4
2008-09	1261332	470256	79997	1811585	32.5

(Source: Economic Survey, 2009-10)

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1950–51 में बचत की दर घरेलू उत्पाद का केवल 8.9% थी जो वर्ष 2008–09 में बढ़कर घरेलू उत्पाद का 32.5% हो गयी। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कुल घरेलू बचत में सबसे अधिक भाग परिवार क्षेत्र का है। धीरे–धीरे शेष दो क्षेत्र निजी निगमित क्षेत्र एवं सरकारी क्षेत्र के भी बचतों में योगदान में वृद्धि हुई है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भारत में निवेश प्रवृत्तियाँ
(Trends in Investment in India)

बचत का वह भाग जो नई मशीनों, यंत्रों, कारखानों, सड़कों, बिजली, सिंचाई सुविधाओं, यातायात, निर्माण आदि पूंजीगत पदार्थों पर खर्च करता है तो उस खर्च को निवेश कहा जाता है। शुद्ध निवेश के फलस्वरूप पूंजी निर्माण होता है।

1. सकल पूंजी निर्माण (Gross Capital Formation)

सकल पूंजी निर्माण में दो मदें सम्मिलित हैं–

(i) सकल स्थायी पूंजी निर्माण

(ii) स्टॉक में वृद्धि।

(i) सकल स्थायी पूंजी निर्माण : इसके अन्तर्गत निर्माण कार्य (जैसे भवन, भूमि सुधार, बागानों का विकास आदि), मशीनरी (जैसे यातायात के उपकरण, मशीनरी तथा अन्य उपकरण आदि), पशुधन (जैसे प्रजनन पशु, भार उठाने वाले पशु, दुधारू पशु और पशुधन) आदि पर किया गया निवेश शामिल किया जाता है।

(ii) स्टॉक में वृद्धि : इसके अन्तर्गत व्यापारियों, उत्पादकों एवं सरकार के पास रखे हुए स्टॉक को शामिल किया जाता है। जैसे कच्चा माल का स्टॉक, निर्माणाधीन स्टॉक, तैयार माल का स्टॉक एवं अन्य स्टॉक को शामिल किया जाता है।

2. शुद्ध पूंजी निर्माण (Net Capital formation) : शुद्ध पूंजी निर्माण अर्थव्यवस्था की उत्पादक सम्पत्तियों में वास्तविक वृद्धि को दर्शाता है। सकल पूंजी निर्माण में से ह्रास एवं अप्रचलन को घटाकर शुद्ध पूंजी निर्माण को जाना जा सकता है। यदि सकल पूंजी निर्माण ह्रास एवं अप्रचलन से अधिक है तो शुद्ध पूंजी निर्माण में वृद्धि होगी।

भारत में सकल पूंजी निर्माण (Gross Capital Formation in India) :

भारतीय योजना आयोग के अनुसार, "ऊंची उत्पादकता तथा आय और रोजगार के बढ़ते हुए स्तर की वास्तविक कुंजी पूंजी निर्माण की बढ़ती हुई दर है।" अतः पूंजी निर्माण आर्थिक विकास का निर्धारक तत्त्व है। भारत में पूंजी निर्माण में काफी वृद्धि हुई है। वर्ष 1950–51 में चालू कीमतों पर सकल घरेलू पूंजी निर्माण 1409 करोड़ रुपए थी जो बढ़कर 2008–09 में 1944328 करोड़ रुपए हो गयी। वर्ष 1950–51 में सकल स्थिर पूंजी का कुल घरेलू सकल उत्पाद में भाग 11.9% था जो बढ़कर 2008–09 में 33% हो गया। इसी प्रकार स्टॉक में परिवर्तन का कुल घरेलू सकल उत्पाद में भाग 1950–51 में 0.6% था जो 2007–08 में 3.5% एवं 2008–09 में 1.3% हो गया।

पूंजी निर्माण की दर (Rate of Capital Formation) :

पूंजी निर्माण की दर का अर्थ कुल घरेलू उत्पाद में से कितने प्रतिशत वर्ष में निवेश किया जाता है, वह पूंजी निर्माण की दर कहलाती है। पूंजी निर्माण की प्रतिशत दर, कुल पूंजी निर्माण को कुल घरेलू उत्पाद से भाग करके ज्ञात की जा सकती है।

उत्पादन में वृद्धि की ऊंची दर के लिए पूंजी निर्माण की ऊंची दर आवश्यक है। आर्थिक विकास की वृद्धि दर को प्रभावित करने वाले तत्त्वों में से सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व पूंजी निर्माण की दर है। वर्ष 1950–51 में भारत में पूंजी निर्माण की दर 8.7% थी जो कि 2009–09 में बढ़कर लगभग 34.9% हो गयी। 2008 में विकासशील देशों में चीन, भारत में पूंजी निर्माण की दर विकसित देशों जैसे यू.के., यू.एस.ए., जापान आदि की तुलना में अधिक थी।

भारत में निवेश के मुख्य स्रोत (Main Sources of Investment in India) :

भारत में निवेश के मुख्य दो स्रोत हैं–

1. घरेलू साधन 2. विदेशी साधन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. घरेलू साधन : घरेलू साधन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत घरेलू बचत का है। घरेलू बचत में परिवार क्षेत्र, निजी निगमित क्षेत्र एवं सरकारी अथवा सार्वजनिक क्षेत्र की बचतें आती हैं।

2. विदेशी साधन : निवेश के विदेशी साधनों में शुद्ध विदेशी दायित्व में से शुद्ध विदेशी सम्पत्तियों को घटाकर शुद्ध विदेशी साधन की गणना की जा सकती है।

भारत में बचत और निवेश को प्रभावित करने वाले तत्त्व

(Factors Affecting Saving and Investment in India)

1. ब्याज दर : ब्याज दर पर बचत एवं निवेश की मात्रा निर्भर करती है। यदि ब्याज दर अधिक है तो लोग अधिक बचत करेंगे किन्तु निवेश कम करेंगे क्योंकि अधिक ब्याज पर ऋण लेना कोई नहीं चाहेगा।

2. बैंकिंग सुविधाएं : बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार जितना अधिक होगा बचतों एवं निवेश को उतना ही अधिक प्रोत्साहन मिलेगा।

3. सरकारी नीतियां : सरकार द्वारा विभिन्न नीतियों जैसे–राजकोषीय, मौद्रिक, औद्योगिक, लाइसेंसिंग, विदेशी व्यापार आदि को उदार बनाते हुए इनमें रियायत दी जाय तो निवेश को प्रोत्साहन मिलता है।

4. आधारभूत सुविधाओं पर व्यय : अच्छी आधारभूत सुविधाओं के विस्तार से अच्छा निवेश का वातावरण बनता है। आधारभूत सुविधाओं के विस्तार से रोजगार, आय एवं बचत में वृद्धि होती है।

5. तकनीकी विकास एवं अनुसंधान : तकनीकी विकास, नवाचार एवं अनुसंधान से पूंजी निर्माण को बढ़ावा मिलता है। तकनीकी विकास से उत्पादन लागत में कमी आती है। फलस्वरूप लाभों में वृद्धि होती है। लाभ के आकर्षण के कारण निवेश को बढ़ावा मिलता है।

6. कर बचत प्रेरणा : सरकार द्वारा बचत पर कर–छूटों की घोषणा के कारण लोग कर कम करने के लिए बचत करते हैं एवं सरकारी नीतियों के तहत कर–छूट वाले प्रतिभूतियों में निवेश करते हैं। इससे बचत एवं निवेश दोनों प्रोत्साहित होते हैं।

प्रश्न

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय आय से आप क्या समझते हैं?
2. प्रति व्यक्ति आय क्या है?
3. राष्ट्रीय आय की गणना में उत्पादन विधि को समझाएं।
4. राष्ट्रीय आय गणना की आय विधि को समझाएं।
5. राष्ट्रीय आय गणना में आने वाली किन्हीं चार कठिनाइयों का उल्लेख करें।
6. भारत में निवेश को प्रभावित करने वाले किन्हीं चार तत्त्वों का उल्लेख करें।
7. सकल स्थायी पूंजी निर्माण में क्या–क्या शामिल होते हैं?
8. बचत किसे कहते हैं?
9. परिवार क्षेत्र में बचत की प्रवृत्ति को लिखें।

विस्तृत उत्तरात्मक प्रश्न

10. राष्ट्रीय आय से आप क्या समझते हैं? इसकी गणना किस प्रकार की जाती हैं?
11. भारत में राष्ट्रीय आय की प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए राष्ट्रीय आय में कम दर से वृद्धि के कारणों को लिखें।
12. बचत से आप क्या समझते हैं? भारत में बचत के विभिन्न स्रोतों का उल्लेख करें।
13. भारत में निवेश की प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए निवेश के विभिन्न स्रोतों का वर्णन करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यापार संतुलन और भुगतान संतुलन

(Balance of Trade and Balance of Payment)

व्यापार संतुलन का अर्थ : एक वर्ष विशेष में एक देश द्वारा विभिन्न देशों को किए गए कुल निर्यातों के मूल्य के कुल योग में से उस देश द्वारा अन्य देशों से किए गए आयातों के मूल्य के कुल योग को घटा दें तो जो अन्तर आता है वह व्यापार संतुलन कहलाता है।

व्यापार संतुलन = कुल निर्यात मूल्य–कुल आयात मूल्य

$$BT = (X - M)$$

प्रो. बेन्हम (Prof. Benham) के अनुसार, ''एक निश्चित अवधि में किसी देश के निर्यातों के मूल्य एवं आयातों के मूल्य के सम्बन्ध को ही व्यापार संतुलन कहते हैं।''

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यापार संतुलन एक निश्चित अवधि में दृष्य आयातों एवं दृष्य निर्यातों के मूल्य का अन्तर है। व्यापार संतुलन की गणना करने के लिए इसमें दृष्य आयात–निर्यात मदों को ही शामिल किया जाता है और वस्तुओं का बन्दरगाह पर रखे रजिस्टर में लेखा किया जाता है। इस प्रकार व्यापार संतुलन की गणना के लिए एक वर्ष में विभिन्न बन्दरगाहों से किए गए कुल निर्यात एवं कुल आयात के मूल्यों का अन्तर निकाल लिया जाता है।

व्यापार संतुलन का स्वरूप (Forms of Balance of Trade)

व्यापार संतुलन तीन प्रकार का हो सकता है–

1. अनुकूल व्यापार संतुलन (Favourable Balance of Trade) : जब किसी देश के कुल निर्यातों का मूल्य उस देश के कुल आयातों के मूल्य से अधिक होता है तो व्यापार संतुलन अनुकूल कहा जाता है।

2. प्रतिकूल व्यापार संतुलन (Unfavourable Balance of Trade) : जब किसी देश के कुल निर्यातों का मूल्य उस देश के कुल आयातों के मूल्य से कम होता है तो व्यापार संतुलन प्रतिकूल कहलाता है।

3. साम्य व्यापार संतुलन (Equilibrium Balance of Trade) : जब किसी देश के कुल निर्यातों का मूल्य उस देश के कुल आयातों के मूल्य के बराबर होता है तो साम्य व्यापार संतुलन कहलाता है।

भारत में व्यापार संतुलन की प्रवृत्ति (Trends in Balance of Trade in India)

तालिका–1

व्यापार संतुलन (करोड़ रुपए में)

वर्ष	व्यापार संतुलन	वर्ष	व्यापार संतुलन
1990–91	(-) 10635	2005–06	(-) 203991
2000–01	(-) 27032	2006–07	(-) 268727
2003–04	(-) 65741	2007–08	(-) 356448
2004–05	(-) 125725	2008–09	(-) 533680

(Source: Economic Survey 2009-10)

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत का व्यापार संतुलन लगातार प्रतिकूल रहा है। भारत का आयात निर्यात से अधिक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भुगतान संतुलन

(Balance of Payment)

भुगतान संतुन का अर्थ :

प्रत्येक देश को विश्व के अन्य देशों से आर्थिक लेन–देन करने पड़ते हैं जिनके फलस्वरूप उस देश को अन्य देशों को कुछ भुगतान करने पड़ते हैं एवं कुछ प्राप्तियां भी होती हैं। भुगतान संतुलन इन्हीं प्राप्तियों एवं भुगतान का विवरण है।

डेलवर्ट ए. स्नाइडर के अनुसार, ''यह किसी देश और बाकी विश्व के निवासियों, व्यापारियों, सरकार तथा अन्य संस्थाओं के बीच किसी समय विशेष में किए गए समस्त विनिमय, वस्तुओं के हस्तान्तरण एवं सेवाओं के मौद्रिक मूल्य और ऋण या स्वामित्व को उचित वर्गीकरण के साथ प्रदर्शित करता हुआ विवरण है।''

बेन्हम (Benham) के अनुसार, ''एक देश का भुगतान संतुलन एक निश्चित अवधि के भीतर उसका बाकी विश्व के साथ मौद्रिक सौदों का लेखा जोखा होता है।

चार्ल्स पी. किण्डलवर्गर (Charles P. Kindalberger) के अनुसार, ''किसी देश का भुगतान संतुलन उन समस्त आर्थिक सौदों का होता है जो सूचनादाता देश के नागरिकों एवं विदेशी नागरिकों के मध्य होते हैं।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि भुगतान संतुलन एक विवरण है जो एक वर्ष की अवधि में एक देश के कुल (दृष्य एवं अदृष्य) आयातों एवं निर्यातों के मूल्य को बताता है। यह किसी देश का विश्व के अन्य देशों के साथ होने वाले सम्पूर्ण आदान–प्रदान का विस्तृत लेखा–जोखा है। इसके दो पक्ष होते हैं–भुगतान एवं प्राप्तियां। भुगतान संतुलन इन दोनों पक्षों के अन्तर को बताता है। भुगतान संतुलन में आयात–निर्यात की दृष्य एवं अदृष्य सभी मदों को शामिल किया जाता है। दृष्य मदें वे होती हैं जिनके आयात–निर्यात का ब्यौरा बन्दरगाह पर रखे रजिस्टर में किया जाता है। अदृष्य मदें वे होती हैं जिनके आयात–निर्यात का लेखा–जोखा बन्दरगाह पर रखे रजिस्टर में नहीं किया जाता है। अदृष्य मदों में मुख्य रूप से पूंजी का आदान–प्रदान, ब्याज की प्राप्ति एवं भुगतान, बैंक, बीमा एवं जहाजरानी सेवाएं, पर्यटक सेवाएं तथा विशेषज्ञों की सेवाएं आदि आती हैं। वास्तव में भुगतान संतुलन सदैव संतुलित होता है क्योंकि अंत में स्वर्ण के आयात–निर्यात द्वारा इसे संतुलित करना होता है।

भुगतान संतुलन की विशेषताएं (Features of Balance of Payments)

1. **लेखा रिकॉर्ड :** भुगतान संतुलन क्रमबद्ध लेखा रिकॉर्ड के रूप में होता है। इसके दो पक्ष होते हैं–एक पक्ष में विदेशों से होने वाली प्राप्तियां और दूसरे पक्ष में विदेशों को किए जाने वाले भुगतान का लेखा रखा जाता है।
2. **आर्थिक सौदों का लेखा–जोखा :** भुगतान संतुलन में केवल उन आर्थिक सौदों का लेखा–जोखा रखा जाता है जिनका मौद्रिक मूल्य होता है।
3. **निश्चित अवधि :** भुगतान संतुलन प्रायः एक निश्चित अवधि के लिए ज्ञात किया जाता है। यह अवधि प्रायः एक वर्ष की होती है।
4. **अन्तर समायोजन :** भुगतान संतुलन में जब कुल प्राप्तियों और कुल भुगतानों में अंतर हो जाता है तो इन्हें पूंजी अन्तरण के माध्यम से समायोजित किया जाता है।
5. **प्राप्तियों एवं भुगतान में सम्बन्ध :** भुगतान संतुलन में एक देश के कुल विदेशी विनिमय प्राप्तियों एवं उनके भुगतानों के मध्य सम्बन्ध को दर्शाया जाता है। यह अनुकूल एवं प्रतिकूल हो सकता है।
6. **दृष्य एवं अदृष्य दोनों मदें :** भुगतान संतुलन के अन्तर्गत दृष्य एवं अदृष्य दोनों मदों के आयात–निर्यात को सम्मिलित किया जाता है।
7. **सभी सरकारी और गैर सरकारी मदें :** भुगतान संतुलन में सभी सरकारी एवं गैर सरकारी मदों सम्बन्धी भुगतान एवं प्राप्तियों को सम्मिलित किया जाता है।

भुगतान संतुलन की मदें (Items of Balance of Payments)

भुगतान संतुलन की विभिन्न मदों को निम्नांकित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है :

1. चालू खाता (Current Account) : चालू खाते की मदों में आयात–निर्यात की दृष्य एवं अदृष्य दोनों मदों को शामिल किया जाता है। इसमें सम्मिलित सभी मदों का वास्तविक लेन–देन किया जाता है। चालू खाते का भुगतान संतुलन संतुलित अथवा असंतुलित हो सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. पूंजी खाता (Capital Account) : पूंजी खाता के मुख्यतः विदेशी–निवेश एवं विदेशी ऋणों को शामिल किया जाता है। सभी प्रकार की अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीगत अन्तरणों, विदेशी ऋण, विदेशी विनियोग, ब्याज तथा अनुदान आदि को पूंजी खाते में सम्मिलित किया जाता है। पूंजी खाता वित्तीय लेन–देन से सम्बन्धित होता है।

भुगतान संतुलन के स्वरूप (Forms of Balance of Payments)

भुगतान संतुलन असंतुलन की अवस्था में अनुकूल अथवा प्रतिकूल हो सकता है।

1. अनुकूल भुगतान संतुलन : जब किसी देश की वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात और पूंजीगत प्राप्तियां उस देश की वस्तुओं तथा सेवाओं के आयात एवं पूंजीगत भुगतानों से अधिक होते हैं तो इसे अनुकूल भुगतान संतुलन कहा जाता है। यदि भुगतान संतुलन अनुकूल होता है तो उस देश को विदेशी मुद्रा/स्वर्ण की प्राप्ति होती है।

2. प्रतिकूल भुगतान संतुलन : जब किसी देश की वस्तुओं एवं सेवाओं के निर्यात और पूंजीगत प्राप्तियां उस देश की वस्तुओं एवं सेवाओं के आयात तथा पूंजीगत भुगतानों से कम होते हैं तो इसे प्रतिकूल भुगतान संतुलन कहा जाता है। भुगतान असंतुलन की देनदारी को पूरा करने के लिए विदेशों को विदेशी मुद्रा/स्वर्ण देना पड़ता है।

3. संतुलन भुगतान संतुलन : जब किसी देश की वस्तुओं एवं सेवाओं के निर्यात और पूंजीगत प्राप्तियां एव देश की वस्तुओं और सेवाओं के आयात एवं पूंजीगत भुगतानों के बराबर होती है तो भुगतान संतुलन संतुलित होता है।

भारत में भुगतान संतुलन की प्रवृत्तियां
(Trends in Balance of Payment in India)

तालिका नं. 2

कुल भुगतान संतुलन की स्थिति (करोड़ रुपए में)

वर्ष	भुगतान शेष चालू खाता	भुगतान शेष पूंजी खाता	कुल भुगतान शेष
1990-91	- 17366	+ 12895	- 4471
2000-01	- 11431	+ 39093	+ 27662
2003-04	+ 47952	+ 96042	+ 143994
2004-05	- 12174	+ 128081	+ 115907
2005-06	- 43737	+ 109633	+ 65896
2006-07	- 45343	+ 208977	+ 163634
2007-08	- 68914	+ 438603	+ 369689
2008-09	- 131614	+ 34499	- 97115

(Source: Economic Survey 2009-10)

1991 में आर्थिक सुधारों एवं उदारवादी आर्थिक नीति के द्वारा विदेशी विनियोग को आकर्षित किया गया। फलस्वरूप विदेशों से पूंजी–प्राप्तियों में वृद्धि हुई। इससे भुगतान संतुलन में काफी सुधार आया। भारत के विदेशी कोषों में वृद्धि हुई है। 12 मार्च 2010 को भारत के पास US $ 279.71 बिलियन विदेशी मुद्रा कोष थे। पिछले कई वर्षों से भारत का भुगतान संतुलन पक्ष में रहा है। 2008–09 में भुगतान संतुलन प्रतिकूल रहा। इसका कारण भारत में विदेशी निवेश के अन्तर्प्रवाह में धीमी वृद्धि एवं निर्यातों की वृद्धि दर में कमी थी।

प्रतिकूल भुगतान संतुलन के कारण

(Causes of Unfavourable Balance of Payments)

भारत में प्रतिकूल भुगतान संतुलन के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. औद्योगिकीकरण के लिए मशीनों का आयात : आजादी के बाद पुराने मशीनों को नयी मशीनों में बदलने के लिए मशीनों का आयात करना पड़ा जिनका मूल्य काफी था। साथ ही भारत में औद्योगिकीकरण के लिए मशीनों का काफी मात्रा में आयात किया गया जिसके कारण भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो गया।

2. निर्यात की कम वृद्धि दर : भारत में निर्यात की वृद्धि दर आयात की वृद्धि दर से कम है। हाल के वर्षों में निर्यात के दर में वृद्धि हुई है फिर भी यह आयात की वृद्धि दर से कम है। 2008–09 में आयातों की वृद्धि दर में कमी आयी। 2009–10 में आयात एवं निर्यात दोनों की वृद्धि दरें ऋणात्मक रहीं। 2009–10 में निर्यातों की वृद्धि दर (-) 20.3% थी तथा आयातों की वृद्धि दर (-) 23.6% रही।

3. रक्षा सामग्रियों का आयात : भारत को अपनी सुरक्षा की दृष्टि से, युद्ध में रक्षा की दृष्टि से युद्ध आयुधों का आयात बड़ी मात्रा में करना पड़ता है। जिसने भुगतान संतुलन को असंतुलित कर दिया है।

4. उपभोक्ता वस्तुओं की मांग में वृद्धि : जनसंख्या बढ़ने के कारण देश के अन्दर उपभोक्ता वस्तुओं की घरेलू मांग काफी बढ़ गयी है। चाय, तिलहन, कच्चा लोहा जैसी सामग्री जो पहले काफी मात्रा में निर्यात की जाती थी, अब घरेलू मांग बढ़ने के कारण इनका निर्यात कम हो गया है।

5. विदेशी प्रतियोगिता : भारत द्वारा निर्यात की जाने वाली सामग्रियों को अब अन्य देशों के निर्यात सामग्रियों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ रही है। जैसे–चाय, पटसन, कपड़ों में श्रीलंका, बांग्लादेश, इण्डोनेशिया, चीन, कोरिया जैसे देशों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ रही है।

6. बड़ी मात्रा में ब्याज का भुगतान : भारत ने विदेशों से 2008–09 तक लगभग 1142618 करोड़ रुपए ऋण लिए हैं जिनका ब्याज लगभग 50275 करोड़ रुपए भुगतान विदेशों को करना पड़ता है। बढ़ते ब्याज के कारण भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो गया है।

7. पेट्रोलियम की कीमतों में वृद्धि : भारत को बड़ी मात्रा में कच्चा तेल आयात करना पड़ता है। पेट्रोलियम की बढ़ती मांग एवं बढ़ते मूल्य के कारण तेल का आयात मूल्य बहुत बढ़ गया है। 2008–09 में पेट्रोलियम उत्पादों का आयात बढ़कर 419946 करोड़ रुपए हो गया। कुल निर्यात का 49.95% भाग पेट्रोलियम उत्पादों पर व्यय किया जाता है।

8. अन्य कारण :

अ. दूतावासों पर अत्यधिक व्यय

ब. खाड़ी युद्ध के कारण विदेशी मुद्रा की आय में कमी

स. सोवियत संघ के विघटन के कारण निर्यातों में कमी

द. औद्योगिक उत्पादनों की निम्न क्वालिटी आदि।

भुगतान संतुलन के असंतुलन को सुधारने के उपाय

(Measures to Correcting Disequilibrium in Balance of Payment)

किसी भी देश के भुगतान संतुलन में प्रतिकूल संतुलन का मुख्य कारण निर्यात की अपेक्षा आयात का अधिक होना है। भुगतान संतुलन में निरन्तर प्रतिकूलता उस देश की अर्थव्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं है। भुगतान संतुलन की असाम्यता को ठीक करने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाए जाने चाहिए।

1. निर्यात को प्रोत्साहन : प्रतिकूल भुगतान संतुलन को संतुलित करने के लिए निर्यात को बढ़ाना आवश्यक है। निर्यात से विदेशी विनिमय की प्राप्ति होती है। निर्यात में वृद्धि के लिए उत्पादन लागतों में कमी करना, माल की गुणवत्ता में सुधार करना, निर्यात करों में कमी करना, निर्यात उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करना आदि आवश्यक है। निर्यात को बढ़ावा देने के लिए विदेशी बाजारों में विज्ञापन, प्रदर्शनियां आदि का आयोजन भी किया जाना चाहिए।

2. आयात में कमी करना : प्रतिकूल भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिए आयात में कमी करना भी आवश्यक है। आयात में कमी हेतु अनावश्यक एवं विलासितापूर्ण वस्तुओं के आयात पर नियंत्रण एवं प्रतिबंध लगाना, आयात करों में वृद्धि करना, आयात अभ्यंश प्रणाली लागू करना, आयात साख सुविधाओं में कमी करना, स्वदेशी भावना जाग्रत करना चाहिए। आयात में कमी के फलस्वरूप देनदारियां कम हो जाती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. आयात प्रतिस्थापन : भुगतान संतुलन में प्रतिकूलता को कम करने के लिए आयात प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। आयात प्रतिस्थापन वाली वस्तुओं के उद्योगों की देश में स्थापना करके आयातों में कमी की जा सकती है। वर्तमान में कई ऐसे वस्तुएं जो पहले आयात की जाती थीं अब उनका उत्पादन देश में ही होता है। जैसे–साईकिलें, सिलाई मशीन, बिजली पंखे, एल्युमिनियम के तार आदि।

4. उत्पादन में वृद्धि : प्रतिकूल भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिए आयातों में कमी एवं निर्यातों में वृद्धि आवश्यक है। इसके लिए भारत से निर्यात किए जाने वाली महत्त्वपूर्ण सामग्री जैसे कृषि उत्पादन, खानों, जूट के सामान, चाय, कॉफी, मशीनें, बिजली के पंखे, होजियरी, सिलेसिलाए कपड़े, साइकिलें, हस्तशिल्प, चमड़े का सामान, जवाहरात आदि के उत्पादन में वृद्धि की जानी चाहिए। देश में स्थित उद्योगों की क्षमता का पूर्ण उपयोग किया जाना चाहिए।

5. विदेशी पूंजी निवेश को प्रोत्साहन : प्रतिकूल भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिए विदेशी उद्योग पतियों एवं बहुराष्ट्रीय निगमों को भारत में पूंजी लगाने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इसके लिए देश में विदेशी पूंजी निवेश की प्रक्रिया को सरल बनाने के साथ–साथ विदेशी निवेशकों को रियायतें भी देनी चाहिए। विदेशी पूंजी विनियोग से देश को विदेशी मुद्रा प्राप्त होगी।

6. भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन : मुद्रा के अवमूल्यन के कारण देशी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा के मूल्य से कम हो जाता है। इससे देश में उत्पादित वस्तुएं विदेशों में सस्ती हो जाती हैं और विदेशी वस्तुएं महंगी हो जाती है। अतः निर्यात में वृद्धि होती है और आयात में कमी आती है। इसके फलस्वरूप भुगतान संतुलन साम्यता की स्थिति में आने लगती है।

7. पर्यटन उद्योग का विकास : देश में पर्यटन उद्योग के विकास के लिए विभिन्न योजनाएं बनानी चाहिए। पर्यटकों के आगमन से विदेशी मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है।

8. तस्करी पर रोक : देश में अवैध तरीके से होने वाले आयातों एवं निर्यातों पर रोक लगानी चाहिए। तस्करी पर रोक लगाने से विदेशी मुद्रा की प्राप्तियों में वृद्धि होगी और सरकार की आय में भी वृद्धि होगी।

9. व्यापार समझौते : भारत को विदेशी व्यापार बढ़ाने के लिए विभिन्न देशों से व्यापारिक समझौते करते रहने चाहिए। 1994 में भारत ने 124 देशों के साथ GATT समझौते पर हस्ताक्षर किए। भारत विश्व व्यापार संगठन का सदस्य होने के कारण इसके 152 सदस्य देशों के साथ भारत के व्यावसायिक सम्बन्ध हो गए। भारत ने SAARC देशों के साथ भी व्यापारिक समझौते किए हैं। भारत ने बांग्लादेश, जर्मनी, बुल्गारिया, फ्रांस, मिश्र, चेकोस्लोवाकिया, इराक, ईरान, कोरिया आदि देशों से भी व्यापारिक समझौते किए हैं।

10. विनिमय नियंत्रण : विनिमय नियंत्रणों को कठोर बनाकर विदेशी मुद्रा की प्राप्तियों एवं भुगतानों पर कड़ा नियंत्रण करके इसकी असाम्यता को दूर किया जा सकता है। विनिमय नियंत्रण में आयात को निर्यात की आय तक ही सीमित रखा जाता है एवं विदेशी मुद्राओं को अति आवश्यक मदों में ही खर्च किया जाता है।

उपरोक्त उपायों से भुगतान संतुलन के असंतुलन को दूर किया जा सकता है।

प्रश्न

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. व्यापार संतुलन का अर्थ लिखें।
2. भुगतान संतुलन की विशेषताओं को लिखें।
3. व्यापार संतुलन के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख करें।
4. भुगतान संतुलन की मदों को बताएं।
5. भुगतान संतुलन के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख करें।

वृहत उत्तरात्मक प्रश्न

1. भुगतान संतुलन क्या है? इसकी विशेषताओं का वर्णन करें।
2. भुगतान संतुलन का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रतिकूल भुगतान संतुलन के कारणों को लिखें।
3. भारत में प्रतिकूल भुगतान संतुलन के कारणों को लिखें। इसमें सुधार के विभिन्न उपायों का उल्लेख करें।
4. भुगतान संतुलन क्या है? इसके विभिन्न स्वरूपों का वर्णन करते हुए भारत में भुगतान संतुलन की प्रवृत्तियों का उल्लेख करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मुद्रा, वित्त एवं कीमतों की प्रवृत्तियां

(Money, Finance and Prices)

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा एक जटिल घटक है जिसमें चलन इकाई (विधि ग्राह्य मुद्रा) के अतिरिक्त बैंकों में मांग जमा (Demand Deposit), सावधि जमा (Time Deposit) तथा अन्य वित्तीय परिसम्पत्तियां (Other Financial Assets) जैसे –राजकीय प्रलेख (State Pronotes), प्रतिभूतियां (Securities) आदि सम्मिलित हैं।

वॉकर (Walker) के अनुसार, **''मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करती है।''**

क्राउथर (Crowther) के अनुसार, **''मुद्रा से अभिप्राय उस वस्तु से है जिसे सामान्य रूप में लेन–देन के माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाता है और इसके साथ–साथ यह मूल्य को मापने व भण्डारण का कार्य भी करती है।''**

भारत में मुद्रापूर्ति (Money Supply in India)

भारतीय रिजर्व बैंक के अनुसार, **''मुद्रा में जनता के पास करेंसी, बैंकों की जमा, सावधि जमा तथा डाकखानों की जमा को शामिल किया जाता है।''**

सन् 1977 से रिजर्व बैंक ने मुद्रा पूर्ति की चार धारणाएं प्रतिपादित की है, जो निम्नांकित हैं:

1. M_1 = इसे संकीर्ण मुद्रा भी कहते हैं। इसमें जनता के पास करेंसी, बैंकों की मांग जमा एवं रिजर्व बैंक के पास अन्य जमा शामिल हैं। फरवरी 2010 में भारत में M_1 1388611 करोड़ रुपए थी।

M_1 = जनता के पास करेंसी + बैंकों की मांग जमा + रिजर्व बैंक के पास अन्य जमा

2. M_2 = इसमें M1 के साथ–साथ डाकखानों के बचत जमा को भी शामिल कर लिया जाता है। फरवरी 2010 में भारत में M_2 1393652 करोड़ रुपए थी।

$M_2 = M_1$ + डाकखानों के बचत खातों में जमा

3. M_3 = इसमें M_1 के साथ–साथ बैंकों की सावधि जमा को भी शामिल किया जाता है। फरवरी 2010 में भारत में M_3 5416963 करोड़ रुपए थी।

$M_2 = M_1$ + बैंकों की सावधि जमा

4. M_4 = इसमें M_3 के साथ–साथ डाकखानों की कुल जमा शामिल होती है। फरवरी 2010 में भारत में M_4 5442932 करोड़ रुपए थी।

$M_4 = M_3$ डाकखानों की कुल जमा

भारत में मुद्रा पूर्ति में निम्नलिखित तत्त्व शामिल किए जाते हैं :

1. जनता के पास करेंसी नोट एवं सिक्के
2. अनुसूचित एवं गैर–अनुसूचित बैंकों और राज्य सहकारी बैंकों की मांग जमा एवं समय जमा
3. रिजर्व बैंक के पास जमा खातों की राशि
4. डाकखानों के बचत खातों की कुल जमा।

उपरोक्त धारणाओं में M_1 और M_3 अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मुद्रा पूर्ति की चारों धारणाओं का विश्लेषण निम्नांकित हैं–

1. M_1 धारणा : इसे मुद्रा की संकुचित धारणा कहते हैं। भारत जैसे देश में M_1 की धारणा बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें निम्नलिखित तत्त्व शामिल होते हैं–

(1) जनता के पास करेंसी : इसमें 1. संचलन में नोट 2. रुपयों के सिक्के 3. छोटे सिक्के जोड़े जाते हैं। इनके जोड़ में से बैंकों के पास नगदी को घटा दिया जाता है।

सन् 1970–71 में भारत में संचलन में नोट 4169 करोड़ रुपए, रुपयों के सिक्के 247 करोड़ रुपए, छोटे सिक्के 137 करोड़ रुपए एवं बैंक के पास नगदी 186 करोड़ रुपए थे। जो फरवरी 2010 में बढ़कर क्रमशः

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

775040, 9165, 1567, 30694 हो गयी। 1971 से फरवरी 2010 तक जनता के पास मुद्रा की पूर्ति में 173 गुणा वृद्धि हुई है।

(2) बैंकों में मांग जमा : बैंकों में मांग जमा में व्यापारिक एवं सहकारी दोनों बैंकों की मांग जमा आती है। बैंकों में मांग जमा 1970–71 में 2910 करोड़ रुपए थी जो फरवरी 2010 में बढ़कर 629841 करोड़ रुपए हो गयी। मुद्रा की कुल पूर्ति में बैंक जमा का अनुपात बढ़ता जा रहा है।

2. M_2 धारणा : इसमें M_1 के अतिरिक्त डाकखानों के जमा को भी शामिल किया जाता है।

3. M_3 धारणा : इसमें M_1 के साथ–साथ बैंकों में सावधि जमा को भी शामिल किया जाता है। यह धारणा M_1 की तुलना में कम तरल है। वर्ष 1970–71 में समय जमाएं 3637 करोड़ रुपए थी जो फरवरी 2010 तक की अवधि में बढ़कर 4028352 करोड़ रुपए हो गयी। 1970–71 में M_3 की मात्रा 10958 करोड़ रुपए थी जो फरवरी 2010 में बढ़कर 5416963 करोड़ रुपए हो गयी। इस प्रकार M_3 में 494 गुणा वृद्धि हुई है। इसका प्रमुख कारण बैंक की समय जमाओं में होने वाली वृद्धि है। इससे बैंक की उधार देने की क्षमता में भी वृद्धि हुई है। अतः मुद्रा की पूर्ति बढ़ी है।

4. M_4 धारणा : इसमें M_3 के साथ–साथ डाकखानों की कुल जमा राशि को भी शामिल कर लिया जाता है। M_4 की धारणा कम तरल होती है।

मुद्रापूर्ति की संशोधित अवधारणाएं (Revised Concept of Money Supply)

भारतीय रिजर्व बैंक के कार्यकारी समूह ने अब केवल तीन मौद्रिक समीकरण M_1, M_2 एवं M_3 को ही परिभाषित किया है। M_4 की धारणा को समाप्त कर दिया गया है। नयी अवधारणा के अनुसार,

M1 = जनता के पास करेंसी + बैंकों के पास मांग जमाएं + रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाएं

M2 (New) = M1 + बैंक के बचत जमाओं का समय दायित्व भाग + बैंकों द्वारा जारी प्रमाण–पत्र + एक साल में परिपक्व होने वाली मियादी जमाएं

M3 (New) = M2 + बैंकों के पास एक वर्ष से अधिक अवधि की मियादी जमाएं + बैंकिंग व्यवस्था की मियादी एवं मांग ऋण

साथ ही रिजर्व बैंक ने भारत में तरल संसाधनों पर एक **नयी विचारधारा** जारी की है –

(i) L1 = M3 (New) + All Deposits of Post Office Saving Banks Excluding National Saving Certificates

(ii) L2 = L1 + Term Deposits with Term Lending Institution + Term Borrowings by Financial Institutions + Certificates of Deposits Issued by Financial Institutions

(iii) L3 = L2 + Public Deposits with Non-Banking Finance Companies

भारत में मुद्रा पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्व

(Factors Affecting Money Supply in India)

1. सरकार की आवश्यकताएं : सरकार का बजट यदि घाटे का बजट है और यह घाटा आय से बहुत अधिक है तो सरकार घाटे को पूरा करने के लिए रिजर्व बैंक से ऋण लेती है। रिजर्व बैंक सरकार को ऋण देने के लिए मुद्रा की छपाई करता है। जब सरकार रिजर्व बैंक से Over Draft Facilities लेती है तब भी रिजर्व बैंक अधिक मुद्रा छापता है। इस प्रकार मुद्रा पूर्ति बढ़ जाती है।

2.बैंक की आवश्यकताएं : जब बैंक रिजर्व बैंक से अधिक ऋण की मांग करते हैं तो रिजर्व बैंक को उनकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अधिक मुद्रा की छपाई करनी पड़ती है ताकि बैंकों की ऋण की मांग को पूरा किया जा सके। इससे अर्थ व्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है।

3. ब्याज दर में परिवर्तन : ब्याज दर में परिवर्तन से मुद्रा पूर्ति में भी परिवर्तन आता है। बैंकों व डाकखानों की ब्याज दर यदि बढ़ जाती है तो इनमें जमाएं अधिक होगी। इसके विपरीत यदि ब्याज दर कम होगी तो जमाएं कम होंगी। अतः ब्याज दर में परिवर्तन मुद्रा पूर्ति में परिवर्तन करता रहता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. नकद कोष अनुपात : रिजर्व बैंक के निर्देशानुसार बैंकों को अपनी जमाओं का कुछ प्रतिशत नकद जमाओं के रूप में रखना होता है। इसे नकद–कोष अनुपात कहते हैं। नगद कोष अनुपात यदि बढ़ा दिया जाता है तो बैंकों को नगदी ज्यादा रखनी पड़ती है। इसके विपरीत नकद कोष अनुपात को हटा दिया जाता है तो बैंक ऋण अधिक दे पाएंगे और अर्थव्यवस्था में मुद्रा पूर्ति बढ़ जाएगी।

5. प्रतिभूतियों की खरीद बिक्री : यदि रिजर्व बैंक मुद्रा बाजार से प्रतिभूतियां खरीदता है तो उसके बदले में वह लोगों अथवा संस्थाओं को मुद्रा भुगतान करता है। इससे मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है। इसके विपरीत जब रिजर्व बैंक प्रतिभूतियां बेचता है तो लोगों अथवा संस्थाओं को रिजर्व बैंक को मुद्रा का भुगतान करना पड़ता है। इससे बाजार में मुद्रा पूर्ति कम हो जाती है।

6. अन्य तत्त्व :

1. रिजर्व बैंक अधित विदेशी मुद्रा को खरीदता है तो मुद्रा पूर्ति बढ़ जाती है।
2. लोगों में बैंकिंग आदतें बढ़ने से लोग बैंक में अधिक जमा रखेंगे। इससे मुद्रा पूर्ति बढ़ेगी।

भारत में वित्त की प्रवृत्तियां
(Trends of Finance in India)

किसी भी अर्थ व्यवस्था के लिए वित्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वित्त का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। भारतीय वित्त व्यवस्था में आर्थिक दृष्टि से वित्त को दो भागों में बांटा जा सकता है–

I. सार्वजनिक वित्त II. निजी वित्त

इनमें सार्वजनिक वित्त अधिक महत्त्वपूर्ण है। सार्वजनिक वित्त का अर्थ सरकार के आय–व्यय से है। सार्वजनिक वित्त में सार्वजनिक आय, सार्वजनिक व्यय के साथ–साथ सार्वजनिक ऋण, बजट, वित्तीय प्रशासन एवं राजकोषीय नीति को भी शामिल किया जाता है।

सार्वजनिक आय (Public Revenue)

सार्वजनिक आय को संकुचित एवं व्यापक दोनों दृष्टि से परिभाषित किया जा सकता है। संकुचित दृष्टि से उन प्राप्तियों को सार्वजनिक आय में सम्मिलित किया जाता है, जो सरकार को नियमित रूप से प्राप्त होती है एवं जिसे सरकार वापस नहीं लौटाती है। व्यापक दृष्टि से किसी भी स्रोत से प्राप्त आय को सार्वजनिक आय में सम्मिलित किया जाता है। इसमें ऋण एवं हीनार्थ प्रबन्धन से प्राप्त धन भी शामिल किया जाता है। सरकार को अपनी वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपनी आय प्राप्ति के साधन देश के भीतर ही ढूंढने पड़ते हैं और ये मुख्यतः व्यक्तियों के रोजगार, आय के स्तर, उद्योग तथा व्यापार की स्थिति पर निर्भर करते हैं।

सार्वजनिक आय का वर्गीकरण (Classification of Public Revenue)

भारत में सार्वजनिक आय के दो स्रोत हैं–

I. कर आय (Tax Revenue) II. गैर–कर आय (Non-Tax Revenue)

I. कर आय (Tax Revenue) :

कर राज्य को अनिवार्य रूप से चुकायी जाने वाली सामग्री है। सार्वजनिक आय का अधिकांश भाग करों के द्वारा ही प्राप्त होते हैं। प्रो. टेलर के अनुसार, ''कर सरकार को दिया गया अनिवार्य भुगतान है जो कि करदाता द्वारा बिना प्रत्यक्ष लाभ प्राप्ति की आशा के दिया जाता है।''

कर की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

(i) कर एक अनिवार्य भुगतान है।

(ii) कर सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा वसूल किया जाता है।

(iii) कर जन–कल्याण सम्बन्धी कार्यों पर व्यय किए जाते हैं।

(iv) करदाता को कर के बदले में प्रत्यक्ष लाभ मिलना आवश्यक नहीं है।

(v) करदाता को कर अदायगी में त्याग करना पड़ता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(vi) कर चुकाना एक निजी दायित्व है।

(vii) कर सार्वजनिक व्यय के लिए वित्त एकत्र करने का साधन है।

(viii) कर सरकार के निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लगाए जाते हैं।

कर दो प्रकार के होते हैं– 1. प्रत्यक्ष कर 2. अप्रत्यक्ष कर। प्रत्यक्ष कर में आयकर, मृत्युकर, सम्पत्ति कर, उपहार कर, व्ययकर आदि सम्मिलित हैं। अप्रत्यक्ष कर में बिक्री कर, उत्पादन कर आदि आते हैं।

II. गैर–कर आय (Non-Tax Revenue) :

सरकार कर के अतिरिक्त जो आय के स्रोत हैं, वे समस्त स्रोत गैर–कर आय में सम्मिलित होते हैं। सरकार के गैर–कर आय के स्रोत निम्न प्रकार हैं–

1. शुल्क (Fees) : शुल्क वह अनिवार्य भुगतान है जो किसी व्यक्ति द्वारा किसी विशेष लाभ प्राप्ति के बदले में सरकार को दिया जाता है। जैसे– स्कूल कॉलेज फीस, कोर्ट फीस, रजिस्ट्रेशन फीस आदि।

2. कीमत (Price) : सरकार द्वारा संचालित उद्योगों, व्यवसायों तथा सेवाओं के विक्रय से सरकार को प्राप्त आय को कीमत या मूल्य कहते हैं। इस श्रेणी में रेल, डाक–तार, बिजली, पानी तथा अन्य जनोपयोगी सेवाएं आती हैं।

3. दण्ड व जुर्माना (Penalties and Fines) : किसी व्यक्ति द्वारा सरकारी नियमों का उल्लंघन किया जाता है तो सरकार अपराधी से दण्ड स्वरूप धन प्राप्त करती है। इस प्रकार दण्ड व जुर्माने से भी सरकार को आय प्राप्त होती है।

4. उपहार या अनुदान (Gift & Grants) : संकट के समय सरकार को देश की जनता एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा उपहार अथवा अनुदान के रूप में धनराशि उपलब्ध करायी जाती है, वह भी सरकार के आय की स्रोत मानी जाती हैं। जैसे– बाढ़, अकाल सहायता, रक्षा कोष आदि। कई बार स्कूल, अस्पताल आदि खोलने के लिए भी उपहार राशि सरकार को दी जाती है।

5. **सार्वजनिक उपक्रम का लाभ** : सरकार द्वारा संचालित उद्योगों से सरकार को लाभ मिलता है। सार्वजनिक उपक्रम से प्राप्त लाभ भी सरकार के आय का प्रमुख स्रोत है।

6. विशेष कर (Special Taxes) : सरकार किसी विशेष क्षेत्र के लिए जब विशिष्ट सेवाएं प्रदान करती हैं तो इन सेवाओं के बदले उस क्षेत्र के लोगों से कुछ कर अथवा अंशदान प्राप्त करती है। जिसे विशेष कर कहा जाता है। ऐसे विशेष कर सरकार स्वीकृत कॉलोनियों में गटर लाईन, पानी की लाइन, परिवहन सुविधाओं आदि हेतु लगाती है।

7. सार्वजनिक ऋण (Public Debt) : जब सरकार अपने व्यय को अपनी आय से पूरी नहीं कर पाती है तब सार्वजनिक ऋण लेती है। सरकार ये ऋण जब अपने देशवासियों से प्राप्त करती है तो इसे आन्तरिक ऋण कहते हैं और जब विदेशियों से प्राप्त करती है तो इसे विदेशी ऋण कहा जाता है। हालांकि ये ऋण सरकार को लौटाने पड़ते हैं। अतः इन्हें सरकारी आय नहीं कहा जा सकता।

8. ड्यूटिज (Duties) : खासकर मादक वस्तुओं के उपभोग पर लिए गए महसूल को ड्यूटिज कहते हैं।

9. सरकारी सम्पत्ति (Government Assets) : खान, वन, भूमि आदि प्राकृतिक सम्पदाओं को ठेकों पर देकर सरकार उससे लगान या रायल्टी प्राप्त करती है। सरकारी सम्पत्ति को बेचकर भी धन प्राप्त कर सकती है।

10. पत्र मुद्रा प्रिण्ट करके : जब सरकार के व्यय प्राप्त आय से पूरे नहीं हो पाते तो सरकार नए नोट छापकर इन व्ययों को पूरा करती है।

भारत में सार्वजनिक आय की स्थिति

केन्द्र सरकार की प्राप्तियां (करोड़ रुपयों में)

मद	1990-91	2000-01	2001-02	2002-03	2003-04	2004-05 (BE)	2005-06 (BE)
राजस्व प्राप्तियां	54954	192605	201306	231748	263027	309322	351200
पूंजीगत प्राप्तियां	31971	132987	161004	182414	211228	168507	163144

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि केन्द्र सरकार की राजस्व प्राप्तियां बढ़ती जा रही हैं। राजस्व वृद्धि में कर का योगदान काफी अधिक है। दूसरी ओर पूंजीगत प्राप्तियां भी बढ़ रही हैं। पूंजी प्राप्तियों में ऋण का योगदान सबसे अधिक है।

सार्वजनिक व्यय

(Public Expenditure)

भारत सरकार प्रत्येक वित्तीय वर्ष (1 अप्रैल से 31 मार्च) के लिए लोकसभा में बजट प्रस्तुत करती है जिसमें वर्ष भर के अनुमानित आय–व्यय के सरकारी दस्तावेज रखे जाते हैं। सार्वजनिक व्यय सरकारी बजट का एक प्रमुख भाग है। सार्वजनिक व्यय मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं–

(i) राजस्व व्यय : राजस्व व्यय सरकार का स्वयं पर किया गया खर्च है। यह व्यय सरकारी कर्मचारियों, सेना व मंत्रियों के वेतन–भत्ते, पेंशन तथा सरकारी विलासिता आदि में किया जाता है।

(ii) पूंजीगत व्यय : पूंजीगत व्यय अर्थव्यवस्था के लिए साधन जुटाने में खर्च किया जाता है। इसमें बांधों, पुलों व सड़कों के निर्माण, सिंचाई व ऊर्जा परियोजनाओं व अन्य सुविधाओं पर किया गया व्यय आदि शामिल किया जाता है।

सार्वजनिक व्यय को दो अन्य प्रकार से भी दर्शाया जाता है –

(i) गैर–योजना व्यय : इसमें ब्याज भुगतान पर राजस्व एवं पूंजीगत व्यय, सम्पूर्ण रक्षा खर्च (राजस्व एवं पूंजीगत), अनुदान, डाक घाटा, पुलिस, पेंशन, आर्थिक सेवा, सार्वजनिक उपक्रमों को ऋण तथा राज्य व केन्द्र शासित प्रदेशों एवं विदेशी सरकारों को दी गयी सहायता राशि सम्मिलित होती है।

(ii) योजना व्यय : इसमें सरकार का कुल खर्च, सरकार की केन्द्रीय योजनाएं तथा राज्य व केन्द्रशासित प्रदेशों की योजनाओं को मदद की राशि शामिल की जाती है।

भारत की सार्वजनिक व्यय नीति
(Public Expenditure Policy in India)

भारत सरकार की सार्वजनिक व्यय नीति में परिवर्तन होता रहता है। भारत में सार्वजनिक व्यय आर्थिक एवं गैर–आर्थिक दोनों ही क्षेत्रों में किए जाते हैं। आर्थिक क्षेत्रों में ढांचागत विकास, शिक्षा, चिकित्सा, समाज कल्याण आदि कार्यों पर व्यय किए गए हैं। व्यय करने में विकास कार्यों के साथ–साथ सामाजिक सेवाओं एवं पिछड़े वर्ग के उत्थान को भी प्राथमिकता दी गयी है।

भारत के सार्वजनिक व्यय में काफी वृद्धि हुई है। 1990–91 में केन्द्र सरकार ने 98274 करोड़ रुपए व्यय किए जो घरेलू उत्पाद का 17.3% था। राजस्व व्यय 73516 करोड़ था जो सकल घरेलू उत्पाद का 12.9% था एवं पूंजीव्यय 4.4% था। योजना व्यय GDP का 5% और गैर योजना व्यय 12.3% था। 2004–05 के बजट के अनुमानों के अनुसार कुल सार्वजनिक व्यय 477829 करोड़ रुपए था जो GDP का 15.4% था। राजस्व व्यय 385493 करोड़ रुपए था जो GDP का 12.4% था एवं पूंजी व्यय 92336 करोड़ रुपए था जो GDP का 3% था। योजना व्यय 145590 करोड़ (GDP का 4.7%) एवं गैर योजना व्यय 332239 करोड़ रुपए (GDP का 10.7%) था।

केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों एवं संघशासित प्रदेशों के कुल सार्वजनिक व्यय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। 1990–91 में इनका कुल परिव्यय 176548 करोड़ रुपए था जो बढ़कर 2003–04 में 849822 करोड़ रुपए अनुमानित था। जहां एक ओर विकास व्यय बढ़ रहे हैं वहीं दूसरी ओर गैर–विकास व्ययों में भी काफी तेजी से वृद्धि हो रही है। सन् 1980–81 में कुल व्ययों में से विकास व्ययों का भाग 33.7% था जो कि 1998–99 में बढ़कर 48.6% हो गया। वर्ष 2004–05 में विकास व्यय एवं गैर–विकास व्ययों का अनुपात लगभग 50 : 50 रहा है।

भारत में योजनाओं में वित्त व्यवस्था
(Financing of Plans in India)

पंचवर्षीय योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था देश की अर्थव्यवस्था को व्यापक रूप में प्रभावित करती है। योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था निम्नलिखित स्रोतों से की जाती है – 1. चालू राजस्व से बकाया राशि 2. अतिरिक्त संसाधन संग्रह 3. सार्वजनिक उपक्रमों का योगदान 4. आन्तरिक ऋण 5. घाटे की वित्त व्यवस्था 6. विदेशी सहायता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. चालू राजस्व से बकाया राशि (Balance from Current Revenue) : केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारों को विभिन्न प्रकार के करों व गैर–कर स्रोतों से आय प्राप्त होती है। इसी प्रकार राजस्व खाते में विभिन्न प्रकार की मदों जैसे ऋणों पर ब्याज का भुगतान, अनुदान, सुरक्षा व्यय तथा अन्य गैर–विकास व्यय आदि पर गैर–योजना व्यय किया जाता है। इस प्रकार के आय–व्यय का अन्तर ही चालू राजस्व का अधिशेष (Surplus) कहलाता है। इस अधिशेष राशि का उपयोग योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए किया जाता है। कारण राजस्व खाते में व्यय की राशि लक्ष्य से कहीं अधिक रहती है। अतः अधिशेष राशि निर्धारित लक्ष्य से बहुत कम रहती है। दसवीं योजना में चालू राजस्व से बकाया राशि 20193 करोड़ रुपए रहने का अनुमान था।

2. अतिरिक्त संसाधन संग्रह (Additional Resources Collection) : अतिरिक्त संसाधन संग्रह के लिए केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार एक ओर जहां करों एवं गैर–कर स्रोतों से आय जुटाती है, वहीं दूसरी ओर सार्वजनिक उपक्रमों से अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयास करती है। जैसे– डाक–तार दर, रेल भाड़ा, विद्युत शुल्क, सड़क परिवहन किराया आदि में वृद्धि करके एवं कर–ढांचे में संशोधन से प्राप्त अतिरिक्त आय आदि। अतिरिक्त संसाधनों को जुटाने के लिए अनुदान राशि में कटौती भी की जाती है। भारत जैसे देश में जहां पहले से ही कर की दरें अधिक हैं वहां और अधिक कर दर बढ़ाने की गुंजाइश नहीं रहती। उसी तरह अनुदान राशि में कटौती करना भी संभव नहीं हो पाता। इसलिए इस स्रोत से आय कम प्राप्त होती है।

3. सार्वजनिक उपक्रमों एवं सेवाओं से आय (Income from Public Enterprises) : सरकार अनेक सार्वजनिक उपक्रमों एवं सेवाओं का संचालन करती है। इनसे प्राप्त आय सरकार योजना व्ययों की पूर्ति के लिए उपयोग करती है। भारत में सार्वजनिक उपक्रमों की स्थिति संतोषजनक नहीं है। अनेक उपक्रम घाटे में चल रहे हैं। सार्वजनिक उपक्रमों की मूल्यनीति की भी समीक्षा होनी चाहिए। इन उपक्रमों की प्रबन्ध कुशलता में सुधार आवश्यक है। इससे सार्वजनिक उपक्रमों से प्राप्त आय बढ़ सकती है। आठवीं योजना में सार्वजनिक उपक्रमों से प्राप्त आय 148140 करोड़ रुपए थी। नौंवी योजना में यह बढ़कर 340409 करोड़ रुपए हो गयी। दसवीं योजना में 598240 करोड़ रुपए की आय प्राप्त होने का अनुमान था।

4. आन्तरिक ऋण (Internal Borrowings) : आंतरिक ऋणों में बाजार ऋण, अल्पबचतें, आरक्षा निधि, वित्तीय संस्थाओं के अवधि ऋण तथा विभिन्न पूंजीगत प्राप्तियां आदि को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार सरकार देश की जनता से विभिन्न रूपों में ऋण प्राप्त कर योजनाओं की वित्त व्यवस्था करती है। भारत में आंतरिक ऋणों से पर्याप्त राशि प्राप्त हो जाती है। भारत में योजना व्ययों की पूर्ति में आंतरिक ऋणों का योगदान सर्वाधिक है। आठवीं योजना में इस मद से 202260 करोड़ रुपए प्राप्त हुए तथा नौवीं योजना में 460179 करोड़ रुपए प्राप्त हुए। दसवीं योजना में इस मद से 946667 करोड़ रुपए एकत्रित किए गए।

5. घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing) : जब कुल सरकारी व्यय कुल सरकारी आय से अधिक होते हैं तथा इस घाटे की पूर्ति के लिए सरकार रिजर्व बैंक से मुद्रा उधार लेती है तो इस व्यवस्था को घाटे की वित्त व्यवस्था कहते हैं। भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था का योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए अत्यधिक उपयोग हुआ है। घाटे की वित्त व्यवस्था मुद्रा स्फीति को बढ़ावा देती है। इसे नियंत्रित करना आवश्यक है। दूसरी ओर घाटे की वित्त व्यवस्था देश में उत्पादन, आय, रोजगार आदि को बढ़ाने में भी सहायक होती है। अतः घाटे की वित्त व्यवस्था का उपयोग उचित परिमाण में ही किया जाना चाहिए।

6. विदेशी सहायता (Foreign Assistance) : भारत में विभिन्न योजनाओं में विदेशी सहायता का उत्तरोत्तर अधिक उपयोग किया गया है। किन्तु घरेलू साधनों की तुलना में विदेशी सहायता का योगदान कम है। विदेशी सहायता की राशि लगभग लक्ष्य से अधिक रही है। नौवीं योजना की कुल व्यय राशि 859200 करोड़ रुपए थी जिनमें विदेशी सहायता का योगदान 60018 करोड़ रुपए थी, जो कुल व्यय का 7% थी। दसवीं योजना में विदेशी सहायता की राशि कुल संसाधनों का 7% ही होने का अनुमान था।

इस प्रकार भारत में वित्तीय प्रवृत्तियां आर्थिक विकास दर में वृद्धि कर रही हैं।

भारत में कीमत सम्बन्धी प्रवृत्तियां
(Pricing Trends in India)

भारत की अर्थव्यवस्था एक विकासशील अर्थव्यवस्था (Developing Economy) है। विकासशील अर्थव्यवस्था की प्रारंभिक अवस्था में जन्म दर अधिक होने से जनसंख्या वृद्धि के कारण जहां वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग बढ़ती है वहीं निर्यात बढ़ने के कारण वस्तुओं की घरेलू आपूर्ति कम हो जाती है। फलस्वरूप कीमत में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तेजी से वृद्धि होती है। योजनाकाल में भारत में वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य में भारी वृद्धि हुई है। मूल्यवृद्धि ने आर्थिक विकास, जीवन स्तर, सामाजिक एवं नैतिक व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था आदि को व्यापक रूप से प्रभावित किया है।

कीमतों में परिवर्तन का अध्ययन करने के लिए थोक मूल्य सूचकांक (Wholesale Price Index) का सहारा लिया जाता है। प्रारंभ में सरकार ने 1950–51 को आधार वर्ष मानकर थोक मूल्य सूचकांक के आधार पर कीमतों में परिवर्तन की प्रवृत्ति को मापा था। इसके बाद 1960–61, 1970–71, 1980–81 को आधार वर्ष बनाया गया। वर्तमान में 1993–94 को आधार वर्ष मानकर कीमतों में परिवर्तन की प्रवृत्ति को देखा जाता है।

भारत में कीमतों में होने वाले परिवर्तन का विस्तृत अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि कीमतों में लगातार वृद्धि की प्रवृत्ति रही है। भारत में द्वितीय महायुद्ध के समय से ही कीमतों के बढ़ने की प्रवृत्ति पायी जा रही है। सन् 1939 में कीमत सूचकांक 100 था जो 1947–48 में बढ़कर 308 हो गया। सन् 1951 में कीमत सूचकांक बढ़कर 462 तक पहुंच गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951–56) में कीमतों में लगभग 3.6% प्रतिवर्ष कमी हुई। दूसरी योजनावधि (1956–61) में कीमतों में 6.2% की औसतन वृद्धि हुई। तीसरी योजनावधि (1961–66) में कीमतों में 5.8% की औसतन वृद्धि हुई। चौथी योजनावधि (1969–74) में कीमतों में 9%, पांचवी योजनावधि में (1974–79) में 6.3%, छठी योजनावधि (1980–85) में 9.7%, सातवीं योजनावधि (1985–90) में 6.7%, आठवीं योजनावधि (1992–97) में 6.6%, नौंवी योजनावधि (1997–02) में 3.9%, दसवीं योजनावधि (2002–2007) में 5% औसतन प्रतिवर्ष कीमतों में वृद्धि हुई।

ग्यारहवीं योजनावधि में 2007–08 वर्ष में कीमतों में 6.7%, 2008–09 में 8.4% वृद्धि हो गयी। 2 अगस्त 2008 को मुद्रा स्फीति की दर अपने अधिकतम स्तर 12.91% पर पहुंच गयी। मार्च 2010 में मुद्रा स्फीति की दर 9.9% थी।

भारत में कीमत वृद्धि के कारण (Causes of Increase in Prices) :

1. मुद्रा आपूर्ति में वृद्धि : भारत में योजनावधि में घरेलू उत्पाद वृद्धि की तुलना में मुद्रा पूर्ति में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। फलतः कीमत स्तर में वृद्धि हुई है।

2. जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि : भारत में जनसंख्या वृद्धि दर 2.1% है। 1951 में भारत में जनसंख्या 34.50 करोड़ थी। जो 2009–10 में बढ़कर 117 करोड़ हो गयी। जनसंख्या वृद्धि के कारण मांग तेजी से बढ़ी है। फलस्वरूप कीमत में वृद्धि होती गयी।

3. उत्पादन में कमी : भारत में कृषि की मानसून पर निर्भरता के कारण उत्पादन अनिश्चित रहता है। कृषि उत्पादन में कमी के कारण इन पर आधारित उद्योगों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। उत्पादन में कमी आने से मूल्य में वृद्धि होने लगती है। खाद्यान्नों में कमी के कारण सामान्य कीमत स्तर बढ़ जाता है।

4. वेतन वृद्धि : कीमत में वृद्धि से मजदूर/कर्मचारी वेतन की अधिक मांग करते हैं। फलस्वरूप उनके वेतन वृद्धि के साथ–साथ आय बढ़ने से बाजार में मांग बढ़ जाती है और कीमतें बढ़ने लग जाती हैं।

5. तेल कीमतों में वृद्धि : बढ़ती हुई तेल की कीमतों का असर भारत पर भी पड़ा है। सन् 1980 से पेट्रोलियम एवं उस पर आधारित उत्पादन की कीमत कई गुणा बढ़ गयी है। खाड़ी युद्ध के कारण भी तेल की कीमतों में वृद्धि हुई। पेट्रोलियम की कीमतों में वृद्धि का प्रभाव कीमत वृद्धि के रूप में देखा जाता है।

6. सरकार द्वारा प्रबन्धित कीमतें : सरकार द्वारा प्रबन्धित कीमतों जैसे – रेलभाड़ा, डाक–व्यय, कोयले, स्टील, लोहे, एल्यूमिनियम तथा राष्ट्रीय उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि के कारण देश में कीमत स्तर बढ़ गया है।

7. रुपए का अवमूल्यन : स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय रुपए का अवमूल्यन वर्ष 1949, 1966 तथा 1991 में किया गया। अवमूल्यन के कारण आयात महंगे और निर्यात सस्ते हो जाते हैं। इससे आयातित वस्तुएं महंगी हो जाती हैं तथा अवमूल्यन के कारण निर्यात बढ़ने से घरेलू अर्थव्यवस्था में वस्तुओं की पूर्ति कम हो जाती है। इन कारणों से मूल्य वृद्धि हो जाती है।

8. अनुत्पादक व्ययों में वृद्धि : सरकार अपनी नीति के तहत कई गैर–विकासात्मक व्यय करती है जैसे– अनुदान, सुरक्षा व्यय, चुनाव व्यय आदि। इनपर अधिक व्यय से जनता के हाथों में मुद्रा–पूर्ति बढ़ जाती है जिससे मांग बढ़ जाती है। फलस्वरूप कीमतें बढ़ जाती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

9. अप्रत्यक्ष कर : अप्रत्यक्ष करों जैसे– बिक्री कर, आयात–निर्यात कर, उत्पादन कर आदि को अधिक मात्रा में लगाए जाने के फलस्वरूप भी कीमतों में वृद्धि हुई है।

10. साख विस्तार : साख विस्तार से मुद्रा पूर्ति में वृद्धि होती है। सन् 1980 में कुल अदत्त बैंक साख 25371 करोड़ रुपए थी जो फरवरी 2010 में बढ़कर 3089323 करोड़ रुपए हो गयी। साख की अधिक मात्रा में विस्तार भी कीमत वृद्धि का एक मुख्य कारण है।

देश में कालेधन के कारण समानान्तर अर्थव्यवस्था चल रही है। सरकार इस पर नियंत्रण करने में भी विफल रही है। कालेधन के कारण महंगाई काफी बढ़ी है। 2006–07 में देश में कालाधन की मात्रा 2500000 करोड़ रुपए आंकी गयी थी।

बढ़ती कीमत को नियंत्रित करने के सरकारी उपाय
(Governmental Measures to Control Price Rise)

सरकार ने समय–समय पर कीमत नियंत्रित करने के लिए निम्नांकित उपाय किए हैं–

1. मौद्रिक उपाय : कीमत में स्थिरता लाने के लिए रिजर्व बैंक ने मुद्रा पूर्ति को नियमित किया है। साख–नियंत्रण के विभिन्न उपाय अपनाए गए हैं। कीमत को नियंत्रित करने के लिए रिजर्व बैंक ने बैंकदर, नकद कोष अनुपात, वैधानिक तरलता अनुपात आदि में परिवर्तन किया।

2. राजकोषीय उपाय : कीमत नियंत्रण के लिए सरकार ने राजकोषीय उपाय अपनाए। जैसे– क्रय शक्ति कम करने के लिए अतिरिक्त कर, घाटे की वित्त व्यवस्था को कम करने का निर्णय, अनावश्यक सार्वजनिक व्यय में कमी, उत्पादन वृद्धि हेतु करों में छूट तथा वित्तीय सहायता आदि। इन उपायों के बावजूद भी कोई विशेष सफलता नहीं मिली।

3. औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि : सरकार ने योजनावधि में उद्योगों का काफी विकास किया ताकि औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करके बढ़ती हुई कीमतों को नियंत्रित किया जा सके। देश में लोहे, इस्पात, मशीनरी, सीमेण्ट, बिजली के सामान आदि के बहुत से नए उद्योग स्थापित किए गए। लघु एवं कुटीर उद्योगों को भी सहायता प्रदान कर प्रोत्साहित किया गया। उपभोक्ता एवं पूंजीगत दोनों प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि के प्रयास किए गए फिर भी मांग की तुलना में उत्पादन में कम वृद्धि हुई।

4. कृषि उत्पादन में वृद्धि : सरकार ने योजना अवधि में कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि की साथ ही रासायनिक खाद एवं उत्तम बीजों के प्रयोग में वृद्धि करने का प्रयास किया। इन प्रयासों के फलस्वरूप कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई। वर्ष 1951 में खाद्यान्न उत्पादन मात्र 550 लाख टन था जो कि 2008–09 में बढ़कर 2339 लाख टन हो गया।

5. आवश्यक वस्तुओं के निर्यात पर रोक : कीमतों पर नियंत्रण हेतु सरकार ने आवश्यक उपभोग की कई वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा कई पर निर्यात कर लगाया ताकि देश में उन वस्तुओं की पूर्ति में कमी न हो। जिससे कि बढ़ती हुई कीमत को नियंत्रित किया जा सके। अप्रैल 2008 में सरकार ने गैर–बासमती चावल, गेहूं, खाद्य तेलों, दालों, सीमेण्ट, इस्पात आदि के निर्यात पर प्रतिबंध लगा दिया है।

6. आवश्यक वस्तुओं के आयात की सुविधा : आवश्यक वस्तुओं के आयात में वृद्धि करने हेतु आयात करों में कमी की गयी है। खाद्य तेलों, दालों, गेहूं, चीनी, मक्का के आयात शुल्क हटा दिए गए। इस प्रकार सरकार ने आवश्यक उपभोग की वस्तुओं के आयात की व्यवस्था की है।

7. सार्वजनिक वितरण व्यवस्था : सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार ने 4 लाख 99 हजार उचित मूल्यों की दूकानों द्वारा आवश्यक वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था की है। सरकार ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली को अधिक कुशल बनाने का प्रयास भी किया है।

8. जनसंख्या वृद्धि पर रोक के प्रयास : जनसंख्या वृद्धि को नियमित एवं नियंत्रित करने के लिए सरकार ने जन्म दर को कम करने के प्रयास किए हैं। जनसंख्या वृद्धि की दर को नियंत्रित करके कीमत वृद्धि की प्रवृत्ति को रोका जा सकता है।

9. संग्रह पर रोक (Check on Hoarding) : आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करके बाजार में वस्तुओं का कृत्रिम अभाव पैदा कर दिया जाता है जिससे मूल्य वृद्धि हो जाती है। संग्रह पर रोक लगाकर, छापामारी आदि द्वारा संग्रह की प्रवृत्ति को रोका जा सकता है। सरकार इस ओर काफी प्रयास कर रही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार महंगाई को रोकने के लिए विभिन्न प्रयास किए जा रहे हैं।

प्रश्न

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. मुद्रा का अर्थ लिखें।
2. भारत में मुद्रापूर्ति में कौन–कौन से तत्त्व शामिल किए जाते हैं?
3. सार्वजनिक आय से आप क्या समझते हैं?
4. कर का अर्थ लिखें।
5. सार्वजनिक व्यय क्या है?
6. भारत में कीमत वृद्धि के किन्हीं चार कारणों को लिखें।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में मुद्रापूर्ति की विभिन्न धारणाओं का उल्लेख करते हुए मुद्रापूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का वर्णन करें।
2. सार्वजनिक आय से आप क्या समझते हैं? भारत में सार्वजनिक के विभिन्न स्रोतों का वर्णन करें।
3. भारत में योजनाओं में वित्त व्यवस्था के विभिन्न स्रोतों का वर्णन करें।
4. भारत में कीमत सम्बन्धी प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए भारत में कीमत वृद्धि के कारणों का वर्णन करें।
5. भारत में कीमत वृद्धि के प्रमुख कारणों को लिखें। मूल्य वृद्धि रोकने के लिए किए गए सरकारी प्रयासों का वर्णन करें।

———————————————————

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

खण्ड–ब

(Section-B)

वृद्धि की समस्याएं (Problem of Growth)

आज वृद्धि की समस्याएं भारत में निरन्तर बढ़ती जा रही है। इन समस्याओं को निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा रहा है–

बेरोजगारी (Uemployment)– आज विश्व के लगभग सभी देशों को बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ रहा है–चाहे वह देश विकसित हो अथवा विकासशील, सभी जगह बेरोजगारी मौजूद है। विलियम वेवरिज ने बेरोजगारी की आर्थिक राक्षस की संज्ञा देते हुए कहा – "संसार में पांच आर्थिक राक्षक सदैव मनुष्य जाति को ग्रसित करने को तैयार रहते हैं–निर्धनता, रोग, अज्ञानता, गन्दगी और बेकारी परन्तु सबसे भयंकर राक्षस बेकारी का है।"

बेरोजगारी का अर्थ

ऐसे व्यक्ति जो काम करने के योग्य हों एवं काम करने की इच्छता रखते हों, परन्तु उन्हें कार्य नहीं मिल जाता है अथवा उनके लिए काम का अभाव है, इस स्थिति को बेरोजगारी कहते हैं। बेराजेगार वह कहलाता है जिसके पास कार्य की योग्यता एवं काम करने की इच्छा रहते हुए भी उसे काम नहीं मिल पाता है। अतः वैसे व्यक्ति जो काम करने के लिए अयोग्य हों, अथवा काम करने के इच्छुक नहीं हों जैसे–बच्चे, बूढ़े, अपंग, साधु, भिखारी, पागल आदि को बेरोजगार नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे निशक्त हैं, काम करने की क्षमता उनमें नहीं है। काम करने की यह क्षमता शारीरिक वं मानसिक दोनों दृष्टि से व्यक्ति में होनी चाहिए और ये क्षमता होते हुए भी उन्हें काम से वंचित रहना पड़ता है तो वे बेरोजगार कहलायेंगे।

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से काम करने की योग्यता रखने वाला वह व्यक्ति जो काम करना चाहता हो, परन्तु उसे काम नहीं मिल पाता, वह बेरोजगार कहलाता है।

बेरोजगारी के प्रकार (Types of Unemployment)

अर्थव्यवस्था के विकास की अलग–अलग अवस्थाओं में बेरोजगारी का स्वरूप भी अलग अलग होता है। अर्द्ध विकसित अथवा विकासशील देशों में आर्थिक विकास के आधारभूत संरचना के कारण बेरोजगारी पायी जाती है। भारत में श्रम की पूर्ति जनसंख्या में वृद्धि के साथ ही बढ़ती जाती है। जिस दर से जनसंख्या बढ़ती है उस दर से उत्पादन के अन्य साधन जैसे–पूंजी, भूमि, उद्योग एवं तकनीक में विकास नहीं हो पाता। फलस्वरूप बढ़ी हुई जनसंख्या का उपयोग अर्थव्यवस्था में नहीं हो पाता है और बेरोजगारी बढ़ती चली जाती है।

विकसित देशों में प्रभावपूर्ण मांग कमी के कारण औद्योगिक मंदी उत्पन्न हो जाती है । फलस्वरूप उद्योग बंद हो जाते हैं और उत्पादन कार्य कम हो जाता है साथ ही श्रम की मांग घट जाती है। फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ती चली जाती है। हाल के वर्षों में आर्थिक मन्दी से विशेषकर पश्चिमी देशों में उत्पन्न बेरोजगारी प्रभावपूर्ण मांग में कमी के कारण उत्पन्न बेरोजगारी है।

भारत में बेरोजगारी के अनेक स्वरूप हैं जैसे– ऐच्छिक अथवा अनैच्छिक बेरोजगारी, दृश्य अथवा अदृश्य बेरोजगारी, नियमित अथवा मौसमी बेरोजगारी, स्थायी अथवा अस्थायी बेरोजगारी, पूर्ण अथवा अपूर्ण बेरोजगारी इत्यादि। भारत में बेरोजगारी के निम्नांकित प्रकार हैं–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. दृश्य अथवा खुली बेरोजगारी (Open or Visible Unemployment)

काम की इच्छा होते हुए भी काम खोजने पर भी काम जब नहीं मिलता है तो ऐसी स्थिति को खुली बेरोजगारी कहते हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी जनसंख्या में वृद्धि एवं उत्पाद के साधनों जैसे भूमि, पूंजी इत्यादि के अभाव के कारण उत्पन्न होती है। भारत में जनसंख्या में तेजी से वृद्धि के कारण खुली बेराजगारी बढ़ती जा रही है। लाखों लोग बेरोजगार हैं जो काम की तालाश में दर–दर भटक रहे हैं। उन्हें मांगने पर भी काम नहीं मिल पाता है। ग्रामीण लोग काम की तलाश में शहरों में आते हैं। अतः ऐसी खुली बेरोजगारी शहरों में ज्यादा होती है।

2. अदृश्य अथवा छुपी हुई बेरोजगारी (Disguised Unemployment)

छुपे हुए बेरोजगार वैसे तो काम पर लगे हुए रहते हैं परन्तु उनकी उत्पादकता नही के बराबर होती है। अर्थात यदि उन्हें काम पर से हटा भी दिया जाता है तो कुल उत्पादन में किसी प्राकर की कमी नहीं आती है। जैसे–20 श्रमिक मिलकर प्रतिदिन 100 यूनिट का उत्पादन करते हैं। यदि उसमें से 4 श्रमिक हटा दिए जाएं तो शेष 16 श्रमिक भी प्रतिदिन यदि 100 यूनिट उत्पादन करते हैं तो इसका मतलब है वे 4 श्रमिक जिन्हें हटा दिया था वे छुपे हुए बेराजगार थे जो देखने में तो काम पर लगे हुए थे, लेकिन उनकी सीमान्त उत्पादकता नगण्य थी। प्रो. नर्क्से के अनुसार –"अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में 20 से 25% जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में छिपी बेरोजगारी की शिकार है।" भारत में ग्रामीण जनंसख्या का कृषि पर अत्यधिक दबाव के कारण एवं उद्योगों में रोजगार के अभाव के कारण यह अदृश्य बेरोजगारी अत्यधिक है।

3. मौसमी बेरोजगारी (Seasonal Unemployment)

जब श्रमिकों को सालों भर काम नहीं मिलता अर्थात वर्ष में कुछ महीने काम मिलता है और कुछ महीने उसे काम नहीं मिलने के कारण बेरोजगार रहना पड़ता है तो ऐसे बेरोजगारों को मौसमी बेरोजगार कहते हैं। जैसे– कृषि मजदूरों को खेत में बुवाई के समय, फसल कटाई के समय तो काम मिलता है, शेष दिन उन्हें बेरोजगार रहना पड़ता है। इस प्रकार मौसमी बेरोजगारों को केवल विशेष मौसम में ही कार्य मिल पाता है। भारत में मौसमी बेरोजगार अधिकांशतः कृषि क्षेत्र में पाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त विशेष मौसम में उत्पादन करने वाले उद्योगों से जुड़े श्रमिकों को भी उत्पादन मौसम के अतिरिक्त शेष दिन बेकार ही बैठा रहना पड़ता है।

4. चक्रीय बेरोजगारी (Cyclical Unemployment)

आर्थिक मंदी के समय वस्तु की मांग एवं पूर्ति में असंतुलन पैदा हो जाता है। प्रभावपूर्ण मांग में कमी आने के कारण उत्पादन कार्य कम कर दिया जाता है। फलतः छटनी हो जाती है और श्रमिक बेकार हो जाते हैं। मंदी के दिनों में वस्तुओं की कीमत घट जाती है और दूसरी तरफ वस्तुओं का आधिक्य हो जाता है। फलस्वरूप बेकारी में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार की बेरोजगारी को चक्रीय बेरोजगारी कहते हैं। चक्रीय बेरोजगारी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था वाले विकसित देशों में अधिकांशतः पायी जाती है। यह बेरोजगारी ज्यादा दिनों तक नहीं रहती है। आर्थिक क्रिया में वृद्धि के साथ ही यह बेरोजगारी भी कम होने लगती है।

5. शिक्षित बेरोजगारी (Educated Unemployment)

शिक्षित होने के बावजूद भी जब रोजगार नहीं मिल पाता है, उसे शिक्षित बेरोजगार कहते हैं। शिक्षित बेरोजगारों में दो प्रकार के बेरोजगार हैं– (1) सामान्य शिक्षा प्राप्त बेरोजगार (2) तकनीकी शिक्षा प्राप्त बेरोजगार । भारत में सामान्य शिक्षा प्राप्त बेरोजगार की संख्या अधिक है। शिक्षित बेरोजगारी का एक प्रमुख कारण यह भी है कि वे शारीरिक श्रम करना पसन्द नहीं करते हैं। अतः उनमें ऐच्छिक बेरोजगारी स्वरूप भी आ जाता है। शिक्षित बेरोजगार अधिकांशतः शहरों में पाये जाते हैं। शिक्षा में प्रसार के साथ–साथ शिक्षित बेरोजगारों की संख्या बढ़ती जा रही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6. अशिक्षित बेरोजगारी (Uneducated Unemployment)

जब अशिक्षित में योग्यता, क्षमता रहते हुए उन्हें अशिक्षा के कारण काम नहीं मिल पाता तो ऐसे बेरोजगारों को अशिक्षित बेरोजगार कहते हैं। भारत में आज अशिक्षित बेरोजगारों की संख्या बहुत अधिक हैं।

7. अस्थायी अथवा घर्षणात्मक बेरोजगारी (Frictional Unemployment)

आर्थिक विकास के फलस्वरूप जब नए–नए उद्योग स्थापित होते हैं और पुराने उद्योग बन्द हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में पुराने उद्योग में काम करने वाले श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं और वे तब तक बेरोजगार रहते हैं जब तक कि उन्हें किसी दूसरे उद्योग में काम नहीं मिल जाता । ऐसी बेरोजगारी को अस्थायी अथवा घर्षणात्मक बेरोजगारी कहते हैं। ऐसी बेरोजगारी कुछ समय के लिए अस्थायी रूप से उत्पन्न होती है। ऐसी बेरोजगारी केवल उद्योग क्षेत्र में ही नहीं बल्कि कृषि पर आधारित धन्धे में भी पायी जाती हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी मशीनों के खराब हो जाने, ऊर्जा शक्ति एवं कच्चे माल के अभाव के कारण भी उत्पन्न होती है।

8. तकनीकी बेरोजगारी (Technological Unemployment)

विज्ञान के विकास के कारण जब नयी तकनीक की मशीनों का उपयोग होता हैं तो पुराने मजदूर नयी तकनीकी ज्ञान के अभाव में बेकार हो जाते हैं। साथ ही स्वचलित मशीनों के उपयोग के कारण श्रम शक्ति की मांग कम हो जाती है। फलस्वरूप श्रमिक बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी को तकनीकी बेरोजगारी कहते हैं। भारत में तकनीकी परिवर्तन की गति धीमी है। अन्यथा कृषि क्षेत्र में यदि तकनीकी परिवर्तन तेजी से हो जाए तो बड़ी संख्या में कृषि क्षेत्र में तकनीकी बेरोजगारी आ जायेगी।

भारत में बेरोजगारी का आकार

भारत में बेरोजगारी के अनेक स्वरूप विद्यमान है। अर्द्ध बेरोजगारी, मौसमी बेरोजगारी, छिपी हुई बेरोजगारी, शिक्षित, अशिक्षित बेरोजगारी, शहरी एवं ग्रामीण बेरोजगारी आदि बेरोजगारी के अनेक स्वरूप विद्यमान हैं। भारत में कृषि एवं उद्योग दोनों क्षेत्रों में बेरोजगारी की संख्या में वृद्धि हुई है।

भारत में बेरोजगारी का ठीक–ठीक आकलन करना एक दुसह कार्य हैं अलग एजेन्सियों द्वारा अलग–अलग आंकड़े उपलब्ध हुए हैं। अतः एक सर्वमान्य आंकड़ा या विश्वसनीय आंकड़ा देना संभव नहीं है।

योजना आयोग द्वारा प्रस्तुत अनुमानों से पता चलता है कि प्रयासों के बावजूद बेरोजगारी में प्रत्येक योजना के पश्चात वृद्धि ही होती गयी है। प्रथम योजना की शुरूआत में भारत में बेरोजगारों की संख्या 33 लाख थी जो प्रथम योजना की समाप्ति पर बढ़कर 53 लाख हो गयी। दूसरी योजना के बाद 71 लाख, तीसरी योजना के अन्त में 96 लाख चौथी योजना के अन्त में 136 लाख, आठवीं योजना के अन्त में 3.5 करोड़ एवं नवीं योजना के अन्त में 3.6 करोड़ हो गयी थी।

वर्ष 2007 में 5 करोड़ बेरोजगार थे।ग्यारहवीं पंचवर्षी योजना 2007–12 के अन्त तक बेरोजगारों की संख्या 7.5 करोड़ से अधिक होने का अनुमान है।

दांतेवाला समिति (Committee of Expert on Unemployment) की सन् 1970 में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार देश में बेरोजगारी के सम्बन्ध में जो भी अनुमान लगाए गए हैं वे अविश्वसनीय है और समुचित अवधारणाओं तथा विधियों के सहारे नहीं लगाए गए हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पंजीकृत बेरोजगार :

रोजगार कार्यालयों में पंजीकृत बेरोजगारों की संख्या 31 दिसम्बर 1969 को 34.24 लाख थी जो 1980 में बढ़कर 162 लाख हो गयी। इसी प्रकार 1992 में बढ़कर 367.68 लाख, सन् 2002 में 411.71 लाख एवं 2004 में 4.04 करोड़ थीं । पंजीकृत कार्यालयों के आंकड़ों में त्रृटियां रहती हैं। कारण, (1) रोजगार कार्यालयों में अधिकांशतः केवल शहरी क्षेत्रों के बेरोजगार ही पंजीकृत कराते हैं (2) देश के सभी बेरोजगार अपना नाम पंजीयन नहीं कराते (3) पंजीकृत बेरोजगारों का रोजगार मिलने के बाद भी उनका नाम रजिस्टर में दर्ज ही रहता है।

अतः पंजीयन कार्यालय के आंकड़े से देश में बेरोजगारी की स्थिति का सही आकलन नहीं हो पाता है।

भारत में बेरोजगारी के कारण (Causes of Unemployment in India) :

योजना आयोग के अनुसार भारत में मानव शक्ति के समुचित उपयोग में बाधक तत्व हैं– जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि, गैर–कृषि क्षेत्र का अपर्याप्त विकास, लघु एवं कुटीर उद्योगों का ह्रास, कृषि की मानसून पर निर्भरता, अर्द्ध विकसित अर्थव्यवस्था, दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली आदि। विकसित देशों में बेरोजगारी का कारण प्रभावपूर्ण मांग में कमी होती है तो विकासशील एवं अर्द्ध विकसित देशों में बेरोजगारी का कारण श्रम शक्ति अनुपात में मशीनों, यंत्रों का अभाव एवं संरचनात्मक विकास का अभाव होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में अर्द्ध बेरोजगारी, अशिक्षा, पूंजी का अभाव, कृषि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार, अकुशल श्रमिकों का आधिक्य, श्रम की गतिशीलता का अभाव आदि बेरोजगारी के प्रमुख कारण हैं।

भारत में बढ़ती हुई बेरोजगारी के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

१. जनसंख्या में तेजी से वृद्धि (Rapid Increase in Population)

भारत में आजादी के समय जनसंख्या 34.2 करोड़ थी जो कि 1981 में दुगनी अर्थात 68.3 करोड़ हो गयी । 1991 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 84.63 करोड़ थी जो 2001 में बढ़कर 102.7 करोड़ हो गयी। 2006 में जनसंख्या बढ़कर 111.4 करोड़ एवं 2025 तक जनसंख्या 136.3 करोड़ तक बढ़ जाने का अनुमान है।

जनसंख्या में वृद्धि के साथ ही उन्हें रोजगार देने के प्रयास भी किए जाते रहे हैं। लेकिन श्रम शक्ति में वृद्धि के अनुपात में रोजगार का सृजन कम हुआ है। अतः जनसंख्या का दबाव रोजगार पर बढ़ता गया है। देश की जनसंख्या वृद्धि की वार्षिक दर 1.93 थी जबकि वर्ष 1999–2000 में रोजगार की वृद्धि दर एक प्रतिशत से भी कम (0.98 प्रतिशत) थी।

इस प्रकार एक तरफ तो पहले से विद्यमान बेरोजगार हेतु रोजगार का सृजन करना और दूसरी ओर बढ़ी हुई श्रमशक्ति के लिए भी रोजगार की व्यवस्था करना–दोनों प्रयास करना काफी कठिन है। अतः बेरोजगारी बढ़ती जा रही है।

२. अर्द्ध विकसित अर्थव्यवस्था :

बेरोजगारी की समस्या अर्द्ध विकसित देशों में सर्वाधिक रहती है। भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वरूप अर्द्ध विकसित है। यहां कृषि की प्रधानता, औद्योगिक पिछड़ापन, निम्नपूंजी निर्माण दर एवं निम्न आय स्तर है। आधारभूत संरचना का अभाव है। जनसंख्या का अत्यधिक भार (70 प्रतिशत) कृषि पर ही है। गैर–कृषि क्षेत्र का समुचित विकास नहीं हुआ है। उद्योगों में जनसंख्या का केवल 12 प्रतिशत एवं यातायात क्षेत्र में 5.7 प्रतिशत नियोजित है। तकनीकी ज्ञान एवं प्रशिक्षण का अभाव है। यही कारण है कि संसाधनों की उपलब्धता प्रचुर मात्रा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में होने पर भी उनका समुचित विदोहन नहीं हो पा रहा है। श्रम शक्ति का एक बड़ा भाग अभी भी रोजगार के लिए भटक रहा है।

३. कृषि का पिछड़ापन (Backward Agricultural)

भारत में जनसंख्या का 70% भाग कृषि कार्यों में संलग्न है। भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर है। कृषि में अभी भी पुरानी तकनीक का इस्तेमाल किया जाता है। जनसंख्या का अत्यधिक भार होने के कारण कृषि क्षेत्र में प्रतिव्यक्ति आय बहुत ही कम है। अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि के कारण कृषि उत्पादन अनिश्चित रहता है। साथ ही इससे जुड़ी श्रमशक्ति प्रकृति की प्रतिकूल अवस्था में बेरोजगार रहती है। भारतीय कृषि श्रमिकों को खरीफ एवं रबी की फसलों के समय वर्ष भर में मुश्किल से 7–8 माह ही कार्य मिलता है, शेष समय में वे मौसमी बेरोजगार की तरह रहते हैं। एक अनुमान के अनुसार भारत की 70% कार्यशील जनसंख्या वर्ष में 100 से 150 दिन तक बेकार रहती है। भारत में बहु–फसल (Multi Cropping) खेती संभव नहीं हो पाती है। साथ ही कृषि क्षेत्र में जनसंख्या के अत्यधिक भार के कारण अदृश्य बेरोजगारी एक बड़ी समस्या है।

४. औद्योगिकी कारण का अभाव (Lack of Industrialisation) :

भारत में औद्योगिक पिछड़ापन अभी भी बरकरार है। पूंजी एवं तकनीक की कमी के कारण उद्योगों के विकास की दर बहुत मंद रही है। आजादी के बाद ब्रिटिश सरकार की उदासीनतापूर्ण औद्योगिक नीति के स्थान पर तीव्र औद्योगिक विकास हेतु प्रयास किए गए। फिर भी उद्योगों में रोजगार में वांछित वृद्धि नहीं हो सकी । 1971 की जनगणना के अनुसार भारत में कार्यशील जनसंख्या 22.7 करोड़ थी उनमें से उद्योगों में केवल 2.2 करोड़ व्यक्ति ही नियोजित थे। इस प्रकार देश में श्रम शक्ति का केवल 10% ही उद्योगों में रोजगार प्राप्त कर रहे थे। इधर हाल के वर्षों में औद्योगिक रोजगार में थोड़ी वृद्धि हुई है। फिर भी देश में उपलब्ध कुल रोजगार में औद्योगिक रोजगार का प्रतिशत बहुत कम है।

५. प्रशिक्षण सुविधाओं का अभाव (Lack of Training Facilities) :

भारत में अधिकांश श्रमिक अकुशल एवं प्रशिक्षित हैं। उद्योगीकरण के कारण कुशल एवं प्रशिक्षित श्रमिकों की मांग में वृद्धि हुई है, लेकिन प्रशिक्षण सुविधाओं के अभाव के कारण अभी भी प्रशिक्षित एवं कुशल श्रमिकों का अभाव है। इस प्रकार औद्योगिक विकास के फलस्वरूप रोजगार सृजन होने के बावजूद भी अकुशल श्रमिक बेकार रहते हैं।

६. श्रम की गतिशीलता का अभाव (Immbofility of Labour) :

भारतीय श्रमिकों की एक विशेषता है कि उनमें गतिशीलता का अभाव पाया जाता है। भारत में सामाजिक एवं पारिवारिक कारणों से कहीं अन्यत्र जाने के बजाय श्रमिक अपने गांव में ही कार्य करना ज्यादा पसंद करते हैं। ऐसी स्थिति में श्रम की पूर्ण क्षमताओं का उपयोग नहीं हो पाता है। श्रमिक पारंपरिक व्यवसाय को छोड़कर अन्य व्यवसायों में हस्तान्तरित होना भी नहीं चाहते।

७. गरीबी (Poverty)

भारत में प्रतिव्यक्ति आय बहुत कम है। देश में जनसंख्या का एक बड़ा भाग गरीबी का जीवन जी रहा है। 1999–2000 में 26% जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे थी। एक अनुमान के अनुसार वर्तमान में 21.5% लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं। गरीबी बेरोजगारी का एक बड़ा कारण है। पूंजी के अभाव के कारण लोग अपना व्यवसाय नहीं कर पाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

८. यंत्रीकरण (Machanisation)

उत्पादन के क्षेत्र में पूंजी गहन तकनीक एवं यंत्रीकरण के कारण श्रम की मांग काफी घट गयी है एवं पूर्व में रोजगार प्राप्त व्यक्तियों की ऐसे उद्योगों से छटनी भी हो जाती है। मानव श्रम का स्थान यंत्रों ने ले लिया है। फलस्वरूप औद्योगीकरण के बावजूद भी बेरोजगारी में वृद्धि होती चली जा रही है।

९. औद्योगिक क्षमताओं का कम उपयोग (Less Utilisation of Industrial Capicity)

भारत में स्थापित उद्योगों की क्षमताओं का पूर्ण उपयोग किया जाय तो रोजगार में काफी वृद्धि की जा सकती है। लेकिन पूंजी की कमी का अभाव, यातायात की सुविधाओं का अभाव के कारण उद्योगों की भी क्षमताओं का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता है। फलस्वरूप बेरोजगारी की समस्या खड़ी रहती है।

१०. दोषपूर्ण वर्तमान शिक्षा पद्धति (Defective Education System)

भारत की शिक्षा पद्धति विद्वान तो पैदा करती है लेकिन रोजगारपरक नहीं है। स्वरोजगार को प्रोत्साहित नहीं करती। आज का शिक्षित व्यक्ति नौकरी के लिए भटकता है लेकिन अपना रोजगार प्रारंभ नहीं करता। अधिकांश पढ़े लिखे लोग नौकरी करना ही पसंद करते हैं। रोजगार सृजन की कम क्षमता के कारण शिक्षित बेरोजगारों की भीड़ बढ़ती जा रही है।

११. महिलाओं द्वारा रोजगार प्राप्ति के प्रयास

आज महिलाएं भी घर की चारदीवारी से बाहर आकर स्वयं परिवार की आय बढ़ाने के लिए रोजगार के तालाश में जुटी हैं। महिलाएं एक बड़ी संख्या में नौकरी के लिए प्रयास कर रही हैं। अतः ऐसी महिलाओं की अच्छी खासी संख्या होने के कारण बेरोजगारी की संख्या में वृद्धि होती जा रही है।

१२. रोजगार कार्यक्रम एवं नीति का अभाव (Lack of employment programmes and policy)

आजादी के 63 वर्ष बाद भी सरकार द्वारा बेरोजगारी दूर करने हेतु समयबद्ध कार्यक्रम नहीं अपनाया गया है। टुकड़ों –टुकड़ों में कार्यक्रम लागू किए गए। बेरोजगारी दूर करने हेतु कोई निश्चित नीति भी नहीं अपनायी गयी है। सरकार के सभी प्रयास अपर्याप्त साबित हुए हैं।

१३. सार्वजनिक क्षेत्रों का अपर्याप्त विकास (Insufficient Development of Public Sector)

भारत में समाजवाद की ओर झुकाव के कारण सार्वजनिक क्षेत्रों का विस्तार किया गया। लेकिन सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग की कमी के कारण रोजगार का विस्तार नहीं किया जा सका। उदारीकरण और नीजिकरण की नीति को बढ़ावा देने के कारण सार्वजनिक क्षेत्र के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया गया। सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार के अवसरों का अभाव होने से इसका नीजि क्षेत्र पर भी पड़ा और वहां भी रोजगार के अवसर कम हो गए। 1994 में सार्वजनिक क्षेत्र में 194.45 लाख व्यक्ति कार्यरत थे जो 2002–03 में घटकर 185.80 लाख हो गए।

१४. औद्योगिक मंदी (Industrial Depression) :

औद्योगिक मंदी के दौरान उत्पादन गिरने के कारण श्रमिकों की छटनी हो जाती है एवं नए रोजगार उत्पादन कार्य कम हो जाने के कारण सृजित नहीं किए जा सकते। फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ती जाती है।

१५. लघु एवं कुटीर उद्योगों का ह्रास (Decline the Small & Cottage Indstries) :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ब्रिटिश सरकार की नीतियों के कारण भारत में लघु एवं कुटीर उद्योग धंधे अधिकांशतः नष्ट हो गए और जो जीवित थे उनकी स्थिति बहुत ही दयनीय थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकार–द्वारा इस ओर प्रयास किए गए फिर भी यथोचित इनका विकास नहीं हो पाया। मशीनों के अधिकाधिक प्रयोग के कारण भी इन उद्योगों में मानव श्रम का ज्यादा उपयोग नहीं किया जा सका। उत्पादन के अन्य आवश्यक साधनों जैसे–पूंजी, कच्चामाल आदि के अभाव के कारण भी लघु एवं कुटीर उद्योग विकसित नहीं हो सके। बड़े–बड़े उद्योगों के सामने टिक नहीं सके। फलस्वरूप इस क्षेत्र में बेरोजगारी बढ़ती गयी।

बेरोजगारी दूर करने के उपाय

(Remedies to Remove Unemployment)

बेरोजगारी पूर्ण रूप से दूर करना अर्थात सभी लोगों को रोजगार देना किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए संभव नहीं है क्योंकि पूर्ण रोजगार की स्थिति केवल एक कल्पना मात्र है। फिर भी बेरोजगारी दूर करने के प्रयासों में पुराने बेरोजगारों को काम देना, नए बेरोजगारों के लिए रोजगार की व्यवस्था करना, अर्द्ध बेरोजगारी दूर करना आदि के द्वारा बेरोजगारी को दूर किया जा सकता है। बेरोजगारी दूर करने के लए अर्थव्यवस्था के सभी पहलुओं पर प्रयास करना आवश्यक है। बेरोजगारी दूर करने के प्रमुख उपाय निम्नलिखित हो सकते हैं–

१. जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण (Population Control)

अनेक प्रयासों के बावजूद भी जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण नहीं हो पा रहा है। भारत में जन्मदर प्रति हजार 25 एवं मृत्युदर स्वास्थ सुविधाओं के विकास के कारण 8.1 है। अतः प्रति वर्ष जनसंख्या 16.9 प्रति हजार की दर से बढ़ रही है। इस प्रकार प्रति वर्ष लगभग 80 से 90 लाख नए व्यक्ति के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी पड़ती है। अतः हमें बढ़ती हुई इस जनसंख्या पर नियंत्रण करना आवश्यक है। इसके लिए परिवार कल्याण कार्यक्रमों को अपनाना होगा। जनसंख्या वृद्धि की भयावह स्थिति से लोगों को वाकिफ करना होगा ताकि प्रत्येक व्यक्ति जनसंख्या के नियन्त्रण के महत्व को समझ सके और बढ़ती हुई बेरोजगारी पर नियन्त्रण किया जा सके।

२. कृषि का विकास (Agricultural Development)

भारत की अधिकांश जनसंख्या गांवों में रहती है और वे मुख्यतः कृषि पर निर्भर करती है। अतः कृषि क्षेत्र का समुचित विकास करके ग्रामीण क्षेत्र की बेरोजगारी की समस्या को दूर किया जा सकता है। कृषि क्षेत्र उत्पादन में होने वाली अनिश्चितता कभी सूखा तो कभी अतिवृष्टि आदि की समस्याओं का समाधान करना होगा। सघन खेती पर विशेष ध्यान देना होगा। ऐसे क्षेत्र जहां जनसंख्या का घनत्व अधिक है, वहां कृषि के विकास दर को और अधिक बढ़ाना होगा। असिंचित क्षेत्रों में सिंचाई की व्यवस्था कर किसानों को वित्तीय सहायता एवं पूंजी उपलब्ध करवा करके अच्छे खाद, बीज उपलब्ध करवाकर, बहुफसलीय कार्यक्रमों को अपनाकर, फसल बीमा आदि लागू करके कृषि की अनिश्चितता को दूर किया जा सकता एवं कृषि क्षेत्र के रोजगार में वृद्धि की जा सकती है। हरित क्रांति जैसे कार्यक्रमों पर जोर दिया जाना चाहिए।

३. कृषि सहायक उद्योगों का विकास

चूंकि जनसंख्या का एक बड़ा भाग कृषि एवं ग्रामीण रोजगार से जुड़ा है अतः कृषि के सहायक उद्योगों जैसे–पशुपालन, भेड़पालन आदि का विकास करके ग्रामीण जनसंख्या को रोजगार दिया जा सकता है जिससे कि कृषि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार भी कम होगा और छद्म बेरोजगारी, मौसमी बेरोजगारी आदि भी दूर की जा सकेगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

४. औद्योगीकरण (Industrialisation)

रोजगार के अवसर में वृद्धि के साथ–साथ देश के आर्थिक विकास की वृद्धि के लिए भी उद्योगों की विकास आवश्यक है। पिछड़े हुए क्षेत्रों में उद्योग का स्थापना से क्षेत्रीय असंतुलन दूर होगा तथा ग्रामीण एवं कृषि पर निर्भर जनसंख्या उद्योगों की ओर हस्तान्तरित होने लगेगी। इससे औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार वृद्धि के साथ–साथ कृषि पर अत्यधिक निर्भरता में कमी आ जायेगी। पिछड़े हुए क्षेत्रों में रोजगार उपलब्ध हो सकेगा। बड़े उद्योगों की स्थापना के साथ–साथ लघु एवं कुटीर उद्योगों का भी विकास आवश्यक है। कुटीर उद्योगों के विकास से ग्रामीण रोजगार के अवसरों में वृद्धि होगी। पूंजी गहन उद्योगों के स्थान पर श्रम प्रधान उद्योगों को बढ़ावा देना चाहिए। उद्योगों का विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए । उद्योगों का विकास बेरोजगारी की समस्या को हल करने का सबसे महत्वपूर्ण और प्रत्यक्ष उपाय है।

५. रोजगार नीति (Employment Policy)

जनसंख्या वृद्धि के साथ ही बढ़ती बेरोजगारी से निपटने के लिए रोजगार नीति का सम्यक् निर्धारण आवश्यक है। राष्ट्रीय रोजगार नीति के निर्धारण एवं उसका क्रियान्वयन से बेरोजगारी की समस्या कम की जा सकती है।

६. श्रम गहन तकनीक पर जोर (Adoption of Labour Intensive Techniques)

ऐसे उद्योग जहां भारी इंजीनियरिंग एवं मशीनीकरण आवश्यक हो, को छोड़कर अन्य उद्योगों में श्रम गहन तकनीक का इस्तेमाल ज्यादा से ज्यादा करना चाहिए। श्रम गहन तकनीक से अधिक रोजगार सृजित किया जा सकते हैं। स्वीडन के अर्थशास्त्री शूमेकर (Schumacher) ने भारत जैसे अधिक जनसंख्या वाले विकासशील देश को माध्यमिक प्रौद्योगिकी अपनाने का सुझाव दिया है ताकि अधिकाधिक श्रमशक्ति का उपयोग किया जा सके।

७. लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास (Development of Small & Cottage Industries)

औद्योगीकरण करते समय बड़े उद्योगों के साथ–साथ लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास का भी ध्यान रखना आवश्यक है। ये उद्योग प्रायः मानव श्रम आधारित होते हैं और पूंजी भी कम निवेश करनी होती है। अतः लघु एवं कुटीर उद्योग भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए रोजगार की दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त हैं।

८. शिक्षा प्रणाली में सुधार (Reforms in Education System)

भारत की शिक्षा प्रणाली अधिकांशतः शिक्षित बेरोजगार पैदा करती है। रोजगार परक शिक्षा का अभाव है। अतः शिक्षा को रोजगार के साथ जोड़कर पाठ्यक्रम तैयार किए जाएं तभी शिक्षित बेरोजगारों की समस्या का समाधान हो सकेगा और अधिक रोजगार सृजित किए जा सकेंगे। भारत की शिक्षा प्रणाली बौद्धिक रूप से तो व्यक्ति को समृद्ध बनाती है लेकिन रोजगार परक नहीं है।

अतः शिक्षा में स्वरोजगार एवं व्यावसायिक शिक्षा पर बल देना चाहिए।

९. आधारभूत ढांचे का विकास (Development of Infrastructure)

आधारभूत ढांचे का विकास रोजगार वृद्धि में सहायक होता है। स्वास्थ, शिक्षा, जल, विद्युत, परिवहन आदि का विकास करके रोजगार के अवसरों में वृद्धि की जा सकती है। आधारभूत ढांचे के विकास से आर्थिक आधार भी मजबूत होगा और आर्थिक विकास रोजगार वृद्धि में सहायक होगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

१०. प्रशिक्षण सुविधाओं का विकास (Training Facilitation)

तकनीकी शिक्षा रोजगार का आधार होता है। औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थानों एवं अन्य तकनीकी संस्थानों की स्थापना कर अधिक से अधिक बेरोजगार युवकों को प्रशिक्षित किया जा सकता है ताकि उन्हें रोजगार प्राप्त हो सके।

११. श्रम की गतिशीलता में वृद्धि करना (Mobilisation of Labour)

भारत में श्रम की गतिशीलता का अभाव बेरोजगारी का एक बड़ा कारण है। सामाजिक परिवेश एवं रीति रिवाज, परम्पराएं, जातिप्रथा आदि श्रम की गतिशीलता के अवरोधक हैं। अतः समाज में विचारों में परिवर्तन करके, सोच में बदलाव करके, परिवहन संसाधनों का विकास करके श्रम की गतिशीलता में वृद्धि की जा सकती है ताकि बेरोजगार श्रम को रोजगार के अवसर प्राप्त हो सके।

१२. स्वरोजगार को प्रोत्साहन (Encouragement of Self-Employment)

सरकार एवं वित्तीय संस्थाएं विभिन्न योजनाओं के माध्यम से स्व–रोजगार को प्रोत्साहित करें। बेरोजगार को वित्तीय सुविधाएं एवं तकनीकी प्रशिक्षण, कच्चे माल की उपलब्धता, विपणन आदि की व्यवस्था कर स्वरोजगार को प्रोत्साहित किया जा सकता है एवं रोजगार के अवसर उत्पन्न किए जा सकते हैं।

१३. रोजगार समिति के सुझाव (Suggestions of Employment Committee)

बेरोजगारी से निपटने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) की रोजगार समिति ने 2002 तक सबके लिए रोजगार का लक्ष्य हासिल करने के लिए तीन सुझाव दिए थे–

1. शिक्षित युवकों को स्वरोजगार के लिए प्रेरित करना।
2. शिक्षा एवं प्रशिक्षण की प्रणालियों को बाजार की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाना
3. सरकार के नीतिगत समर्थन से श्रम प्रधान, रोजगार प्रधान उद्योगों, क्षेत्रों का तेजी से विकास करना।

१४. अन्य उपाय

उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त बेरोजगारी दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय भी किए जा सकते हैं–

1. श्रमशक्ति का उचित नियोजन
2. बेरोजगारी बीमा
3. सहायक सेवाओं का विस्तार
4. सामाजिक सेवाओं का विस्तार
5. अवकाश ग्रहण की अधिकतम आयु को कम करना
6. ग्रामीण क्षेत्रों में निर्माण कार्य को बढ़ावा देना
7. स्त्रियों के लिए रोजगार में वृद्धि करना
8. कार्य संस्कृति का विकास
9. उद्योगों में उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रश्न–

लघूत्ततरात्मक प्रश्न

1. छुपी बेरोजगारी को संक्षेप में समझा कर लिखें।
2. मौसमी बेरोजगारी से आप क्या समझते हैं?
3. खुली अथवा दृश्य बेरोजगारी क्या है?
4. शिक्षित बेरोजगारी पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

वृहत्तात्मक प्रश्न

1. बेरोजगारी से आप क्या समझते हैं? भारत में बेरोजगारी के कारणों की व्याख्या करें।
2. बेरोजगारी के विभिन्न प्रकारों का वर्णन करें।
3. भारत में बेरोजगारी के आकार का विश्लेषण करते हुए पंजीकृत बेरोजगारों की स्थिति को स्पष्ट करें।
4. भारत में बेरोजगारी के कारणों का उल्लेख करते हुए बेरोजगारी दूर करने के विभिन्न उपायों को लिखें

गरीबी (Poverty)

गरीबी का अर्थ (Meaning of Poverty)

आज अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय दरिद्रता एवं आर्थिक विकास है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति गरीब है जो न्यूनतम जीवन–स्तर (Minimum Standard of Living) से भी नीचे जीवन–यापन के लिए मजबूर हो। समाज का वह वर्ग जो जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता हो–उसे गरीब कहते हैं। गरीबी की अवधारणा को अलग–अलग अर्थशास्त्रियों ने अलग–अलग प्रकार से व्याख्यायित किया है।

संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार जिन व्यक्तियों की वार्षिक आय 2600 रूपये से कम हो, वे गरीब हैं। भारतीय योजना आयोग के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र में 2400 एवं शहरी क्षेत्र में 2100 कैलोरी से कम प्रतिदिन उपभोग करने वाले का गरीब कहा जा सकता है।

जे.एल. हेन्सन (J.L. Henson) के अनुसार– "न्यूनतम जीवन स्तर को बनाए रखने के लिए जितनी आय की आवश्यकता है, उससे कम आय होने पर व्यक्ति को निर्धन कहा जायेगा।"

विश्व बैंक (World Bank) की विश्व विकास रिपोर्ट (World Development Report) 2000-01 के अनुसार दुनिया की कुल जनसंख्या का 20 प्रतिशत भाग निर्धनता रेखा के नीचे जीवन–यापन कर रहा है क्योंकि वे अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूति हेतु औसत एक डालर प्रतिदिन खर्च करने में भी असमर्थ हैं।

गरीबी की अवधारणा अलग–अलग देशों में वहां रहने वालों के न्यूनतम जीवन स्तर के आधार पर व्याख्यायित की गयी है। अमेरिका के वासी एवं भारत में रहने वालों के न्यूनतम जीवन स्तर में सापेक्षित अन्तर है। अतः अलग–अलग विद्वानों ने अलग–अलग ढंग से गरीबी को परिभाषित किया है। अन्ततः सभी परिभाषाएं अथवा व्याख्याएं न्यूनतम जीवन स्तर से ही जुड़ी हैं। गरीबी की धारणा एक सापेक्षिक अवधारणा है। अन्त में निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि गरीबी का अर्थ उस न्यूनतम आय से है जिसकी एक परिवार के लिए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यकता पड़ती है तथा जिसे वह परिवार जुटा पाने में असमर्थ होता है।

भारत में निर्धनता (Poverty in India)

एक अनुमान के अनुसार भारत की एक चौथाई जनसंख्या गरीबी में जी रही है। गरीबी भारतीय समाज की एक प्रमुख विशेषता है। कहा जाता है कि भारत एक समृद्ध राष्ट्र है जहां निर्धन जनता बसती है।

भारत में गरीबी को सापेक्षिक रूप में परिभाषित करने का प्रयास रहा है और सापेक्षिक अवधारणा के अनुसार न्यूनतम जीवन–स्तर से भी नीचे जीवन यापन करने वालों का गरीब कहा गया । भारतीय योजना आयोग ने 1960–61 में 20 रू. से कम प्रतिमाह प्रतिव्यक्ति औसत निर्वाह व्यय वालों को गरीबी रेखा से नीचे माना। 1968–69 में प्रतिव्यक्ति प्रति माह न्यूनतम औसत व्यय 40 रूपये रखी गयी। 1977–78 में ग्रामीण जनसंख्या के लिए न्यूनतम जीवन निर्वाह 61.80 एवं शहरी जनसंख्या के लिए 71.30 रूपये मासिक माना गया है। 1979–80 के मूल्यों के आधार पर ग्रामीण क्षेत्र में 51.3 रू. तथा शहरी क्षेत्र में 59.70 रूपये मासिक प्रति व्यक्ति उपयोग स्तर को दरिद्रता रेखा के रूपये में परिभाषित किया गया। 1984–85 में ग्रामीण जनसंख्या के लिए 107 रू. एवं शहरी जनसंख्या के लिए 122 रूपये न्यूनतम जीवन निर्वाह राशि मानी गयी। 1991–92 में ग्रामीण क्षेत्र में 181.50 रूपये एवं शहरी क्षेत्र में 209.50 औसत मासिक प्रति व्यक्ति व्यय के रूप में गरीबी रेखा (Poverty Line) को परिभाषित किया गया था। इसी वर्ष ग्रामीण क्षेत्रों में 11060 रूप्ये वार्षिक कम होने पर उस परिवार को गरीबी रेखा के नीचे (Below the Poverty Line) माना गया।

2004–05 में ग्रामीण क्षेत्रों के लिए रू.356.30 एवं शहरी क्षेत्रों के लिए रू. 538.60 प्रतिमाह निर्धारित किया गया।

भारतीय योजना आयोग के अनुसार 1980 में देश की कुल जनसंख्या का 48.4 प्रतिशत भाग (यानि 31. 73 करोड़) एवं 1984–85 के अन्त तक 37 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे थी।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के 2004–05 के सर्वेक्षण (Recall Mixed Period (MRP) 365 दिनों के उपभोग व्यय के आधार पर भारत में 1999–2000 में कुल निर्धनता का अनुपात 26.1 प्रतिशत था जिनमें शहरी गरीब 23.6 प्रतिशत और ग्रामीण, गरीब 27.1 प्रतिशत थे। निर्धनों की कुल जनसंख्या 26.02 करोड़ थी। वर्ष 2004–05 में कुल निर्धनता का अनुपात घटकर 21.8 प्रतिशत हो गया जिनमें शहरी गरीब 21.7 प्रतिशत और ग्रामीण गरीब 21.8 प्रतिशत थे। निर्धनों की कुल जनसंख्या 23.85 करोड़ थी, निर्धनता के आंकलन के लिए प्रतिव्यक्ति मासिक उपभोग व्यय को आधार बनाया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में रू. 356.30 प्रतिमाह और शहरी क्षेत्रों में रू. 538.60 प्रतिमाह निर्धारित किया गया है। अलग–अलग राज्यों के लिए यह राशियां अलग–अलग निर्धारित की गयी है।

इस प्रकार गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले लोगों के अनुपात में कमी आयी है। एक अनुमान के अनुसार 2012 तक गरीबी का अनुपात घटकर 15 रह जायेगा।

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बिहार एवं उत्तर पूर्वी राज्यों में निर्धनता का अनुपात ऊंचा है जब कि राजस्थान, केरल, जम्मू एवं कश्मीर, कर्नाटक, आंध्रप्रदेश, गोवा, दिल्ली, लक्षद्वीप, बंगाल आदि राज्यों में निर्धनता में कमी आयी है।

भारत में निर्धनता के कारण (Causes of Poverty in India)

भारत में गरीबी के अनेक आर्थिक और सामाजिक कारण है। भारतीय योजना आयोग के अनुसार भारत में गरीबी के प्रमुख दो कारण हैं– अल्प विकास व असमानता। गरीबी के अन्य कारणों में जनसंख्या में वृद्धि,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बेरोजगारी, निम्न उत्पादकता, पूंजी का अभाव, सामाजिक प्रथाएं आदि अनेक कारण हैं। गरीबी के कारणों को हम निम्न विदुओं में स्पष्ट कर सकते हैं–

१. जनसंख्या में वृद्धि (Population Growth)

भारत में लोगों का जीवन स्तर प्रतिव्यक्ति एवं उपभोग स्तर निम्न है और जनसंख्या में तेजी से वृद्धि विशेषकर गरीब लोगों में जनसंख्या में वृद्धि उन्हें और अधिक गरीब बना देती है। भारत में जनसंख्या की वृद्धि की वार्षिक दर 2.5 प्रतिशत है। यह दर न केवल ऊंची है बल्कि लगातार जनसंख्या में वृद्धि होती जा रही है। फलस्वरूप पहले से ही अल्प आय में जीने वाले लोग जनसंख्या वृद्धि के कारण अल्प उपभोग में जीने के लिए मजबूर हो जाते हैं और गरीबी में वृद्धि होती चली जाती है।

२. अल्प विकास (Under Developments)

महालनोबिस समिति के अनुसार गरीबी का प्रमुख कारण अपर्याप्त आर्थिक विकास है। भारत में प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता के बावजूद भी उनका भरपूर उपभोग अथवा विदोहन नहीं होने के कारण उत्पादन आय, रोजगार तथा उपभोग का स्तर बहुत नीचा है। वर्ष 1951 से 1985 के दौरान शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन की संयुक्त वृद्धि दर 3.7 प्रतिशत रही है। आठवीं योजना में यह वृद्धि दर बढ़कर 6.8 प्रतिशत हो गयी। दसवीं योजना के अन्त तक यह वृद्धि बढ़कर 8 प्रतिशत हो गयी है। वर्तमान योजना में राष्ट्रीय उत्पादन वृद्धि का लक्ष्य 10 प्रतिशत प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है। जनसंख्या वृद्धि के कारण आर्थिक विकास की दर धीमी रही है।

३. आर्थिक असमानता (Economic Inequality)

भारत में धन का वितरण अत्यधिक असमान है। धन एवं आय के वितरण की असमानता भारत में गरीबी का एक मुख्य कारण है। भारत में अधिक विकास का लाभ केवल कुछ लोगों तक ही सीमित रहा है। भारत में आर्थिक विकास ने अमीर को और अधिक अमीर और गरीब को और गरीब बना रहा है। हालांकि सरकार द्वारा गरीबी दूर करने हेतु अनेक ग्रामीण विकास एवं रोजगार कार्य चलाए गए हैं, जैसे–20 सूत्रीय कार्यक्रम, समन्वित ग्रामीण विकास, अनुसूचित एवं अनुसूचित जनजाति विकास कार्यक्रमों, रोजगार के विभिन्न कार्यक्रमों आदि। इन कार्यक्रमों के माध्यम से गरीबी को कम किया गया है फिर भी धन के वितरण की असमानता, अवसर की असमानता, क्षेत्रीय असमानता, प्रादेशिक असमानता, आय की असमानताएं एवं गरीबी को बढ़ाने का प्रमुख कारण रही हैं।

४. बेरोजगारी (Unemployment)

भारत में योजनाबद्ध रोजगार कार्यक्रमों के बावजूद भी बेरोजगारी में वृद्धि होती गयी है। भारत में पहली योजना के अन्त में बेरोजगारों की संख्या 53 लाख थी। वर्ष 2007 के अन्त तक बेरोजगारों की संख्या 5 करोड़ थी। सरकारी प्रयास जहां रोजगार में वृद्धि का का प्रयास करती है वहीं बढ़ती हुई जनसंख्या बेरोजगारों की संख्या को निरन्तर बढ़ाती रहती है। बेरोजगारी तथा गरीबी एक दूसरे में वृद्धि करने वाले हैं।

५. निम्न पूंजी निर्माण दर

भारत में गरीबी के कारण बचत कम होती है। अतः पूंजी की कमी एवं विनियोग में कमी के कारण पूंजी निर्माण की दर बहुत नीची रहती है। पूंजी की कमी के कारण कृषि के साथ–साथ उद्योग, उत्पादन एवं रोजगार का स्तर भी नीचा रहता है। पूंजी के अभाव के कारण उद्योगों के विकास को अधिक बल नहीं मिला। फलस्वरूप, उत्पादन, आय, रोजगार नीचा होने के कारण गरीबी में वृद्धि होती रही।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

६. मुद्रा स्फीति (Inflation)

मुद्रा स्फीति के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति घट जाती है। भारत में बार–बार मुद्रा स्फीति के कारण गरीबी में वृद्धि हुई है। मुद्रा स्फीति के कारण निर्धन वर्ग की मौद्रिक आय में वृद्धि के बावजूद भी इनकी वास्तविक आय में वृद्धि नहीं हो पाती। बढ़ती हुई महंगाई ने गरीबी में और अधिक वृद्धि की है। वर्तमान में कीमतों में वार्षिक वृद्धि 5 प्रतिशत से 6 प्रतिशत है। हाल के दिनों में दाल, शक्कर, खाद्य तेलों आदि के भाव आसमान छू रहे हैं।

७. प्राकृतिक प्रकोप एवं अकाल (Natural Calamities and Farrines)

भारत कृषि प्रधान है और यहां की कृषि मानसून पर निर्भर करती है। अनावृष्टि एवं अतिवृष्टि, बाढ़,सूखा आदि प्राकृतिक प्रकोपों के कारण कृषि को काफी हानि होती है। साथ ही भूकम्प, महामारी आदि प्राकृतिक आपदाओं के कारण ही गरीबी में वृद्धि होती जाती है।

८. प्राचीन तकनीक (Outdated Technology)

भारत के अधिकांश उद्योगों में प्राचीन तकनीक से उत्पादन कार्य किया जाता है जिससे वस्तु की उत्पादन की मात्रा एवं किस्म प्रभावित होती है जिसका प्रभाव लोगों की आय पर पड़ता है और चाह कर भी वे उत्पादन एवं आय में वृद्धि नहीं कर पाते। अतः प्राचीन प्रौद्यौगिकी गरीबी का एक प्रमुख कारण है।

९.गैर कृषि रोजगारों का अभाव(Lack of Employment in non-agricultural sector)

भारत में गैर कृषि कार्यों में रोजगार का अभाव है। बढ़ती हुई बेरोजगारी एवं बढ़ती जनसंख्या के कारण कृषि पर जनसंख्या के अत्यधिक भार को कम करने के लिए गैर कृषि रोजगारों में बढ़ती जनसंख्या को प्रयुक्त किया जा सकता है। पूंजी का अभाव, तकनीकी ज्ञान की कमी, अशिक्षा के कारण गैर कृषि कार्यों में रोजगार में वृद्धि नहीं हो पा रही है। अतः गरीबी बनी रहती है।

१०. अशिक्षा (Illiteracy)

भारत में सरकारी प्रयासों के बावजूद भी पूर्ण शिक्षा का अभियान पूर्णतः सफल नहीं हो पाया है। विशेषकर अशिक्षित ग्रामीणों को बेरोजगार रहना पड़ता है। अशिक्षित होने के कारण स्वयं का उद्यम भी सफलतापूर्वक नहीं कर सकते और फिजूलखर्ची को भी बढ़ावा मिलता है।

११. रूढ़िवादिता एवं अंधविश्वास

भारत में रूढ़िवादी परम्परा एवं अंधविश्वास के कारण लोग जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न आयोजनों में अनुत्पादक व्यय काफी मात्रा में करते हैं। इस व्यय को पूरा करने के लिए वे ऋण भी लेते हैं। अतः ऋण का भार पीढ़ी दर पीढ़ी ढोते रहते हैं। आय का एक बड़ा भाग ऋण चुकाने में एवं विभिन्न आयोजनों पर व्यय में चला जाता है। अतः गरीबी पीढ़ी दर पीढ़ी बरकरार रहती है।

१२. निर्धनता का दुश्चक्र (Vicious Circle of Poverty)

एक विद्वान के अनुसार– कोई भी देश इसलिए गरीब है क्योंकि वह गरीब है। गरीबी का दुश्चक्र ही गरीबी का कारण हैं । अल्प आय–अल्प बचत। अल्प विनियोग –अल्प उत्पादन, अल्प आय। यह दुश्चक्र चलता रहता है। अतः गरीबी विद्यमान रहती है।

१३. भ्रष्टाचार (Curruption)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भ्रष्टाचार भारतीय जीवन में इस प्रकार जड़ फैला रखा है कि ऊपर से लेकर नीचे तक प्रशासनिक व्यवस्थाओं में यह व्याप्त हो गया है। इसके कारण गरीबी दूर करने की सरकारी योजनाओं का सही ढंग से क्रियान्वयन नहीं हो पा रहा है। अधिकांश राशि एवं सुविधाएं जो गरीबों तक पहुंचनी चाहिए थी वह प्रशासन से जुड़े लोगों के जेब में चली जाती है। अतः गरीबी ज्यों की त्यों बनी रहती है।

१४. आधारभूत सुविधाओं का अभाव (Lack of Basic Social Facilation)

भारत में आधारभूत सुविधाओं जैसे–परिवहन के साधन, जलापूर्ति, ऊर्जा की आपूर्ति आदि आधारभूत सुविधाओं का अभाव है। फलतः आर्थिक विकास की दर नीची रहती है। फलस्वरूप गरीबी दूर करने में कठिनाई होती है।

१५.भूमि सुधार कार्यक्रमों की धीमी प्रगति (Slow Progress of Land Reforms)

भारत में भूमि सुधार के अनेक कार्यक्रम एवं कानून सरकारी स्तर पर बनाए गये लेकिन उनका दृढ़ता के साथ क्रियान्वयन नहीं हो पाया। फलस्वरूप जो परिणाम आने थे वे गरीब कृषि मजदूरों के हक में नहीं आ सके। भूमिहीनों हेतु भूमि का आबंटन भी सही तरीके से नहीं हो पाता है एवं इसमें काफी विलम्ब किया जाता है। अतः गरीबी दूर करने के प्रयास धरे के धरे रह जाते हैं।

उपरोक्त बिन्दुओं के अतिरिक्त निम्न आय, निम्न जीवन स्तर, संयुक्त परिवार प्रथा, निम्न उत्पादकता, ऋण ग्रस्तता आदि कई ऐसे अन्य कारण भी हैं जिससे भारत में गरीबी अभी भी एक बड़ी संख्या में व्याप्त है।

गरीबी दूर करने के उपाय/सुझाव (Steps & Suggestions to Eliminate Poverty)

भारत में अनेक योजनावद्ध सरकारी प्रयासों के बावजूद भी गरीबी का उन्मूलन नहीं हो पाया। भारत में गरीबी की जड़ इतनी गहरी है कि उसे तत्काल उन्मूलन करना आसान नहीं है। फिर भी यहां गरीबी दूर करने हेतु कुछ ऐसे कदम उठाने के लिए चन्द सुझाव प्रस्तुत हैं–

१. सरकारी नीतियों का ईमानदारी से कार्यान्वयन (Efficient Implementation of Govt. Policies)

सरकार द्वारा गरीबी हटाने हेतु तैयार की गयी योजनाओं एवं नीतियों का ईमानदारी से कार्यान्वयन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। कुशलतापूर्वक सरकारी कार्यक्रमों एवं नीतियों का संचालन करके ही गरीबों तक इसके लाभ को पहुंचाकर गरीबी उन्मूलन की दिशा में कार्य किया जा सकता है।

२. प्रशासनिक व्यवस्थाओं में सुधार (Administrative Reforms)

भारत में व्याप्त भ्रष्टाचार से प्रशासन को मुक्त करना होगा। प्रशासन ऐसा सक्षम एवं ईमानदार हो कि वे गरीबों के दुख दर्द को समझे एवं उनके लिए बनाये गये कार्यक्रमों का पूरा लाभ उन तक पहुंचाकर गरीबी को दूर करने में सहायक हों।

३. जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण (Population Control)

गरीबी दूर करने के लिए जनसंख्या पर नियंत्रण आवश्यक है। लोगों को शिक्षित करके एवं परिवार कल्याण की योजनाओं के द्वारा जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण किया जा सकता है। बढ़ती जनसंख्या पर नियंत्रण गरीबी उन्मूलन की ओर एक ठोस कदम होगा।

४. कृषि विकास कार्यक्रम (Agricultural Development Programmes)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भारत में ग्रामीण एवं कृषि क्षेत्रों में गरीबी का अनुपात बहुत अधिक है। भारत की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर करती है। अतः कृषि के विकास कार्यक्रमों को सही तरीके से क्रियान्वयन कर, भूमि सुधारों को लागू कर, कृषि के लिए खाद–बीज दवाओं को उपलब्ध करवा कर, कृषि बाजार एवं कृषि वित्त व्यवस्था में सुधार कर, कृषि क्षेत्र में मशीनों का उपयोग कर, खेती के आधुनिक तरीके अपना कर कृषकों, कृषि मजदूरों, ग्रामीणों की आय में वृद्धि कर गरीबी को दूर किया जा सकता है।

७. संसाधनों का पूर्ण उपयोग (Full Utilisation of Resources)

देश में उपलब्ध संसाधनों का पूर्ण उपयोग कर उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। जिससे लोगों की आय एवं रोजगार में वृद्धि होगी। राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होगी। गरीबी दूर करने की दिशा में यह एक सार्थक प्रयास होगा।

६. गैर–कृषि क्षेत्रों में रोजगार व्यवस्था (Employment in Non-Agricultural Sector)

जनसंख्या वृद्धि के कारण कृषि पर आश्रितों की संख्या कम करने के लिए गैर–कृषि रोजगारों में वृद्धि किया जाना आवश्यक है। इसके लिए लघु एवं कुटीर उद्योग, हस्त शिल्प उद्योग आदि का विकास करके गैर कृषि क्षेत्र में रोजगार में वृद्धि की जा सकती है ताकि कृषि पर से जनसंख्या के अत्यधिक भार को कम करके गरीबी कम की जा सके।

७. औद्योगिक विकास (Industrial Development)

औद्योगिक विकास करके कृषि पर जनसंख्या के भार को कम किया जा सकता है। औद्योगिक नीति, वित्तीय नीति, लाइसेंसिंग प्रक्रिया, पूंजी की पर्याप्त व्यवस्था, प्रशिक्षण व्यवस्था, उद्योगों को अनुदान, आधारभूत उद्योगों की स्थापना करके उद्योगों के विकास में सहयोग किया जा सकता है। उद्योगों के विकास से लोगों के आय एवं रोजगार में वृद्धि होगी और गरीबी उन्मूलन की दिशा में कदम आगे बढ़ेंगे।

८. विनियोगों में वृद्धि (Increase in Investment)

विनियोगों में वृद्धि हेतु लोगों के बचत की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना होगा। इसके लिए वित्तीय नीति एवं वित्तीय ढांचे में सुधार करके लोगों के बचत को आकर्षित किया जा सकता है जिससे विनियोगों में वृद्धि की जा सकती है। विनियोगों में वृद्धि से उत्पादन में वृद्धि होगी और इससे गरीबी निवारण के प्रयास को बल मिलेगा।

९. ग्रामीण एवं शहरी विकास हेतु विशेष कार्यक्रम (Programmes for Rural & Urban Development)

ग्रामीण एवं शहरी दोनों क्षेत्रों से गरीबी हटाने हेतु सरकार द्वारा विभिन्न कार्यक्रम बनाए जाने एवं उसे सही ढंग से दोनों क्षेत्रों में लागू करने की आवश्यकता है। वर्तमान में ऐसे कई कार्यक्रम संचालित भी हैं लेकिन उनका क्रियान्वयन सही तरीके से नहीं हो रहा है। इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्कता है।

१०. सामाजिक जागरण एवं सहयोग (Social Awareness and Cooperation)

विशेषकर भारत के ग्रामीण लोगों में सामाजिक जागरण जैसे–अधिकार एवं दायित्व, शिक्षा के विभिन्न सरकारी कार्यक्रमों एवं उनके लाभों की जानकारी, सामाजिक चेतना आदि के प्रति जागरूक कर लोगों के सामाजिक एवं आर्थिक विकास में वृद्धि की जा सकती है।

उपर्युक्त उपायों को अपना कर गरीबी दूर करने की दिशा में एक सार्थक प्रयास किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गरीबी हटाओ कार्यक्रम एवं सरकारी नीतियां

(Anti-poverty Programme and Govt. Policies)

भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से गरीबी उन्मूलन हेतु प्रथम पांच योजनाओं में सम्पूर्ण क्षेत्र का विकास करने वाली नीतियों एवं कार्यक्रम अपनाए गए जैसे–समाजवाद, सहकारिता, सामुदायिक विकास, भूमि सुधार, कृषि विकास हेतु हरित क्रांति, कुटीर उद्योग, न्यूनतम मजदूरी, जनसंख्या नियंत्रण, बचत–विनियोग को प्रोत्साहन, उद्योगों में श्रमिकों की भागीदारी आदि। इन कार्यक्रमों के माध्यम से गरीबी–उन्मूलन का प्रयास किया गया। छठी से दसवीं योजना तक गरीबी पर सीधा प्रहार करने वाली योजनाएं क्रियान्वित की गयी। इनमें प्रमुख हैं–काम में बदले अनाज योजना, इन्दिरा गांधी आवास योजना, समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP)] अन्त्योदय योजना, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP)] स्वरोजगार प्रशिक्षण (TRYSEM), ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारन्टी कार्यक्रम (RLEGP) जवाहर रोजगार योजना (JRY) नेहरू रोजगार योजना (NRY) बीस सूत्री कार्यक्रम, प्रधानमंत्री रोजगार योजना (PMRY), स्वर्ण जयंती शहरी रोजगार योजना (SISRY) इत्यादि।

इस प्रकार गरीबी उन्मूलन के लिए सरकार की ओर से सभी योजनाओं में विभिन्न रोजगार कार्यक्रम अपनाए गए। इसके फलस्वरूप गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों की संख्या का अनुपात कम हुआ। आंकड़े बताते हैं कि 1977–78 में निर्धनता का अनुपात 51.3 था जो 2004–05 तक घट कर 21.8 हो गया।

वास्तविकता यह है कि सरकार के इन प्रयासों के बावजूद भी निर्धनता में कोई विशेष कमी नहीं आई है। योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य प्रो. राजकृष्ण के अनुसार ये आंकड़े तथ्यों पर आधारित नहीं है। इन योजनाओं के लिए खर्च की जाने वाली राशि एक बड़ी मात्रा में बिना उपयोग के ही रह जाती है। प्रशासनिक अधिकारियों एवं योजना से जुड़ी वित्तीय संस्थाओं एवं एजेन्सियों में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण निर्धारित राशि का बहुत ही थोड़ा भाग गरीबों तक पहुंच पाता है। कार्यक्रमों के लाभ का एक बड़ा भाग समाज के दबंग एवं बड़े लोगों द्वारा हड़प लिया जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि सरकारी प्रयासों के बावजूद भी गरीबी हटाओ कार्यक्रम अभी तक उतना सफल नहीं हो सका है।

गरीबी हटाओ कार्यक्रम की विफलता के कारण

(Causes for the Failures to Remove Poverty)

भारत सरकार द्वारा योजना बद्ध तरीके से गरीबी हटाने के विभिन्न प्रभावशाली कार्यक्रम लाये गये एवं समय–समय पर गरीबी हटाओ सम्बन्धित नीतियां बनाई गयीं। सरकार की पुरजोर कोशिश के बावजूद भी गरीबी हटाओ कार्यक्रम असफल रहा है। इसके निम्नलिखित कारण है–

१. जनसंख्या में वृद्धि (Increasing Population)

सरकार के द्वारा विभिन्न परिवार नियोजन कार्यक्रमों को लागू करने के बावजूद भी जनसंख्या वृद्धि को रोका नहीं जा सका। जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के कारण गरीबी हटाओ कार्यक्रम असफल होते रहे क्योंकि उन कार्यक्रमों के माध्यम से गरीबी की संख्या में जितनी कमी की जाती थी उससे कहीं अधिक गरीब पैदा हो जाते थे।

२. आय के वितरण में असमानता (Desparaty in distribution of Income)

आय के वितरण की असमानता गरीबी हटाओ कार्यक्रम की विफलता का एक प्रमुख कारण है। विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से उत्पादन तो बढता है लेकिन बढ़ी हुई आय का वितरण समान नहीं होने के कारण अमीर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और अधिक अमीर और गरीब और अधिक गरीब होता जा रहा है। इसके लिए ग्रामीणों, कृषकों के लिए भू सुधार कार्यक्रम एवं शहरी सम्पत्ति की अधिकतम सीमा का निर्धारण एवं उसकी कठोरता से अनुपालना आवश्यक है।

३. प्रति व्यक्ति आय की गलत अवधारणा (Wrong Concept of Per Capita Income)

हम यह मान लेते हैं कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि से प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की जा सकती है और प्रतिव्यक्ति आय कीऊंची होती दर गरीबी उन्मूलन की दिशा में प्रगति का सूचक है। लेकिन हम यह गलत अवधारणा लेकर चल रहे हैं क्योंकि वास्तविकता यह है कि बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय का एक बड़ा भाग कुछ ही लोगों के पास होता है। अधिकांश लोगों की आय में कोई विशेष सुधार नहीं होता।

४. करारोपण व्यवस्था का प्रभावी क्रियान्वयन नहीं (Ineffective Implementation of Taxation System)

यह माना जाता है कि प्रगतिशील कर प्रणाली से अधिक विषमता को कम किया जा सकता है। करारोपण व्यवस्था का प्रभावी क्रियान्वयन नहीं हो पाता है। गरीब भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

७. समाजकल्याण कार्यक्रमों का लाभ कुछ हाथों में केन्द्रित

यह माना जाता है कि समाज कल्याण कार्यक्रमों से गरीबों का जीवन उन्नत हो जायेगा। किन्तु वास्तव में इन कार्यक्रमों का लाभ गरीबों तक नहीं पहुंच पाता है। समाज कल्याण कार्यक्रमों का लाभ कुछ ही लोगों तक केन्द्रित हो जाता है।

६. बेरोजगारी (Unemployment)

जहां बेरोजगारी है, वहाँ गरीबी है। भारत में व्याप्त बड़ी संख्या में बेरोजगारी गरीबी में वृद्धि का कारण है। गरीबी हटाओ कार्यक्रम बढ़ती बेरोजगारी के कारण पूर्ण रूप से प्रभावी नहीं हो पाते।

७. भू स्वामित्व व्यवस्था अपरिवर्तित (Unchaged Land Honourship Policies)

भू स्वामित्व में परिवर्तन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया जिसके कारण उत्पादन वृद्धि के लाभ जो छोटे कृषकों, कृषि मजदूरों, भूमिहीनों को प्राप्त होने वाले थे। वे उन्हें नहीं मिल सके। अतः ग्रामीण एवं कृषि क्षेत्र में गरीबी विद्यमान रही।

प्रश्न

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. गरीबी का अर्थ लिखें।
2. भारत में निर्धनता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
3. ज्नसंख्या में वृद्धि गरीबी का प्रमुख कारण है– संक्षेप में लिखें।
4. ग्रीबी हटाओ कार्यक्रम पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
5. ग्रीबी हटाओ कार्यक्रम की विफलता के चार प्रमुख कारणों को लिखें।

वृहत्तरात्मक प्रश्न

1. गरीबी की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए भारत में निर्धनता के कारणों की व्याख्या करें।
2. भारत में व्याप्त गरीबों की ब्याख्या करते हुए गरीबी दूर करने के उपायों को लिखें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्षेत्रीय असंतुलन (Regional Imbalance)

क्षेत्रीय असन्तुलन से तात्पर्य है किसी देश में आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक विकसित राज्यों/क्षेत्रों एवं पिछड़े राज्यों/क्षेत्रों के अस्तित्व से है। कुछ क्षेत्र अथवा राज्य तो बहुत अधिक विकसित होते हैं तो कुछ क्षेत्र अथवा राज्य तुलनात्मक रूप से कम विकसित होते हैं। यह असंतुलन अन्तर्राज्यीय स्तर पर अथवा एक ही राज्य में अलग अलग क्षेत्रों में हो सकता है। वैसे हम विश्व स्तर पर भी देखें तो दुनियां के ऐसे बहुत से देश जैसे–यू.एस.ए., जापान, कनाडा, आस्ट्रेलिया, यूरोपीय देश आदि बहुत विकसित हैं इनकी तुलना में लेटिन अमेरिका अफ्रीका, एशिया के अनेक देश अत्यधिक पिछड़े हुए हैं।

इसी प्रकार भारत में आजादी के इतने वर्षों बाद भी योजनाबद्ध विकास कार्यक्रमों को अपनाने के बावजूद भी कुछ क्षेत्र/राज्य तो बहुत विकसित हो गए हैं और कुछ क्षेत्रों/राज्य अभी भी पिछड़े एवं अविकसित हैं।

यह क्षेत्रीय असंतुलन प्राकृतिक संसाधनों के असमान वितरण के कारण भी हो सकता है अथवा स्वयं मानव निर्मित भी हो सकता है। असंतुलन को हम तुलनात्मक आर्थिक विकास की दृष्टि से देखते हैं।

क्षेत्रीय असंतुलन के सूचक (Indicators of Regional Imbalance)

क्षेत्रीय असंतुलन का अध्ययन करने हेतु निम्नलिखित सूचकों को आधार माना गया है।

1. प्रति व्यक्ति शुद्ध घरेलू उत्पाद (Per Capita Net State Domestic Product)
2. शुद्ध राज्य घरेलू उत्पाद में वृद्धि की दरे (Growth Rates of NSDP)
3. विनियोग एवं वित्तीय सहायता (Investment and Financial Assistance)
4. आधारभूत संरचना का विकास (Development of Infrastructure)
5. सामाजिक ढांचे का विकास (Development of Social Structure)

भारत में क्षेत्रीय असंतुलन (Regional Imbalance)

क्षेत्रीय असंतुलन के निर्धारित सूचकों के आधार पर भारत की क्षेत्रीय असंतुलन का जो अध्ययन किया गया है वह संक्षेप में निम्न प्रकार है–

१. प्रति व्यक्ति NSDP के आधार पर क्षेत्रीय विषमताएं (Regional Imbalance on the Basis of Per Capita NSDP)

भारत में कुछ राज्य जहाँ प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध हैं और वहां तीव्र आर्थिक विकास के कारण प्रति व्यक्ति आय भी अधिक है। वहीं भारत में कुछ ऐसे पिछड़े राज्य हैं जहां प्रति व्यक्ति आय भी बहुत कम है।

प्रतिव्यक्ति आय की दृष्टि से भारत में सर्वाधिक उन्नत प्रदेश गोवा, चंडीगढ़, दिल्ली, पांडिचेरी, अंडमान निकोबार, पंजाब, महाराष्ट्र, हरियाणा, गुजरात एवं तमिलनाडु है। जबकि प्रतिव्यक्ति आय की दृष्टि से सर्वाधिक पिछड़े हुए राज्य हैं – बिहार, झारखण्ड, उत्तर प्रदेश, असम एवं उड़ीसा। आर्थिक सर्वेक्षण 2004–05 के अनुसार वर्ष 2001–02 में प्रति व्यक्ति आय गोवा में 49676, चंड़ीगढ़ में 48974, दिल्ली में 43751, पांडिचेरी में 36663, अंडमान–निकाबार में 25982, पंजाब में 25248 गुजरात में 20695, तमिलनाडु में 20315, हरियाणा में 24820 थी। जबकि बिहार में 5445, झारखण्ड में 9392, उत्तरप्रदेश में 9753, असम में 11034, उड़ीसा में 10021 थी। इन आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि भारत में सर्वाधिक पिछड़ा प्रदेश बिहार एवं सर्वाधिक उन्नत प्रदेश गोवा है। भारत के पिछड़े प्रदेश बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा, असम प्राकृतिक संसाधनों से भरे हैं फिर भी योजनाबद्ध विकास के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बावजूद ये प्रदेश बहुत पिछड़े हुए है। क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे बड़े राज्य राजस्थान एवं मध्यप्रदेश भी प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से पिछड़े हुए है। पंजाब में प्रति व्यक्ति आय बिहार की आय से पांच गुणा ज्यादा है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि वर्ष 1981 में बिहार की प्रति व्यक्ति आय 1022 थी और गोवा की प्रतिव्यक्ति आय 3200 थी। इस प्रकार वर्ष 1980–81 में इन दोनों राज्यों में प्रतिव्यक्ति आय में तीन गुणा अन्तर था जो कि वर्ष 2001–02 में यह अन्तर बढ़कर 9.5 गुणा हो गया। इससे स्पष्ट होता है कि समय के साथ पिछड़े एवं उन्नत प्रदेशों के बीच प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से असंतुलन बढ़ता गया है।

योजना आयोग के द्वारा 23 अप्रैल 2002 को जारी राष्ट्रीय मानव संसाधन विकास रिपोर्ट (National Human Resources Development) के अनुसार चण्डीगढ़, दिल्ली, केरल, पंजाब और हिमांचल प्रदेश ने उदारीकरण का फायदा उठाया और यहां तेजी से आर्थिक विकास हुआ, जबकि राजस्थान, बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश जैसे राज्य मानव संसाधन विकास में पीछे रहे।

२. शुद्ध राज्य घरेलू उत्पाद में वृद्धि दर के आधार पर क्षेत्रीय असमानता (Regional Disparities on the Basis of Growth Rates of NSDP)

शुद्ध राज्य घरेलू उत्पादन की दर पिछड़े राज्यों में बहुत ही कम है जबकि विकसित राज्यों में अधिक है। वर्ष 1990–2000 की अवधि के बीच पांडिचेरी में NSDP की औसत वृद्धि दर 16.7% रही जबकि बिहार में यह 8. 8% ही रही। यही दर असम में 9% मध्य प्रदेश में 9.6% रही है है जबकि गोवा में 15.3% केरल में 15.2% रही है। वर्ष 2002–03 में केन्द्र शासित प्रदेश चंडीगढ़ की प्रति व्यक्ति NSDP 52795 रू. थी जबकि बिहार में NSDP मात्र 6015 रू. थी। सर्वाधिक एवं न्यूनतम प्रति व्यक्ति NSDP के बीच अन्तर 8.76:1 था।

सकल घरेलू उत्पाद (GDP) की दृष्टि से भी विभिन्न राज्यों में असमानताएं स्पष्ट दिखती है। दसवीं योजना में (2002–07) GDP की अनुमानित अखिल भारतीय GDP की वृद्धि दर 8.00 थी। इसमें कर्नाटक, गुजरात, दिल्ली, तमिलनाडु की GDP क्रमशः 10.1, 10.2, 10.6, 9.3% रही है। जो अखिल भारतीय औसत से अधिक है जबकि बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश व आन्ध्र प्रदेश की GDP क्रमशः 6.4, 7.6, 6.6 एवं 6.8 रही है। जो अखिल भारतीय औसत से कम है।

३. विनियोग एवं वित्तीय सहायता की प्रवृत्ति (Trends in Investment and Financial Assistance)

भारत में औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े राज्यों में सरकार द्वारा विभिन्न अनुदान, सहायता कार्यक्रम, प्रेरणाओं के कार्यक्रमों की क्रियान्विति के बावजूद भी निवेशकों ने विकसित राज्यों में ही विनियोग अधिक किया। वित्तीय संस्थाओं ने भी पिछड़े राज्यों की अपेक्षा विकसित राज्यों में अधिक वित्तीय सुविधाएं प्रदान की। इस प्रकार विनियोग एवं वित्तीय सहायता की स्थिति के आधार पर भी क्षेत्रीय विषमताएं स्पष्ट होती है।

वर्ष 1991 में उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की नीति अपनाने के कारण कुल निवेशों में वृद्धि तो हुई लेकिन ये निवेश अधिकांशतः आर्थिक रूप से विकसित राज्यों में ही किया गया। इससे देश में क्षेत्रीय असन्तुलन में और अधिक वृद्धि हुई है। इस बात का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि 1991 के बाद देश में जो कुल निवेश किया गया उसका 58 प्रतिशत भाग केवल पांच राज्यों यथा–महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात, आंन्ध्रप्रदेश में किया गया। पिछले एक दशक में कुल निवेश का लगभग 37 प्रतिशत दो राज्यों गुजरात एवं महाराष्ट्र में किया गया, जबकि इसी अवधि में बिहार में 1.2 प्रतिशत, उड़ीसा में 2.2 प्रतिशत, असम में 0.7 प्रतिशत निवेश हुआ है। इससे क्षेत्रीय विषमता स्पष्ट देखी जा सकती है। देश की वित्तीय संस्थाओं ने भी पिछले एक दशक में ऋण एवं सहायता का लगभग 70 प्रतिशत केवल नौ विकसित राज्यों को प्रदान की है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बैंकों द्वारा दिये गये ऋण भी देश में क्षेत्रीय असन्तुलन को बढ़ा रहे हैं। ऋण का अधिकांश भाग अधिक विकसित राज्यों को प्रदान किया गया है। जबकि पिछड़े राज्यों को पर्याप्त वित्तीय सुविधा नहीं मिलती है। उदाहरण के लिए सितम्बर 2004 में अखिल भारतीय स्तर पर प्रति व्यक्ति बेंक ऋण 8617 रू. थी, जिसमें महाराष्ट्र में 27776 रू. तमिलनाडु में 14123 रू., केरल में 10270 रू., कर्नाटक में 12089 रू. थी। जबकि बिहार में यह राशि 1075 रू., असम में 1807 रू. तथा उत्तर प्रदेश में 2300 रू. प्रति व्यक्ति थी।

४. आधारभूत संरचना का विकास (Development of Infrastructure)

आधारभूत आर्थिक ढाँचा में मुख्यतः ऊर्जा के स्रोत, परिवहन के साधन, सड़कों का विकास, सिंचाई की सुविधा, दूरसंचार इत्यादि को शामिल किया जाता है। जिन क्षेत्रों में आर्थिक ढांचे का पर्याप्त विकास होता है वहाँ आर्थिक विकास तेजी से होता है। इसके विपरीत जिन क्षेत्रों में आर्थिक ढांचे का विकास पर्याप्त नहीं होता वहां आर्थिक विकास धीमी गति से होता है।Economic Review 2004–05 के अनुसार 31 मार्च 2003 को देश के विकसित राज्यों जैसे आन्ध्रप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, हरियाणा, तमिलनाडु केरल में शत् प्रतिशत गांव में विद्युतीकरण था। जबकि बिहार में 71.1%, उड़ीसा में 79.4%, असम में 77.1% गांव में विद्युतीकरण था। 31 मार्च 2002 को पंजाब में 12527 मोटर गाड़ियां प्रति लाख जनसंख्या पर थी, जबकि बिहार में 1200 तथा असम में 2201 मोटर गाड़िया प्रति लाख जनसंख्या थी।

31 मार्च 1999 को प्रति 100 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में सड़कों की लम्बाई केरल में 382 किलोमीटर, उड़ीसा में 169 किलोमीटर और पंजाब में 128 किलोमीटर थी, जबकि राजस्थान में 41 किलोमीटर और मध्यप्रदेश में 46 किलोमीटर थी। उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत में आर्थिक ढांचे के विकास में असंतुलन है। आर्थिक ढांचे का विकास सूचकांक (Infrastructural development Index IDI) कुछ राज्यों में ऊंचा होते हुए भी पिछड़े हुए है। जबकि कुछ विकसित राज्यों का IDI बहुत कम है। Centre for monitoring Indian Economy CMIE के Profile of States, March 1997 के अनुसार IDI जहां पंजाब में 191.4 केरल में 157, तमिलनाडु में 144.0 हरियाणा में 141.3 था वहीं बिहार में 81.1 मध्य प्रदेश में 75.3 असम में 78.9 था।

५. सामाजिक ढाँचा एवं मानव विकास (Social Infrastructure and Human Development)

सामाजिक ढांचा के विकास के कमी के कारण मानव विकास नहीं हो पाता है। इस कारण भी भारत में आर्थिक विषमताएं व्याप्त है। हालांकि कुछ राज्य ऐसे भी हैं जहाँ आर्थिक विकास का निम्न स्तर होने के बावजूद भी मानव विकास अच्छा हुआ है। यह सही है कि जहाँ प्रति व्यक्ति शुद्ध राज्य घरेलू उत्पाद (NSDP) अधिक है, वहां मानव विकास का स्तर भी ऊंचा है। मानव विकास के स्तर को ऊंचा करने के लिए स्वास्थ्य एवं शिक्षा पर निवेश आवश्यक है। सार्वजनिक क्षेत्र में इस दिशा में निवेश कम हुआ है। निजी क्षेत्र ने इस ओर जो निवेश किया है उसका अधिकांश लाभ उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग के लोगों को ही मिला है। ग्रामीण एवं निर्धन लोग इसके लाभ से वंचित रहे हैं, इससे क्षेत्रीय आर्थिक विषमताएं और अधिक बढ़ी है। भारत में उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार एवं असम राज्य उच्च जन्मदर वाले हैं साथ ही मध्य प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, असम एवं बिहार उच्च मृत्युदर वाले राज्य हैं। Economic Review 2004-05 Govt. of Rajasthan के अनुसार आन्ध्रप्रदेश में साक्षरता का प्रतिशत 61.11, बिहार में 47.53, जम्मू कश्मीर में 54.46 है जबकि केरल में 90.92 हिमांचल में 77.13 महाराष्ट्र में 76.88 था। तमिलनाडु में नगरीय जनसंख्या का प्रतिशत 43.86, महाराष्ट्र में 42.40, गुजरात में 37.35 था जबकि हिमांचल में 9.79 बिहार में 10.47, असम में 12.72 था। Ministry of Health and Family Welfare, Govt of India के अनुसार 2002 में उत्तर प्रदेश में जन्मदर 31.6, बिहार में 30.9 राजस्थान 30.6 थी। जबकि केरल में 16.9, तमिलनाडु में 18.5, पं. बंगाल में 20.5 थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपरोक्त आंकड़े भारत में व्याप्त समाज ढांचे एवं मानवीय विकास के असंतुलन को स्पष्ट दर्शाते हैं।

क्षेत्रीय असंतुलन के कारण (Causes of Regional Imbalance)

भारत में क्षेत्रीय असंतुलन के निम्नलिखित कारण है–

१. स्वतंत्रता पूर्व असंतुलित विकास

भारत में आजादी के पूर्व अंग्रेजी शासन में देश का असंतुलित विकास क्षेत्रीय आर्थिक असंतुलन का एक प्रमुख कारण है। ब्रिटिश शासन काल में भारत में महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल तथा मद्रास के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया क्योंकि उन क्षेत्रों में उत्पादन एवं व्यापारिक क्रियाओं हेतु पर्याप्त सुविधाएं थी। देश के अन्य प्रदेशों की उपेक्षा के कारण वहां औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास नहीं हुआ।

२. स्वतंत्रतापूर्व भू-स्वामित्व की दोषपूर्ण प्रणाली

ब्रिटिश शासन काल में भू स्वामित्व की प्रणाली के कारण भी विषमताएं बनी रहीं। आजादी के बाद जिन राज्यों में जमीदारी प्रथा खत्म की गयी एवं भूमि सुधार कार्यक्रमों को लागू किया गया, सिंचाई तथा ऊर्जा के साधनों का विकास किया गया, वे राज्य विकास की ओर तीव्र गति से बढ़े।

३. भौगोलिक पार्थक्य (Geographical Isolation)

भारत एक भौगोलिक विभिन्नताओं वाला देश है। कहीं पर्वत श्रृंखला है तो कहीं मैदान है, कहीं पठार है तो कहीं मरूभूमि है। कहीं जंगलों का आधिक्य है तो कहीं रेत के टीले हैं। किसी क्षेत्र में खनिजों का आधिक्य है तो कहीं कृषि की दृष्टि से उपजाऊ भूमि है। कहीं नदियां हैं। इन भौगोलिक पार्थक्य के कारण ही विभिन्न क्षेत्रों का विकास एक समान नहीं हो पाया है। जहां संसाधनों की अनुकूलता रही वहां विकास अधिक तीव्र गति से हुआ और जहां भौगोलिक स्थिति में प्रतिकूल रहीं वहां विकास कम हुआ।

४. परिवहन साधनों का अभाव

भारत में सभी राज्यों में परिवहन सुविधाओं का समान विकास नहीं हुआ है। कुछ क्षेत्र आज भी ऐसे हैं जहां अभी तक गांवों को सड़कों द्वारा नहीं जोड़ा गया। यातायात की अन्य सुविधाओं का भी अभाव है। जहां यातायात की पर्याप्त सुविधाएं हैं उन क्षेत्रों का आर्थिक विकास अच्छा हुआ है। इसके विपरीत विकास की गति बहुत धीमी रही है।

५. कुशल श्रमिकों का अभाव

भारत में अधिकांश श्रमिक विशेषकर ग्रामीण श्रमिक अशिक्षित, अकुशल हैं। शिक्षा एवं प्रशिक्षण सुविधाओं का अभाव है। अकुशल एवं तकनीकी प्रशिक्षित श्रमिकों का अभाव जिन क्षेत्रों में है, वहां आर्थिक विकास कम हुआ है और जहां ऐसे श्रमिकों की बहुलता है, वहां आर्थिक विकास तेजी से हुआ है। अतः क्षेत्रीय विषमता कुशल श्रमिकों के अभाव के कारण बढ़ी है।

६. ऊर्जा एवं सिंचाई के साधनों का अभाव

आजादी के बाद इस ओर योजनाबद्ध तरीके से कार्यक्रम अपनाए गए हैं फिर भी अभी कई राज्य ऐसे हैं जहां सिंचाई सुविधाओं का अभाव है एवं ऊर्जा की पर्याप्त मात्रा में आपूर्ति नहीं हो पा रही है। फलतः औद्योगिक एवं कृषि दोनों का ऐसे क्षेत्रों में पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। जहां ये सुविधा उपलब्ध हैं, वहां समुचित विकास हुआ है।

७. अशिक्षा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भारत में सभी राज्यों में शिक्षित की संख्या एक जैसी नहीं है। कुछ राज्य में साक्षरता अधिक है तो पिछड़े राज्यों में साक्षरता का प्रतिशत बहुत ही कम है। कुछ राज्य तो शिक्षा सुविधाओं के क्षेत्र में अग्रणी हैं तो कुछ राज्य अभी भी काफी पिछड़े हैं। शिक्षा एवं प्रशिक्षण के क्षेत्र में विकास का अभाव क्षेत्रीय आर्थिक असंतुलन का एक बड़ा कारण है।

८. पूंजी की कमी

पिछड़े राज्यों में अल्प आय के कारण बचत एवं निवेश दोनों बहुत ही कम हो पाते हैं। पूंजी का अभाव आर्थिक विकास को हतोत्साहित करता है। जिन राज्यों की प्रति व्यक्ति आय अधिक है वहां पूंजी निर्माण की दर अधिक होती है। पूंजी की पर्याप्त उपलब्धता उत्पादन कार्यों के लिए रक्त का काम करती है। आर्थिक विकास तेजी से होता है। पूंजी अनुपलब्धता आर्थिक असंतुलन का प्रमुख कारण है।

९. साहसियों की कमी

आर्थिक विकास में साहसियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। भारत में कुछ क्षेत्रों में राज्यों में साहसी रूचि लेकर उत्साह के साथ कार्य करते हैं एवं परम्परागत व्यवसाय के रूप में भी उत्पादन कार्यों में संलग्न रहते हैं। कुछ प्रदेश ऐसे भी है जहां साहसियों की कमी रहती है। अन्य राज्यों के साहसी भी अनुकूलता के अभाव में वहां उद्यम नहीं लगाना चाहते। अतः उन प्रदेशों का आर्थिक विकास नहीं हो पाता है। यह असंतुलन साहसियों की कमी के कारण उत्पन्न होते है।

इस प्रकार भारत में अनेक सामाजिक, भौगोलिक एवं आर्थिक कारण हैं, जो क्षेत्रीय असंतुलन को बनाए रखते हैं।

क्षेत्रीय असंतुलन दूर करने के उपाय

(Measures for Removing Regional Imbalances)

भारत में व्याप्त क्षेत्रीय असंतुलन को निम्नलिखित उपायों से दूर किया जा सकता है–

१. आर्थिक संरचना का विकास (Development of Infrastructure)

भारत में जो राज्य आर्थिक ढांचागत विकास में पिछड़े हुए हैं, वहाँ आर्थिक संरचना का तेजी से विकास करके वहां आर्थिक विकास की गति को तेज किया जा सकता है। परिवहन, सिंचाई, बिजली, सड़क, शिक्षा, वित्तीय सुविधा, तकनीकी शिक्षा का विकास करके पिछड़े राज्यों का आर्थिक विकास किया जा सकता है। इससे क्षेत्रीय असंतुलन को दूर किया जा सकता है।

२. सामाजिक ढांचे का विकास (Development of Social Infrastructure)

सामाजिक ढांचे, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि में विकास करके पिछड़े राज्यों में आर्थिक विकास कर क्षेत्रीय विषमता को दूर किया जा सकता है। सामाजिक ढांचे में सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा विशेष निवेश बढ़ाकर वहां विकास का वातावरण तैयार किया जा सकता है।

३. भूमि सुधार कार्यक्रम

स्वतंत्रता के 64 वर्ष वाद भी भूमि सुधार कार्यक्रमों के लाभ से भारत के अनेक राज्य वंचित हैं। ऐसे प्रदेशों में ईमानदारी पूर्वक भूमि सुधार कार्यक्रमों को लागू कर वहां आर्थिक प्रगति की जा सकती है। इससे क्षेत्रीय विषमताएं कम होंगी।

४. औद्योगीकरण (Industrialisation)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पिछड़े राज्यों में औद्योगीकरण को बढ़ावा देने हेतु सार्वजनिक क्षेत्र विशेष रूचि ले एवं निजी क्षेत्रों को भी इस ओर प्रोत्साहित करे। सरकार राजकोषीय एवं मौद्रिक नीतियों के माध्यम से औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करके क्षेत्रीय विषमता कम करने की दिशा में प्रयास कर सकती है।

७. सुदृढ़ प्रशासन व्यवस्था (Good Governance)

क्षेत्रीय असतुंलन दूर कर प्रदेश के आर्थिक विकास में राज्य सरकार प्रशासन की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। सरकार एक अच्छे प्रशासन के साथ क्षेत्रीय आर्थिक विकास में सहयोग कर सकती है। भारत के कई ऐसे विकसित राज्य हैं जहां अच्छे प्रशासन के कारण विकास को बढ़ावा मिला है।

६. क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम (Special area development Programme)

पिछड़े क्षेत्रों के विकास हेतु विशेष विकास कार्यक्रम तैयार कर उन्हें क्रियान्वित किया जाए। इससे क्षेत्रीय अनुकूलता के आधार पर विकास को गति देने में सुविधा रहती है एवं विकास तेजी से होता है।

७. स्वैच्छिक एवं गैर सरकारी संगठनों द्वारा प्रयास (Efforts Through Volentry and Non-Govt. Organisation)

पिछड़े राज्यों में विकास की गति को तेज करने के लिए स्वेच्छिक संगठनों निजी संगठनों, गैर–सरकारी संगठनों का सहयोग लिया जा सकता है।

इस प्रकार उपरोक्त उपायों को अपनाकर क्षेत्रीय विषमताओं को दूर किया जा सकता है।

प्रश्न

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. आधारभूत संरचना के विकास के आधार पर क्षेत्रीय असंतुलन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
2. प्रति व्यक्ति एन.एस.डी.पी. के आधार पर क्षेत्रीय असंतुलन का विश्लेषण करें।

वृहत्तरात्मक प्रश्न

1. क्षेत्रीय असंतुलन से आप क्या समझते हैं? निर्धारित सूचकों के आधार पर भारत में क्षेत्रीय असतुंलन का वर्णन करें।
2. भारत में क्षेत्रीय असंतुलन के कारणों की व्याख्या करें। क्षेत्रीय असंतुलन को दूर करने के विभिन्न उपायों को लिखें।

सामाजिक अन्याय

(Social Injustice)

सामाजिक अन्याय का अर्थ है– आय एवं धन मं असमानता, क्षेत्रीय विकास में असमानता, बेरोजगारी, शिक्षा सुविधाओं का अभाव, स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव, जलापूर्ति की कमी, महिलाओं, बच्चों, विकलांगों, वृद्धों आदि के प्रति अन्याय आदि। किसी भी देश का आर्थिक विकास तब तक अधूरा रहता है जब तक उस देश में सामाजिक अन्याय व्याप्त है। विश्व के लगभग सभी देश इस समस्या से जूझ रहे हैं। सामाजिक अन्याय आर्थिक विकास को प्रभावित करता है। आर्थिक विकास के रास्ते में सामाजिक अन्याय एक प्रमुख समस्या है। अविकसित एवं विकासशील देशों में यह समस्या प्रमुख रूप से व्याप्त है। क्योंकि ऐसे देशों में आर्थिक संसाधनों के अभाव के साथ–साथ अशिक्षा एवं रूढ़िवादिता भी व्याप्त है एवं सरकार द्वारा भी इस दिशा में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किए जाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सामाजिक अन्याय के सूचक (Indicators of Social Injustice)

किसी भी देश में नागरिकों को सामाजिक न्याय मिल रहा है या नहीं अथवा सामाजिक न्याय की क्या स्थिति है, इसके लिए कुछ सूचक (Indicators) निर्धारित किए गए हैं, जिनके आधार पर सामाजिक अन्याय की स्थिति का विश्लेषण किया जा सकता है। ये सूचक निम्नलिखित हैं–

1. मानव विकास सूचकांक (Human Development Index):

मानव विकास सूचकांक निम्नलिखित तीन आधारों पर तैयार किया गया है–

1. दीर्घ आयु एवं स्वास्थ्य
2. शिक्षा एवं ज्ञान
3. अच्छा जीवन–स्तर

UNDP ने मानव विकास सूचकांक (HDI) के आधार पर दुनिया के सभी देशों को तीन समूहों में बांटा है:

1. उच्च मानव विकास सूचकांक वाले देश
2. मध्यम मानव विकास सूचकांक वाले देश
3. निम्न मानव विकास सूचकांक वाले देश

यू.एन.डी.पी. की रिपोर्ट के अनुसार 2002 में उच्च विकास सूचकांक नार्वे में 0.927, आस्ट्रेलिया में 0.946, श्रीलंका में 0.740, चीन में 0.745 था। ये देश मानव विकास सूचकांक के आधार पर सामाजिक न्याय के उच्च समूह वाले देशों में हैं जबकि मानव विकास सूचकांक नाईजर में 0.292 मोजाम्बिक में 0.354 था। ये देश मानव विकास सूचकांक के निम्न समूह वाले देश हैं।भारत, पाकिस्तान, नेपाल, बंगला देश मध्यम मानव विकास सूचकांक वाले देश हैं।

वर्ष 1992 में भारत में HDI 0.439 था जो बढ़कर 1997 में 0.545 एवं 2002 में बढ़कर 0.595 हो गया। वर्ष 2002 में मानव विकास सूचकांक की दृष्टि से विश्व में 127वां था। अतः मानव विकास सूचकांक की दृष्टि से भारत को और अधिक विकास करना है। सामाजिक न्याय की स्थिति को और अधिक सुदृढ़ करना है। सामाजिक न्याय हेतु शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल आदि सुविधाओं का अधिक विस्तार आवश्यक है।

2. लैंगिक विकास सूचकांक (Gender Development Index):

लैंगिक विकास सूचकांक का स्तर सामाजिक न्याय का द्योतक है। लैंगिक विकास सूचकांक (GDI) यदि ऊंचा है तो सामाजिक न्याय की स्थिति अच्छी है, स्तर यदि नीचा है तो सामाजिक अन्याय व्याप्त है। Human Development Reports and Economic Survey 2004-05 में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2002 में नार्वे में लैंगिक विकास सूचकांक 0.955, आस्ट्रेलिया में 0.921, चीन में 0.741 था। ये GDI की दृष्टि में उच्च समूह वाले देश हैं। जबकि नाईजर में लैंगिक विकास सूचकांक 0.286, मोजाम्बिक में 0.326 था। ये देश GDI की दृष्टि से निम्न समूह वाले देश हैं।

भारत में लैंगिक विकास सूचकांक 2002 में 0.572 था। भारत का स्थान GDI की दृष्टि से विश्व में 103वां है, यह GDI के मध्यम समूह वाले देशों में आता है। भारत के साथ–साथ इस समूह में पाकिस्तान, बांग्लादेश आदि देश भी हैं।

1992 में भारत में GDI 0.401 था, जो 1997 में बढ़कर 0.525 तथा 2002 में 0.572 हो गया। 1992 की तुलना में 2002 में भारत में लैंगिक विकास सूचकांक में काफी वृद्धि हुई है।

भारत अभी भी अनेक विकासशील देशों से GDI में पिछड़ा हुआ है। इस ओर अभी और अधिक प्रयास करने हैं।

3. लैंगिक सशक्तिकरण उपाय (Gender Empowerment Measure)

सामाजिक अन्याय का आकलन लैंगिक सशक्तिकरण उपाय के आधार पर भी किया जाता है। Human Development Report and Economic Survey 2002-03 में प्रकाशित रिपोर्ट के आधार पर वर्ष 1999 में नार्वे में लैंगिक सशक्तिकरण उपाय सूचकांक (GEM) 0.837 एवं आस्ट्रेलिया में 0.759 था जबकि नाइजर 0.119 था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भारत लैंगिक सशक्तिकरण उपाय की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है। 1992 में भारत का GEM 0.226 था जो कि 1999 में थोड़ा–सा बढ़कर 0.240 तक पहुंचा। यह वृद्धि बहुत ही कम है। लैंगिक सशक्तिकरण की दृष्टि से विकासशील देशों में काफी प्रयत्न हुए हैं।

4. निर्धनता (Poverty):

किसी भी देश में व्याप्त निर्धनता का स्तर वहां के सामाजिक अन्याय की स्थिति को स्पष्ट कर सकता है। 1975 में चीन में 59.5% एवं इण्डोनेशिया में 64.3% निर्धनता व्याप्त थी जो कि 1995 में घटकर क्रमशः 22.2 प्रतिशत एवं 11.4% रह गयी। 1975-95 की अवधि में इन देशों में निर्धनता में कमी की दर क्रमशः 1.9% एवं 2.6% रही है।

भारत में गरीबी का स्तर काफी ऊंचा है जो कि सामाजिक अन्याय का द्योतक है। योजना आयोग एवं NSSO द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों के अनुसार वर्ष 1999–2000 में 26.1% निर्धनता थी तथा लगभग 26 करोड़ लोग गरीबी रेखा के नीचे थे। शहरी क्षेत्र की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता का प्रतिशत अधिक था। 1973–74 में भारत में निर्धनता का अनुपात 54.9% था जो 1993–94 में घटकर 36% हो गया और वर्ष 1999–2000 तक घटकर 26.1% हो गया। भारत में निर्धनता का स्तर पहले से काफी कम हुआ है फिर भी अन्य देशों की तुलना में भारत में निर्धनता का प्रतिशत काफी ऊंचा है। भारत में आज भी निर्धन व्यक्तियों की संख्या सर्वाधिक है। भारत में 2012 तक गरीबी को घटाकर 15% कमी करने का लक्ष्य रखा गया है।

5. जनसंख्या (Population):

समाजिक न्याय का एक महत्त्वपूर्ण सूचक है–जनसंख्या। जनसंख्या वृद्धि अपने साथ भुखमरी, बेरोजगारी, अशिक्षा, आर्थिक विषमताएं आदि अनेक सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएं लेकर आती हैं जो सामाजिक अन्याय में वृद्धि करती है। जनसंख्या की दृष्टि से चीन विश्व का सर्वाधिक जनसंख्या वाला देश है। लेकिन वहां जनसंख्या वृद्धि पर किए गए नियंत्रण के फलस्वरूप जनसंख्या वृद्धि दर घटकर 1% हो गयी है।

भारत में जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या 1 अरब 2.7 करोड़ थी जो विश्व की कुल जनसंख्या का 16.7% थी। जबकि भारत का क्षेत्रफल विश्व के कुल क्षेत्रफल का मात्र 2.4% है। भारत की जनसंख्या औसत वार्षिक वृद्धि दर 1.93 रही है। जो चीन की औसत वार्षिक वृद्धि दर से अधिक है।

जनसंख्या वृद्धि ने भारत में बेरोजगारी, गरीबी, अशिक्षा, आर्थिक एवं सामाजिक विमषताएं आदि अनेक समस्याएं उत्पन्न की हैं, जिससे एक तरफ तो ग्रामीण क्षेत्रों से जनसंख्या का तेजी से शहरी क्षेत्रों की ओर पलायन हो रहा है तो दूसरी ओर कृषि क्षेत्रों में भी जनसंख्या का दबाव बढ़ रहा है। वर्ष 1991–2001 के दशक में शहरी क्षेत्रों में जनसंख्या की वृद्धि दर 31.2% रही है। जनगणना 2001 के अनुसार भारत की शहरी जनसंख्या 28.5 करोड़ है। बम्बई सबसे अधिक जनसंख्या वाला शहर है। शहरों में जनसंख्या के बढ़ते दबाव के कारण एक बड़ी संख्या में गंदी बस्तियां बस गयी हैं। देश में गंदी बस्तियों की कुल जनसंख्या 4.3 करोड़ है।

6. रोजगार (Employment):

रोजगार की स्थिति भी सामाजिक न्याय का एक महत्त्वपूर्ण सूचक है। चालू दैनिक स्थिति (Current Daily Status) के आधार पर वर्ष 1999–2000 में भारत में 33.7 करोड़ व्यक्ति रोजगार में लगे हुए थे तथा 27 करोड़ बेरोज़गार थे। पिछले दशक में रोजगार वृद्धि दर में काफी कमी हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि दर 1983–1994 वर्ष की अवधि के दौरान 1.52% थी जो वर्ष 1994–2000 की अवधि के बीच ऋणात्मक होकर -0.03% हो गयी। इस अवधि में निजी क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि दर 0.45 थी जो बढ़कर 1.87% हो गयी। इस प्रकार जहां सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि दर ऋणात्मक हुई वहीं निजी क्षेत्र में रोजगार वृद्धि दर बढ़ी है।

वर्ष 1993–94 से 1999–2000 के मध्य भारत में 1.95% की वार्षिक दर से जनसंख्या वृद्धि हुई जबकि इस अवधि में रोजगार में वृद्धि केवल 1.07% वार्षिक दर ही रही। जनगणना 2001 के अनुसार 25.2 की कुल बाल जनसंख्या में 5–14 वर्ष के आयु वर्ग में 1.25 करोड़ बच्चे काम कर रहे हैं। जबकि 14 वर्ष से कम आयु बच्चों को काम पर लगाना कानून की दृष्टि से प्रतिबन्धित है। सरकार ने ऐसे बच्चों के पुनर्वास के लिए दो योजनाएं बनायी हैं–1. राष्ट्रीय बाल श्रम परियोजना (NCLP) 2. स्वैच्छिक संगठनों को सहायता अनुदान की योजना। 31 मार्च 2003 तक देश के कुल रोजगार में संगठित क्षेत्र में रोजगार प्राप्त करने वाले केवल 8% ही थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में जिस दर से जनसंख्या एवं श्रम शक्ति बढ़ रही है, उस दर से रोजगार में वृद्धि नहीं हो पा रही है, फलतः बेरोजगारी बढ़ रही है, जिससे अपराध आदि असामाजिक कृत्य भी बढ़ रहे हैं।

7. शिक्षा (Education):

शिक्षा का स्तर सामाजिक न्याय का महत्त्वपूर्ण सूचक है। जहां शिक्षा का स्तर ऊंचा होगा, वहां सामाजिक न्याय के अनुकूल वातावरण रहेगा। पिछड़ेपन का एक महत्त्वपूर्ण घटक जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण, शिशु मृत्युदर में कमी, जीवन प्रत्याशा में वृद्धि आदि में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। शिक्षा 'मानव–पूंजी' का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। हालांकि भारत में शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय आवश्यकता से बहुत कम है। शिक्षा पर कुल GDP का कम से कम 6% व्यय होना चाहिए जबकि 2002–03 में केवल 3.1% ही व्यय किया गया था। 2001 में भारत में साक्षरता का प्रतिशत मात्र 65.38 था, उनमें भी महिलाओं की साक्षरता उसकी कुल आबादी से लगभग आधी थी। ग्रामीण क्षेत्रों में 2001 में महिला साक्षरता प्रतिशत 46.70 था जबकि पुरुषों का ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता 71.4% है। यू.एन.डी.पी. मानव विकास रिपोर्ट 2004 के अनुसार 2002 में चीन में प्रौढ़ साक्षरता दर 90.9%, श्रीलंका में 88.7% थी जबकि भारत में 61.3% (2001) में थी। युवा साक्षरता दर भी चीन में 98.9%, श्रीलंका में 97% थी जबकि भारत में 73.3% (2001) में थी।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है शिक्षा की दृष्टि से भारत में साक्षरता के अभी और प्रयास करने जरूरी हैं ताकि सामाजिक न्याय को बल मिल सके।

8. महिलाओं एवं बाल विकास (Development of Women and Children):

महिलाओं की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के आधार पर भी सामाजिक न्याय की स्थिति को जाना जा सकता है। जिस देश में महिलाओं की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति मजबूत है एवं उन्हें सशक्त करने के प्रयास किए जा रहे हैं तो इसका अर्थ है कि वहां सामाजिक न्याय की स्थिति अच्छी है। इसके विपरीत जहां महिलाएं शोषित हो रही हैं, उन्हें अधिकारों से वंचित किया जा रहा है; महिला–पुरुष समानता का अभाव है, महिलाओं में साक्षरता का अभाव है, यानि उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति काफी कमजोर है तो वहां सामाजिक अन्याय व्याप्त है। भारत में महिलाओं की रोजगार में भागीदारी अन्य देशों से काफी कम है। आर्थिक क्रियाओं में सहभागिता का स्त्री–पुरुष अनुपात अन्य देशों में 100 है जबकि भारत में यह अनुपात 50 है। भारत में 1999 में महिलाओं की भागीदारी संगठित क्षेत्र रोजगार में मात्र 17.2% थी। भारत में महिला आर्थिक क्रियाशीलता की दर (Female Economic Activity Rate FEAR) 42% है जबकि मोजाम्बिक में 82.9% है।

अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में रोजगार प्राप्त महिलाओं के आंकड़ों का विश्लेषण करें तो ज्ञात होता है कि प्राथमिक क्षेत्र खासकर कृषि में महिला श्रमिक का 80 प्रतिशत भाग कार्यरत है। द्वितीय क्षेत्र अर्थात उद्योग में इनका प्रतिशत बहुत कम है लेकिन तृतीय क्षेत्र सेवा आदि में महिला कामगारों की संख्या बढ़ रही है।

इसी प्रकार बच्चों के विकास एवं उनके उचित लालन–पालन और शिक्षा व्यवस्था की दृष्टि से भारत की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। देश की कुल जनसंख्या में बच्चों की संख्या लगभग 35% है। इनकी उचित देखभाल, लालन–पालन, स्वास्थ्य सम्बन्धी देखरेख, शिक्षा व्यवस्था आदि का विकास होना आवश्यक है।

9. जलापूर्ति एवं सफाई (Water Supply and Sanitation):

जलापूर्ति एवं सफाई मानव जीवन के लिए अति अनिवार्य है। किसी भी देश की सरकार का यह प्रमुख दायित्व होता है कि वह लोगों की इस प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं व्यवस्था सुनिश्चित करें। जहां इन सुविधाओं का अभाव है, वहां हम कह सकते हैं कि सामाजिक अन्याय व्याप्त है। जहां ये सुविधाएं सुव्यवस्थित ढंग से उपलब्ध होती हैं– वहां सामाजिक न्याय की स्थिति अच्छी मानी जानी चाहिए। भारत में हजारों गांव एवं करोड़ों लोग आज भी साफ पेय जल की सुविधा से वंचित हैं। 50% से अधिक शहरी और 80% से अधिक ग्रामीण आबादी साफ–सफाई की सुविधाओं के अभाव में जी रहे हैं। जबकि सरकारी स्तर पर इस ओर काफी प्रयास किए गए हैं। फिर भी भारत में यह सामाजिक अन्याय काफी मात्रा में व्याप्त है।

10. निम्न एवं असुविधाजनक सामाजिक स्थिति वाले समूह (Socially disadvantaged Group):

निम्न सामाजिक एवं असुविधाजनक सामाजिक स्थिति सामाजिक अन्याय की द्योतक है। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लोग, शैक्षिक एवं सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा वर्ग, विकलांग, वृद्ध, धार्मिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अल्पसंख्यक, बाल अपराधी, भाषायी अल्पसंख्यक आदि असुविधाजनक सामाजिक स्थिति वाला समूह है। भारत में ऐसे असुविधाजनक सामाजिक समूह के सशक्तिकरण के लिए काफी प्रयास किये जा रहे हैं। इसके लिए सामाजिक न्याय एवं सशक्तिकरण मंत्रालय की स्थापना की गई। इस मंत्रालय के द्वारा अनेक कार्यक्रम किये जा रहे हैं। ऐसे समूहों का सशक्तिकरण एवं विकास करके ही सामाजिक अन्याय को मिटाया जा सकता है।

इस प्रकार उपरोक्त सूचकों के माध्यम से किसी भी देश के सामाजिक न्याय की स्थिति को जाना जा सकता है।

सामाजिक अन्याय को समाप्त करने के उपाय (Suggestion for Removing Social Injustics):

सामाजिक न्याय के सूचकों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि भारत में सामाजिक अन्याय को मिटाने हेतु किये जा रहे विभिन्न प्रयासों के बावजूद सामाजिक अन्याय व्याप्त है। हालांकि विश्व में अनेक ऐसे देश हैं जहां सामाजिक न्याय की स्थिति अच्छी है, फिर भी अधिकांश देश ऐसे हैं जहां सामाजिक अन्याय बहुतायत में है। भारत में सामाजिक अन्याय को समाप्त करने के लिए निम्नलिखित उपाय करने चाहिए–

1. जनसंख्या पर नियंत्रण (Population Control):

प्रायः देखा गया है कि जिस देश में जनाधिक्य है, वहां सामाजिक अन्याय भी अधिक है। जनसंख्या पर नियंत्रण करके सामाजिक न्याय की स्थिति को अच्छा किया जा सकता है। इसके लिये जनता को शिक्षित करके, जनाधिक्य के दुष्प्रभावों की जानकारी देकर, परिवार कल्याण योजनाओं की जानकारी देकर लोगों में जागरूकता पैदा की जा सकती है ताकि जनसंख्या नियंत्रण हेतु लोग स्वतः प्रेरित हो सकें।

2. महिला सशक्तिकरण (Woman Empowerment):

महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष अवसर प्रदान करना, स्त्री–पुरुष समानता, महिला रोजगार, महिला शिक्षा आदि को बढ़ावा देकर सामाजिक अन्याय को कम किया जा सकता है। महिला सशक्तिकरण के संदर्भ में संसद, विधानसभाओं, नगरपालिकाओं एवं पंचायतों में कम से कम 30% आरक्षण महिलाओं के लिए आवश्यक है। भारत सरकार ने इस ओर कदम भी उठाए हैं।

3. रोजगार में वृद्धि (Increase in Employment Opportunity):

देश में रोजगार वृद्धि करके सामाजिक अन्याय को कम किया जा सकता है। भारत में बेरोजगार आज भी बड़ी संख्या में है। खासकर कृषि के क्षेत्र में छद्म बेरोजगारी एवं शहरी क्षेत्रों में प्रत्यक्ष बेरोजगारी काफी बड़ी संख्या में है। सरकार द्वारा रोजगार के अवसरों में वृद्धि करके बेरोजगारी की समस्या को दूर किया जा सकता है। कृषि क्षेत्र में, सेवा के क्षेत्र में, ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार में वृद्धि करके सामाजिक अन्याय को दूर किया जा सकता है।

4. साक्षरता एवं शिक्षा सुविधाओं में वृद्धि (Increase in Literacy and Educational facilities):

सामाजिक अन्याय को दूर करने के लिए शिक्षा का प्रसार एवं साक्षरता का अभियान आवश्यक है। एक शिक्षित व्यक्ति अपनी स्थिति का सही आंकलन कर सकता है एवं उसमें अपेक्षित सुधार कर सकता है। शिक्षा सुविधाओं के विकास हेतु इस क्षेत्र में समुचित व्यय किया जाना भी आवश्यक है। साक्षरता का विकास एवं शिक्षा की सुविधा एवं गुणवत्ता में वृद्धि करके सामाजिक अन्याय को दूर किया जा सकता है।

5. मूलभूत सुविधाओं का विकास (Development of Infrastructure):

आर्थिक एवं सामाजिक विकास हेतु किसी भी देश की अर्थव्यवस्था का ढांचागत विकास बहुत आवश्यक है। मूलभूत सुविधाओं जैसे – ऊर्जा, जल, सफाई, परिवहन, शिक्षा, दूरसंचार, चिकित्सा आदि का विकास करके सामाजिक अन्याय को समाप्त करने की ओर एक ठोस प्रयास किया जा सकता है। भारत में अभी ढांचागत विकास बहुत पिछड़ा हुआ है। इसमें अपेक्षित सुधार एवं विकास आवश्यक है।

6. निर्धनता उन्मूलन (Removal of Poverty):

निर्धनता की बड़ी मात्रा में मौजूद होना सामाजिक अन्याय का द्योतक है। भारत में कुछ राज्यों में तो गरीबी की स्थिति बहुत ही सोचनीय है। बिहार, आसाम, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश जैसे राज्य गरीबी से जूझ रहे हैं। ऐसे राज्यों में 35% से 40% तक जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे है। ऐसे क्षेत्रों में गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रम चलाकर रोजगार की व्यवस्था करके गरीबी को समाप्त किया जा सकता है। लोगों की आय में वृद्धि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करके उनके जीवन–स्तर को ऊंचा उठाया जा सकता है। निर्धनता का उन्मूलन सामाजिक न्याय की दिशा में एक ठोस कदम हो सकता है।

7. अस्वास्थ्यकर एवं गंदी बस्तियों के लिए विकास कार्यक्रम (Development Programme for Slums):

भारत में गंदी बस्तियां बहुतायत में हैं। प्रायः सभी शहरों में, औद्योगिक नगरों में ऐसी बस्तियां काफी संख्या में देखी जा सकती हैं। गंदी बस्तियों एवं उनकी अस्वास्थ्यकर स्थिति सामाजिक अन्याय का द्योतक है। ऐसी बस्तियों में सुविधाओं का विकास करके, शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं का विस्तार करके, अलग स्वच्छ एवं खुले स्थानों पर ऐसी बस्तियों का पुनर्वास करके इस समस्या का समाधान किया जा सकता है।

प्रश्न

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. मानव विकास सूचकांक क्या है?
2. लैंगिक विकास सूचकांक से आप क्या समझते हैं?
3. भारत में निर्धनता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
4. भारत में महिलाओं एवं बाल विकास स्थिति को लिखें।

वृहत्तरात्मक प्रश्न

1. समाजिक अन्याय के विभिन्न सूचकों की व्याख्या कीजिए। सामाजिक अन्याय की समाप्ति हेतु सुझाव दीजिए।
2. समाजिक अन्याय से आप क्या समझते हैं? भारत में सामाजिक अन्याय पर एक निबन्ध लिखें।

मुद्रा स्फीति (Inflation)

मुद्रा स्फीति का अर्थ (Meaning of Inflation)

अर्थव्यवस्था में सामान्य मूल्य स्तर में परिवर्तन होने से मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होते रहते हैं। यह परिवर्तन पूरी अर्थ व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन के कारण मुद्रा स्फीति अथवा मुद्रा संकुचन की स्थिति पैदा होती है। मुद्रा का स्फीति का अर्थ चलन में मुद्रा की मात्रा का बढ़ जाना है। मुद्रा स्फीति में वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा की अपेक्षा मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है। इससे कीमत स्तर बढ़ने लगता है, मुद्रा स्फीति की स्थिति में मूल्य में वृद्धि निरन्तर होती रहती है। मुद्रा स्फीति की स्थिति मुद्रा की मांग से मुद्रा की पूर्ति अधिक होने पर होती है।

हाट्रे (Hawtrey) के अनुसार – "मुद्रा स्फीति वह स्थिति है जिसमें मुद्रा का अत्यधिक निर्गमन होता है।

क्राउथर के अनुसार – "मुद्रा प्रसार वह अवस्था है जिसमें मुद्रा का मूल्य गिरता है अर्थात वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं। मुद्रा प्रसार को प्रायः बढ़ती हुई क्रियाशीलता एवं रोजगार से सम्बन्धित किया जाता है।"

पीगू (Pigou) के अनुसार जब मौद्रिक आय उपार्जन सम्बन्धी क्रियाओं से कहीं अधिक अनुपात में बढ़ती है तब मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है।

पॉल एन्जिग (Paul Einzig) के अनुसार– "मुद्रा स्फीति क्रय शक्ति की विस्तारशील प्रवृत्ति है जो मूल्य स्तर में वृद्धि का कारण या प्रभाव बताती है।"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बेब्स्टर शब्दकोष (Webster's Dictionary) के अनुसार "मुद्रा स्फीति वह अवस्था है, जब वस्तुओं की उपलब्ध मात्राा की तुलना में मुद्रा तथा साख की मात्रा में अधिक वृद्धि होती है। जिसके परिणाम स्वरूप मूल्य स्तर में निरन्तर तथा महत्वपूर्ण वृद्धि होती है।"

प्रो. कीन्स (Prof. Keynes) के अनुसार पूर्ण रोजगार की स्थिति से पूर्व में मांग में वृद्धि के साथ–साथ उत्पादन की मात्रा भी बढ़ती जाती है, लेकिन यह मूल्यों में वृद्धि के अनुपात में कम दर से बढ़ती है। इस प्रकार की मूल्य वृद्धि को कीन्स ने आंशिक मुद्रा प्रसार (Semi-Inflation) कहा है। पूर्ण रोजगार के स्तर के बाद उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती है क्योंकि ऐसी स्थिति में उत्पादन के सभी साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त होता है। अतः प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि होने पर भी उत्पादन में वृद्धि नहीं होने से मूल्यों में तेजी से वृद्धि होती है।

उपरोक्त परिभाषाओं में किसी भी अर्थशास्त्री की परिभाषा पूर्ण नहीं है। सभी ने मुद्रा–स्फीति के विभिन्न पहलुओं को छुआ है। उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि **जब मुद्रा की कुल पूर्ति उसकी कुल मांग की तुलना में अधिक हो जाती है तो मुद्रा का मूल्य गिरने लगता है तथा सामान्य कीमत स्तर बढ़ने लगता है। इस स्थिति को हम मुद्रा स्फीति की स्थिति कह सकते हैं ।**

मुद्रा स्फीति का वर्गीकरण (Classification of Inflation)

मुद्रा स्फीति को मुख्यतः तीन आधारों पर वगीकृत किया जा सकता है–

1. काराणों के आधार पर (Basis of Causes)
2. परिस्थितियों के आधार पर (Basis of Circumstances)
3. गति के आधार पर (Basis of Speed)

१. कारणों के आधार पर (Basis of Causes)

मुद्रा स्फीति को कारणों के आधार पर निम्नलिखित वर्गों में बांटा जा सकता है–

(i) **चलन स्फीति (Currency Inflation):** जब चलन में मुद्रा के अत्यधिक निर्गमन के कारण कीमत–स्तर में वृद्धि होती है तो उसे चलन स्फीति (Currency Inflation) कहते हैं।

(ii) **वस्तु स्फीति (Commodity Inflation) :** कीमत में वृद्धि केवल मुद्रा की मात्रा में वृद्धि से ही नहीं होती, वस्तुओं की कमी के कारण भी होती है। जब वस्तुओं की आपूर्ति में कमी के कारण मूल्यों में वृद्धि होती है तो उसे वस्तु स्फीति कहते हैं।

(iii) **साख स्फीति (Credit Inflation) :** साख मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के कारण जो कीमत स्तर में वृद्धि होती है उसे साख मुद्रा स्फीति कहते हैं।

(iv) **अल्प उत्पादन स्फीति (Under Production Inflation) :** उत्पादन के कम होने से जो कीमत स्तर में वृद्धि होती है उसे अल्प उत्पादन स्फीति कहते हैं।

(v) **मांग स्फीति (Demand Inflation) :** मांग में वृद्धि होने से कीमत स्तर में जो वृद्धि होती है उसे मांग स्फीति कहते हैं।

(vi) **वित्तीय स्फीति (Financial Inflation) :** वित्तीय नीतियों, मौद्रिक नीतियों के कारण कीमत–स्तर जो होती है उसे वित्तीय स्फीति कहते हैं।

(vii) **लागत स्फीति (Cost Inflation) :** जब उत्पादन लागत में वृद्धि के कारण मूल्य स्तर में वृद्धि हो जाती है तो उसे लागत स्फीति कहा जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(viii) **घाटा स्फीति (Deficit Inflation) :** घाटा के बजट को पूरा करने के लिए सरकार को घाटा प्रबन्ध करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप कीमत में वृद्धि हो जाती है। इसे घाटा स्फीति कहते हैं।

(ix) **लाभ स्फीति (Profit Inflation) :** विभिन्न प्रयासों के कारण वस्तु के उत्पादन लागत में कमी आने के बावजूद भी उत्पादक अपने लाभ को अधिक करने हेतु वस्तु की कीमत में कमी नहीं करता है। ऐसी स्थिति को लाभ स्फीति कहते हैं।

(x) **वेतन स्फीति (Salary Inflation) :** प्रायः ऐसा देखा जाता है कि श्रमिकों एवं कर्मचारियों की मांग पर उनके वेतन को बढ़ाना पड़ता है, लेकिन उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होती। इस कारण मूल्य में वृद्धि हो जाती है। इसे वेतन स्फीति कहते हैं।

(xi) **आयातित स्फीति (Imported Inflation) :** निर्यात में वृद्धि के कारण विदेशी मुद्रा भंडार में वृद्धि होने से देश की मुद्रा एवं साख में भी वृद्धि होती है। फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि होने लगती है। इसे आयातित स्फीति कहते हैं।

(xii) **खुली स्फीति (Open Inflation) :** जब व्यय पर नियंत्रण नहीं रहता और व्यय अधिक मात्रा में किया जाने लगता है तो मूल्य स्तर में वृद्धि होने लगती है। उसे खुली स्फीति कहते हैं।

(xiii) **दबी स्फीति (Supressed Inflation) :** जब मूल्य वृद्धि पर नियंत्रण हेतु राशनिंग आदि उपाय किये जाते हैं तब कालाबाजारी में वृद्धि हो जाती है। कालाबाजारी के कारण वस्तुओं की कीमत ऊंची होने लगती है। इसे दबी स्फीति कहते हैं।

(xiv) **अवमूल्यन स्फीति (Devaluation Inflation) :** जब निर्यात में वृद्धि होने के कारण देश में वस्तुओं की कमी होने से जो मूल्य में वृद्धि होती है उसे अवमूल्यन स्फीति कहते हैं क्योंकि मुद्रा के अवमूल्यन के कारण निर्यात में वृद्धि होती है।

मुद्रा स्फीति के उपरोक्त प्रकारों के अतिरिक्त अन्य प्रकार भी हो सकते हैं जैसे–अति विनियोग (Over Investment) स्फीति, पूर्ण स्फीति **(Full Inflation),** आंशिक मुद्रा स्फीति **(Partial Inflation),** विदेश व्यापार नियंत्रण स्फीति आदि।

२. परिस्थितियों के आधार पर (On the Basis of Circumstances)

(i) युद्ध कालीन स्फीति (War Time Inflation): युद्ध के समय में सरकार को विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बड़ी मात्रा में व्यय करना है, जिसकी पूर्ति के लिए सरकार को मुद्रा का बड़ी मात्रा में निर्गमन करना पड़ता है। इससे उत्पन्न स्फीति को युद्ध कालीन स्फीति कहते हैं।

(ii) युद्ध के बाद की मुद्रा स्फीति (Past War Inflation): युद्ध के बाद अस्त–व्यस्त अर्थव्यवस्था को ठीक करने के लिए सरकार को अधिक मात्रा में व्यय करना पड़ता है। अधिक मात्रा में व्यय से वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार की स्थिति में उत्पन्न स्फीति को युद्ध के बाद की मुद्रा स्फीति कहते हैं।

(iii) शीत कालीन मुद्रा स्फीति (Peace Time Inflation): आर्थिक विकास में तेजी लाने के लिए विनियोग में वृद्धि की जाती है। विनियोग में वृद्धि हेतु वित्तीय संसाधन में वृद्धि के क्रम में मुद्रा का निर्गमन अधिक करना पड़ता है। इससे लोगों की आय बढ़ जाने के कारण मांग तो बढ़ जाती है लेकिन वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि में समय लगता है। अतः पूर्ति मांग से कम रहने कारण मूल्य में वृद्धि हो जाती है। इसे शीतकालीन मुद्रा स्फीति कहते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

३. स्फीति की गति के आधार पर (On the Basis of Inflation Speed)

(i) रेंगती मुद्रा स्फीति (Creeping Inflation): जब वस्तुओं के मूल्यों में सामान्य मूल्य वृद्धि होती है तो उसे रेंगती मुद्रा स्फीति कहते हैं।

(ii) चलती मुद्रा स्फीति (Walking Inflation): जब कीमत में वृद्धि की गति थोड़ी अधिक हो और भविष्य में यह मूल्य वृद्धि और अधिक होने की संभावना हो उसे चलती हुई मुद्रा स्फीति कहते हैं।

(iii) दौड़ती मुद्रा स्फीति (Running Inflation): जब मूल्य वृद्धि तेजी से हो और सामान्य जन–जीवन विशेष कर निश्चित आय वर्ग के लोगों को इस मूल्य वृद्धि से दिक्कतें होने लगे, तो ऐसे तेज गति से बढ़ती मूल्य स्तर की गति को दौड़ती मुद्रा स्फीति कहते हैं।

(iv) तेजी से दौड़ती मुद्रा स्फीति (Galloping Creeping Inflation): जब मूल्यों में काफी तेजी से वृद्धि हो और मुद्रा का प्रसार भी काफी अधिक मात्रा में हो तो ऐसी स्थिति को तेजी से दौड़ती मुद्रा स्फीति कहते हैं।

मुद्रा स्फीति के कारण (Causes of Inflation)

मुद्रा स्फीति में जहाँ एक ओर मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है वहीं दूसरी ओर लोगों की मौद्रिक आय में भी वृद्धि होने लगती है। आय में वृद्धि से बाजार की मांग में वृद्धि हो जाती है लेकिन मांग के अनुरूप उत्पादन अथवा सेवाओं में वृद्धि नहीं होती। फलस्वरूप वस्तु एवं सेवाओं की कीमत में वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मौद्रिक आय में वृद्धि और उत्पादन में कमी के कारण मुद्रा स्फीति की स्थिति आती है।

मुद्रा स्फीति के कारणों को दो मुख्य घटकों में बांटा जा सकता है–

(क) मौद्रिक आय में वृद्धि (Increase in monetory income)

(ख) सीमित उत्पादन (Limiting Production)

(क) मौद्रिक आय में वृद्धि (Increase in monetory income)

मौद्रिक आय में निम्नलिखित कारणों से वृद्धि होती है–

(1) घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing) : आर्थिक विकास हेतु सरकार को घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा लेना पड़ता है। घाटे के बजट को पूरा करने के लिए मुद्रा का निर्गमन अधिक करना पड़ता है क्योंकि कर में वृद्धि एक सीमा तक ही की जा सकती है। मुद्रा के अधिक निर्गमन के कारण लोगों की मौद्रिक आय बढ़ जाती है जिससे मुद्रा स्फीति पैदा हो जाती है।

(2) सरकारी नीतियाँ (Government Policies) :

(i) सरकार को अधिक विकास हेतु विभिन्न योजनाएं बनानी पड़ती है जिसे पूरा करने के लिए वित्तीय संसाधनों की आपूति हेतु मुद्रा का अधिक निर्गमन करना पड़ता है। इससे लोगों की आय बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप लोगों की मौद्रिक आय बढ़ने से बाजार में वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग बढ़ जाती है। मांग के अनुरूप उत्पादन एवं सेवाओं के विस्तार में वृद्धि नही हो पाती। अतः कीमत स्तर बढ़ जाती है और मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

(ii) सस्ती एवं उदार साख नीति के कारण भी मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो जाती है। राष्ट्र का केन्द्रीय बैंक अपनी साख प्रसार नीति के अन्तर्गत जब साख–मुद्रा के संदर्भ में सस्ती एवं उदार नीति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अपनाता है तब इसका प्रभाव अर्थ व्यवस्था में मुद्रा प्रसार की तरह ही पड़ता है। फलस्वरूप मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

(3) **बैंकों की साख नीति (Credit Policy of Bank) :** व्यापारिक बैंक जब अपने नकद जमा अनुपात में कमी करके साख की मात्रा को बढ़ाती है तब अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है। इससे मुद्रा स्फीति होने लगती है।

(4) **सरकार द्वारा अनुत्पादक खर्चों में वृद्धि (Increase in Unproductive Expenditure by Government) :** कभी–कभी सरकार अपनी आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों के कारण सुरक्षा, आन्तरिक शक्ति, युद्ध, प्रशासन व्यवस्था आदि अनुत्पादक कार्यों पर ज्यादा व्यय करने लगती है। ऐसी स्थिति में जनता के पास मुद्रा तो आती है लेकिन उत्पादन में निवेश पर्याप्त नहीं होने के कारण उत्पान में वृद्धि नहीं होती है। इससे मुद्रा स्फीति बढ़ती है।

(5) **कर छूट (Exemption in Taxes) :** सरकार की कर छूट नीति के कारण कर के रूप में आने वाली आय जनता के पास ही रह जाती है। इससे जनता अपनी बढ़ी हुई मौद्रिक आय के कारण मांग बढ़ा देती है फलस्वरूप मूल्य में वृद्धि होने लगती है और मुद्रा स्फीति उत्पानदन हो जाती है।

(6) **काले धन में वृद्धि (Increase in Black Money) :** काले धन में वृद्धि के कारण भी वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग में वृद्धि हो जाती है। फलस्वरूप मुद्रा स्फीति उत्पन्न होती है।

(7) **ऋण वसूली में ढिलाई (Relaxation in Recovery of Loans) :** कभी –कभी सरकार अपने पुराने ऋण की वसूली में ढिलाई कर देती है अथवा ऋण का भुगतान करती है तो ऐसी स्थिति में लोगों के पास मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है जिससे उनकी मौद्रिक आय में वृद्धि होती है।

(8) **उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि (Increase in Consumption) :** लोगों की उपभोग प्रवृत्ति बढ़ने के कारण मुद्रा का चलन वेग बढ़ जाता है जो मुद्रा स्फीति को उत्पन्न करता है।

(9) **विदेशी पूंजी का आयात (Import in Foreign Capital) :** विदेशी पूंजी एवं विदेशी सहायता में लगातार वृद्धि से लोगों की मौद्रिक आय में भी वृद्धि होती है। इस मौद्रिक आय में वृद्धि के कारण मुद्रा स्फीति आती है।

(ख) सीमित उत्पादन (Limiting Production)

सीमित उत्पादन के निम्नलिखित कारण हैं–

(1) **उत्पादन ह्रास नियम की क्रियाशीलता (Applicability of Law of Diminishing Return) :** उत्पत्ति ह्रास नियम के कारण उत्पादन में वृद्धि के साथ–साथ उसके लागत में वृद्धि होने लगती है। फलस्वरूप वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगती हैं।

(2) **जनसंख्या वृद्धि (Increase in Population) :** जनसंख्या में वृद्धि के साथ–साथ वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग में भी वृद्धि होने लगती है। बढ़ी हुई मांग के अनुरूप उत्पादन में वृद्धि नहीं होने के कारण वस्तुएं मंहगी हो जाती है और मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

(3) **तकनीकी विकास (Technological Development) :** तकनीकी विकास के कारण पुराने तकनीक के स्थान पर नयी तकनीक का इस्तेमाल किया जाता है। नयी तकनीक अपनाने की प्रक्रिया के दौरान समय लगता है। ऐसे समय में उत्पादन कार्य को रोकना पड़ता है, जिससे वस्तुओं की कमी उत्पन्न हो जाती है और वस्तुओं के अभाव के कारण कीमत स्तर ऊंचा होने लगता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(4) **कर नीति (Taxation Policy) :** अपनी योजनाओं के क्रियान्वयन हेतु सरकार अपनी आय में वृद्धि करने के लिए करों में वृद्धि करती है। करों में वृद्धि करने से वस्तु एवं सेवाएं मंहगी हो जाती है। फलतः वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग कम होने लगती है। फलस्वरूप उत्पादन हतोत्साहित होता है। कीमतें बढ़ने लगती है।

(5) **औद्योगिक नीति (Industrial Policy) :** सरकार अपनी व्यापार नीति के तहत नए उद्योगों की स्थापना पर प्रतिबन्ध लगा देती है, लाईसेंसिंग प्रक्रिया जटिल कर देती है। सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन में भी शिथिलता आ जाती है। फलस्वरूप नए उद्योगों की स्थापना एक दुरूह कार्य हो जाता है। उत्पादन गिरने लगता है कीमतें बढ़ जाती हैं। मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

(6) **वाणिज्य नीति (Commercial Policy) :** सरकार विदेशी मुद्रा भंडार में वृद्धि करने एवं अन्य आर्थिक कारणों से आयात–निर्यात नीति में परिवर्तन करती है। जब आयात घटा कर निर्यात में वृद्धि करती है तो इससे देश में वस्तुओं का अभाव हो जाता है एवं मूल्य वृद्धि होने लगती है।

(7) **प्राकृतिक आपदाएं (Natural Calamities) :** प्राकृतिक आपदाओं जैसे –भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि बाढ़, सूखा आदि के कारण देश के उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। कृषि उपज भी बर्वाद हो जाती है। फलतः उत्पादन की कमी के कारण मूल्य वृद्धि होने लगती है।

(8) **काला बाजारी एवं जमा खोरी (Black Marketing and Hoarding) :** व्यापारियों में जमाखोरी एवं काला बाजारी की प्रवृत्ति के कारण वस्तुओं का कृत्रिम अभाव बाजार में हो जाता है। जिसके कारण मूल्य वृद्धि होने लगती है।

(9) **पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि (Increase in Capital Funds) :** औद्योगिक एवं आर्थिक विकास हेतु पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन पर विशेष जोर दिया जाता है। इस कारण उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन कम हो जाता है। उपभोक्ता वस्तुओं के अभाव के कारण मूल्य वृद्धि होने लगती है।

इस प्रकार उपरोक्त कारणों से देश में मुद्रा स्फीति उत्पन्न होने लगती है।

मुद्रा स्फीति प्रभाव (Effects of Inflation)

आर्थिक विकास हेतु अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्फीति का सहारा लिया जाता है। मुद्रा स्फीति प्रारंभ में तो अर्थव्यवस्था के विकास में सहयोग करती है यथा, उत्पादन, रोजगार, आय में वृद्धि होती है। लेकिन जैसे–जैसे मुद्रा का प्रसार बढ़ता जाता है यह अर्थव्यवस्था के लिए समस्या बनती जाती है। वस्तुओं की कीमत अत्यधिक बढ़ जाने के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति घट जाती है और अर्थव्यवस्था पर इसके विपरीत प्रभाव पड़ने लगते हैं। अतः कहा जा सकता है कि मुद्रा स्फीति का आगे चलकर किसी भी अर्थव्यवस्था में बुरा प्रभाव ही पड़ता है। अतः मुद्रा स्फीति को प्रारम्भ में ही नियंत्रित कर लेना चाहिए नही ंतो आगे चलकर इसके परिणाम बहुत ही घातक होते हैं। मुद्रा स्फीति विभिन्न आर्थिक क्रियाओं जैसे– उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण, रोजगार, कीमत स्तर आदि को बहुत प्रभावित करती हैं। बाल्डर स्टोन (Balderston) ने मुद्रा स्फीति की तुलना एक बच्चे से की है जो प्रारम्भ में रेंगता है, फिर चलने लगता है, दौड़ने लगता है और कूदने लगता है। आगे चलकर मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण कठिन हो जाता है।

मुद्रा स्फीति के निम्नलिखित प्रभाव होते हैं–

(अ) आर्थिक प्रभाव (Economic Effects) :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(1) **कर में वृद्धि (Increase in Tax) :** मुद्रा स्फीति के कारण बढ़े हुए सरकारी व्यय की पूर्ति हेतु सरकार विभिन्न करों में वृद्धि कर आय में वृद्धि करती है ताकि बढ़े हुए व्यय की पूर्ति की जा सके। कर वृद्धि से उपभोक्ता वस्तुओं के दामों में वृद्धि हो जाती है, जिसका विपरीत प्रभाव आम उपभोक्ता पर पड़ता है।

(2) **बचतों में कमी (Decrease in Saving) :** मुद्रा स्फीति का बचत–प्रवृत्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। मुद्रा के मूल्य में कमी होने से मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाती है। फलस्वरूप बचत की सम्भावना भी कम हो जाती है। अतः मुद्रा स्फीति से बचत हतोत्साहित हो जाती है।

(3) **सरकारी व्यय में वृद्धि (Increase in Public Expenditure) :** मुद्रा स्फीति की स्थिति में सरकारी व्यय में वृद्धि हो जाती है क्योंकि वस्तुएं एवं सेवाएं महंगी हो जाने से सरकार के खर्चे एवं विभिन्न योजनाओं की लागत बढ़ जाती है। कर्मचारियों का वेतन एवं प्रशासनिक व्यय बढ़ जाता है।

(4) **निर्यातों में कमी (Reduction in Exports) :** मुद्रा स्फीति के कारण उत्पादन लागत में वृद्धि होने से वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है जिसके कारण निर्यात की मात्रा कम हो जाती है। क्योंकि वस्तुएं महंगी होने से अन्य देशों में वस्तुओं की मांग कम हो जाती है।

(5) **आयात में वृद्धि (Increase in Import) :** मुद्रा स्फीति की स्थिति में देश में उत्पादित वस्तुएं महंगी हो जाती है और विदेशी वस्तुएं देश में उत्पादित वस्तुओं की तुलना में सस्ती हो जाती है। जिस कारण वस्तुओं के आयात में वृद्धि हो जाती है।

(6) **प्रतिकूल व्यापार संतुलन (Unfavourable Balance of Trade) :** मुद्रा स्फीति की स्थिति में निर्यात में कमी और आयात में वृद्धि के कारण व्यापार संतुलन प्रतिकूल हो जाता है, जिसका बुरा प्रभाव अर्थव्यवस्था पर पड़ता है।

(7) **बैंकिंग विकास (Development of Banking) :** मुद्रा स्फीति के समय जनता की मौद्रिक आय बढ़ जाती है। आर्थिक गतिविधियां जैसे व्यापारिक एवं औद्योगिक गतिविधियों में वृद्धि हो जाती है। फलस्वरूप मुद्रा एवं साख की मांग में भी वृद्धि हो जाती है। मुद्रा एवं साख की मांगों की पूर्ति हेतु बैंकिंग का विकास तीव्र गति से होता है।

(8) **बीमा व्यवसाय का विकास (Development of Insurance) :** मुद्रा स्फीति काल में व्यापारिक एवं औद्योगिक विकास के कारण बाजार में मुद्रा एवं साख की मांग तथा अन्य आर्थिक गतिविधियां तेजी से बढ़ती हैं। फलस्वरूप बीमा कम्पनियों का व्यवसाय भी तेजी से बढ़ता है।

(9) **धन का असमान विवरण (Unequal Distribution of Wealth) :** मुद्रा स्फीति के कारण परिवर्तनशील आय वर्ग जैसे उद्योगपति एवं व्यापारी आदि की आय बढ़ जाती है, जबकि स्थिर आय वर्ग जैसे वेतनभोगी एवं मजदूर आदि की आय में बहुत ही कम वृद्धि होती है। मूल्य वृद्धि के कारण इस वर्ग की वास्तविक आय कम हो जाती है। फलस्वरूप धनी वर्ग अध्कि धनी और गरीब वर्ग अधिक गरीब होता जाता है।

(10) **सार्वजनिक ऋण में वृद्धि (Increase in Public Debt) :** मुद्रा स्फीति काल में सरकारी व्यय बढ़ जाने के कारण एवं आर्थिक विकास तथा विकास की विभिन्न योजनाओं के लिए घाटे के बजट को पूरा करने के लिए सरकार सार्वजनिक ऋणों का सहारा लेती है। इससे सरकार पर सार्वजनिक ऋण के भार में वृद्धि होती जाती है।

(11) **मुद्रा काल में अविश्वास (Reduction of Faith in Money) :** मुद्रा स्फीति काल में लोगों का मुद्रा पर से विश्वास कम होने लगता है। मुद्रा के मूल्य में कमी होने के कारण लोग मुद्रा के स्थान पर वस्तुओं का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संचय करने लगते हैं। दीर्घकालीन ऋणों को देने की प्रवृत्ति कम होने लगती है और ब्याज की दर ऊंची हो जाती है।

(12) **सरकार द्वारा आर्थिक नियंत्रण (Economic Control by Government) :** मुद्रा स्फीति काल में मूल्य वृद्धि को रोकने के लिए सरकार विभिन्न आर्थिक नियंत्रण जैसे राशनिंग, उपभोग नियंत्रण, कालाबाजारी पर रोक, जमाखोरी पर रोक, मूल्य नियंत्रण आदि अनेक कठोर कदम उठाती है।

(13) **रोजगार में वृद्धि (Increase in Employment) :** मुद्रा स्फीति काल में आर्थिक गतिविधियों में वृद्धि होने के कारण रोजगार के अवसर में वृद्धि होती है। इसलिए कहा जाता है कि प्रारम्भ में मुद्रा का सीमित प्रसार रोजगार में वृद्धि करता है।

(14) **उद्योग एवं व्यापार में वृद्धि (Promotion to Trade and Industrial Development) :** मुद्रा स्फीति काल में जनता की मौद्रिक आय बढ़ने से बाजार में वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है। इससे औद्योगिक उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है एवं व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि होती है। इस प्रकार औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास को बढ़ावा मिलाता है।

(ब) राजनैतिक प्रभाव (Political Effects) : मुद्रा स्फीति से बढ़ती महंगाई के कारण जनता का सरकार पर से विश्वास उठ जाता है। राजनैतिक अस्थिरता पैदा हो जाती है। आम जनता सरकार के विरूद्ध आवाज उठाने लगती है। साथ ही अत्यधिक सरकारी नियंत्रण से लोगों की स्वतंत्रता का पर अंकुश लग जाता है।

(स) सामाजिक प्रभाव (Social Effects) : मुद्रास्फीति से समाज पर हानिकारक प्रभाव पड़ते हैं। धन के वितरण में असमानता के कारण धनीवर्ग अधिक धनी एवं गरीब वर्ग अधिक गरीब होते जाते है। फलतः वर्ग संघर्ष पैदा हो जाता है। श्रमिक कर्मचारी तथा नियोक्ता के बीच वेतन मजदूरी को लेकर संधर्ष होता रहता है। समाज में जमाखोरी एवं मिलावट की प्रवृत्ति तथा काला बाजारी की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार सामाजिक वातावरण दूषित होने लगता है।

(द) नैतिक प्रभाव (Moral Effects) : मुद्रास्फीति काल में अनैतिक गतिविधियां अधिक बढ़ जाती हैं। भ्रष्टाचार बढ़ जाता है। आपराधिक प्रवृत्ति जैसे–चोरी डकैती, लूट पाट, हत्या आदि की घटनाएं बढ़ जाती हैं। मुनाफाखोरी, कालाबाजारी, मिलावट का धंधा जोरों पर रहता है। लोग अपनी आय में वृद्धि हेतु अनैतिक कार्यों में लिप्त हो जाते हैं। दुराचार भी बढ़ जाता है। फ्रान्स एवं जर्मनी में मुद्रा स्फीति काल में अनैतिक कार्यों में जो वृद्धि हुई वह किसी से छुपी नहीं है।

मुद्रा स्फीति का विभिन्न वर्गों पर प्रभाव (Effects on Different Sections of Society) :

1. **उत्पादक वर्ग (Producers) :** मुद्रास्फीति का उत्पादक वर्ग पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने से उत्पादकों को अधिक लाभ मिलता है। अतः वे अधिक उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित होते हैं। भिन्न उद्योग स्थापित होने लगते हैं। औद्योगिक विकास को बल मिला है।

2. **व्यापारी वर्ग (Business Class) :** मुद्रास्फीति का व्यापारियों पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ता है। वस्तुओं का मूल्य बढ़ता है। मौद्रिक आय में वृद्धि वस्तुओं की मांग बढ़ाती है। मांग के अनुसार उत्पादन तुरंत नहीं हो पाता। फलतः व्यापारीं वस्तुओं की आपूर्ति में अभाव का फायदा उठाते हैं। इनका लाभ बढ़ता है। चोर बाजारी एवं काला बाजारी का भी लाभ व्यापारियों को ही मिलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. **श्रमिक वर्ग (Labour Class) :** श्रमिक वर्ग पर मुद्रास्फीति का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। श्रमिक उद्योगों, खेतो, खानों आदि में कार्य करते हैं। मुद्रा स्फीति की स्थिति में इनकी वास्तविक आय घट जाती है। इससे इन्हें अपने जीवन–यापन में और अधिक कठिनाई होती है। हालांकि मुद्रा स्फीति के समय आर्थिक क्रियाओं की गति में वृद्धि एवं औद्योगिक विकास के कारण श्रमिकों की मांग बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप एक ओर जहां श्रमिकों को रोजगार के अवसर मिलते हैं वहीं दूसरी ओर मजदूरी भी बढ़ती है। लेकिन मूल्यों की वृद्धि की तुलना में मजदूरी वृद्धि दर काफी कम होती है। इसलिए श्रमिकों की स्थिति में कोई विशेष अन्तर आ पाता है।

4. **निवेशकर्ता वर्ग (Investors Class) :** मुद्रास्फीति का निवेशकर्ताओं पर अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। ऐसे निवेशकर्ता जो अपनी पूंजी स्थायी जमाखातों, ऋणपत्रों, सरकारी प्रतिभूतियों आदि में निवेश करते हैं उन्हें मुद्रा स्फीति से हानि होती है क्योंकि इस प्रकार के निवेश से प्राप्त आय निश्चित होती है जबकि मुद्रास्फीति के कारण मुद्रा का मूल्य घट जाता है। अतः निश्चित आय वाले निवेशक पर मुद्रा स्फीति का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत ऐसे निवेशकर्ता जिनकी आय अनिश्चित होती है। जैसे शेयर खरीदने वाले आदि पर मुद्रा स्फीति का अनुकूल प्रभाव पड़ता है। क्योंकि मुद्रा स्फीति काल में उद्योग एवं व्यापार में वृद्धि होने से शेयर होल्डर्स को लाभ मिलता है। किन्तु दीर्घकाल में मुद्रा के अधिक प्रसार के कारण पूंजी का वास्तविक मूल्य बहुत कम हो जाने के कारण परिवर्तनशील आय वाले निवेशकों को भी हानि हो जाती है।

5. **ऋणी वर्ग (Debtors Class) :** मुद्रास्फीति का ऋणीवर्ग पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। क्योंकि ऋणी वर्ग ने जब ऋण लिया था उस समय जो मुद्रा की क्रय शक्ति जितनी थी उसकी तुलना में मुद्रा स्फीति काल में मुद्रा की क्रय शक्ति घट जाती है। अतः ऋणी ऋण की अदायगी करते समय कम क्रयशक्ति वाला मुद्रा लौटाता है।

6. **ऋणदाता वर्ग (Creditors Class) :** मुद्रास्फीति का ऋणदाता वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। क्योंकि ऋणदाता जब ऋण देता है उस समय मुद्रा की क्रयशक्ति अधिक होती है जबकि मुद्रा स्फीति काल में ऋण अदायगी करते समय मुद्रा की क्रय शक्ति घट जाती है। अतः ब्याज एवं ऋण की राशि वापस करते समय उसे कम क्रय शक्ति वाली मुद्रा ही प्राप्त होती है।

7. **उपभोक्ता वर्ग (Consumer Class) :** मुद्रास्फीति का उपभोक्ता वर्ग पर प्रायः प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ता है। मूल्य वृद्धि के कारण उपभोक्ता की वास्तविक आय में कमी हो जाती है। निश्चित आय वाले उपभोक्ता की स्थिति तो और भी खराब हो जाती है।उन्हें अपने उपभोग में कमी करनी पड़ती है जबकि परिवर्तनशील आय वाले उपभोक्ता अपनी आय में वृद्धि करके अपने उपभोग स्तर को बनाए रखते हैं।

मुद्रास्फीति पर नियंत्रण के उपाय (Measures to Check Inflation)

अनियंत्रित मुद्रास्फीति किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक होती है। अतः इस पर नियंत्रण आवश्यक है। मुद्रा स्फीति पर निम्नलिखित उपायों द्वारा नियंत्रण पाया जा सकता हैः–

(A) मौद्रिक उपाय (Monetary Measures)

(1) **मुद्रा की मात्रा में कमी (Reduction in Money Suply) :** मुद्रास्फीति में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। चलन में मुद्रा अत्यधिक बढ़ जाती है। चलन में मुद्रा की मात्रा को कम करने के लिए देश का केन्द्रीय बैंक मुद्रा को चलन से वापस ले सकता है। पुरानी मुद्रा के स्थान पर नयी मुद्रा कम दर में परिवर्तित कर जारी कर सकता है। इससे चलन में मुद्रा की मात्रा में कमी आ जायेगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

(2) **नोट निर्गमन पर कठोर नियंत्रण (Control on Note-issue) :** मुद्रास्फीति को रोकने के लिए आवश्यक है कि नये नोटों के निर्गमन पर कठोर नियंत्रण किया जाय। नये नोटों के निर्गमन पर कठोर नियंत्रण से नयी मुद्रा का निर्गमन कम हो जायेगा।

(3) **साख मुद्रा पर नियंत्रण (Control on Credit) :** साख मुद्रा के प्रसार को केन्द्रीय बैंक द्वारा नियंत्रण कर लोगों की मौद्रिक आय को कम किया जा सकता है। इसके लिए केन्द्रीय बैंक साख नियन्त्रण की गुणात्मक एवं परिमाणात्मक विधियां अपना कर साख–प्रसार को नियंत्रिण कर सकता है।

(B) राजकोषीय उपाय (Fiscal Measures)

(1) **संतुलित बजट (Balanced Budget) :** मुद्रास्फीति पर नियंत्रण के लिए सरकार को घाटे का बजट के स्थान पर संतुलित बजट तैयार करना चाहिए ताकि सरकारी व्ययों पर नियन्त्रण किया जा सके और मुद्रा स्फीति पर नियन्त्रण हो सके।

(2) **करों की दर में वृद्धि (Increase in Taxes) :** मुद्रास्फीति पर नियंत्रण हेतु करों की दर में वृद्धि की जा सकती है। इससे लोगों की बढ़ी मौद्रिक आय में कमी आयेगी जिससे वस्तुओं की मांग में भी कमी हो जायेगी।

(3) **नये कर (New Taxes) :** मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के लिए सरकार पुराने करों में वृद्धि कर सकती है एवं नये कर लगा सकती है इससे लोगों की अतिरिक्त आय के रूप में अतिरिक्त क्रय शक्ति को कम किया जा सकता है एवं बाजार की मांग में कमी की जा सकती है।

(4) **बचत में वृद्धि (Increase in Saving) :** बचत की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने एवं बचत को आकर्षित करने हेतु सरकार द्वारा विभन्न प्रकार के प्रयास किए जा सकते हैं जैसे –उपभोग व्यय को रोकने के लिए उन पर कर लगाकर बचत को आकर्षित कर सकती है। बचत को आकर्षित करने के लिए अन्य उपाय भी कर सकती है। उपभोग कम होने से वस्तुओं की मांग में कमी आयेगी जिससे मूल्य वृद्धि की प्रवृत्ति रूकेगी।

(5) **सरकारी व्यय में कमी :** सरकारी व्ययों में कमी करके लोगों की बढ़ती मौद्रिक आय को कम किया जा सकता है। इससे लोगों की क्रय शक्ति घटेगी एवं वस्तुओं की मांग में कमी आयेगी जिससे मूल्य वृद्धि पर नियंत्रण किया जा सकेगा।

(6) **मजदूरी बन्धन (Wages Freez) :** मुद्रास्फीति को मजदूरी बन्धन प्रक्रिया द्वारा भी कम किया जा सकता है। समझौते के द्वारा मजदूरी की दर को एक निश्चित समय तक के लिए स्थिर रखकर उत्पादन लागत को स्थिर रखा जा सकता है। जिसके फलस्वरूप मूल्य में वृद्धि को रोका जा सकता है।

(7) **आयात में वृद्धि और निर्यात में कमी (Increase in Export and Decrease in Export) :** मुद्रास्फीति की स्थिति में आयात में वृद्धि एवं निर्यात में कमी करके देश में वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाया जा सकता है। इससे मूल्य वृद्धि रोकी जा सकती है।

(8) **सार्वजनिक ऋण में वृद्धि (Increase in Public Debt) :** सरकार के प्रयासों से सार्वजनिक ऋणों में वृद्धि करके जनता की क्रय शक्ति को कम किया जा सकता है। फलतः मांग में कमी आयेगी और मूल्य वृद्धि की प्रवृत्ति रूक जायेगी।

(C) अन्य उपाय (Other Measures)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(1) वस्तुओं के संग्रह पर रोक (Check on Hoardings) : मुद्रास्फीति पर नियंत्रण हेतु सरकार वस्तुओं की संग्रह प्रवृत्ति पर रोक लगाकर बाजार में वस्तुओं के अभाव को दूर कर सकती है।

(2) उत्पादन वृद्धि (Increase in Production) : उद्योगों की उत्पाादन क्षमता में वृद्धि करके, नए उद्योगों को स्थापित करके उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है। उत्पादन वृद्धि से वस्तुओं के अभाव को समाप्त किया जा सकता है एवं मूल्य वृद्धि पर रोक लगायी जा सकती है।

(3) राशनिंग (Ratining) : मुद्रास्फीति के नियंत्रण के लिए सरकार वस्तुओं का राशनिंग कर सकती है।

(4) मूल्य नियंत्रण (Price Control) : मुद्रास्फीति रोकने के लिए सरकार द्वारा वस्तुओं का नियंत्रित मूल्य घोषित करके वस्तुओं के मूल्य को नियंत्रित किया जा सकता है।

(5) सट्टा बाजा पर रोक (Chkeck on Speculation) : सट्टावाजी मूल्य वृद्धि के मुख्य कारणों में एक है। सरकार द्वारा सट्टेबाजी पर रोक लगाकर मूल्य वृद्धि को रोका जा सकता है।

भारत में मुद्रा स्फीति (Inflation in India)

भारत में मुद्रा स्फीति को काल की दृष्टि से हम दो भागों में विभक्त करते हैं–

(1) स्वतंत्रता से पूर्वकाल अथवा युद्ध काल (Pre-independence or War Time Inflation)

(2) स्वतंत्रता के बाद का काल अथवा योजना काल (Post Independence or Plan Period Inflation)

(1) स्वतंत्रता से पूर्वकाल अथवा युद्ध काल (Pre-independence or War Time Inflation) : युद्ध के समय मुद्रास्फीति बहुत ही तेजी से बढ़ती है। भारत में मुद्रास्फीति द्वितीय विश्व युद्ध के समय प्रारम्भ हुई जो युद्ध के बाद भी जारी रही। युद्ध के समय वस्तुओं और सेवाओं का अभाव हो गया, जिस कारण कीमतों में तेजी से वृद्धि होने लगी। रक्षा व्यय में काफी वृद्धि की गयी। उपभोक्ता वस्तुओं जैसे चीनी, कपड़ा, सीमेन्ट, चाय आदि का अभाव हो गया। व्यापारी लोग अपने लाभ में वृद्धि करने के लिए आवश्यक वस्तुओं की जमाखोरी करने लगे। आयात भी कम हो गया। इन सब कारणों से मुद्रा स्फीति तेज गति से बढ़ने लगी। सरकार को मुद्रा का निर्गमन अधिक करना पड़ा। 1939 में देश में पत्र मुद्रा का चलन 179 करोड़ रूपये था जो जून 1944 में बढ़ कर 1152 करोड़ रूपये हो गया। रक्षा व्यय में भी लगभग दस गुणा वृद्धि हुई। युद्ध समाप्त होने के बाद भी मुद्रा स्फीति जारी रही। 1947 में देश का विभाजन हुआ, जिसके कारण मुद्रा स्फीति में वृद्धि होती रही। स्वतंत्रता पूर्व मुद्रा स्फीति का देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा। चोर बाजारी, जमाखोरी बढ़ने लगी। भ्रष्टाचार बढ़ गया। आय के वितरण की असमानता बढ़ती गयी। निश्चित आय वाले व्यक्तियों को खासकर श्रमिक कर्मचारी आदि को मुद्रा स्फीति के दुष्परिणाम भोगने पड़े। सरकार ने युद्ध कालीन इस मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए कई उपाय किये, जैसे आयकर के दर में वृद्धि की गई, उत्पादन कर लगाया गया, जमाखोरी, सट्टेबाजी पर प्रतिबन्ध लगाया गया, बचत योजना प्रारम्भ की गयी, सार्वजनिक ऋणों में वृद्धि की गयी, स्वर्ण भण्डाार को बेचा गया, राशनिंग और कृषि उत्पादन की वृद्धि पर अधिक ध्यान दिया गया। उपरोक्त उपायों के बाद भी मुद्रा स्फीति को नियंत्रण नहीं किया जा सका। मुद्रा स्फीति जारी रही।

(2) स्वतंत्रता के बाद का काल अथवा योजना काल (Post Independence or Plan Period Inflation) : स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी मुद्रास्फीति पर नियंत्रण नहीं किया जा सका। पंचवर्षीय योजनाओं में मुद्रा स्फीति जारी रही। मुद्रा स्फीति का मुख्य कारण घाटे का बजट, जनसंख्या में वृद्धि, चीन एवं पाकिस्तान से युद्ध, प्राकृतिक प्रकोप, उत्पाद में कमी, सरकारी नियन्त्रण में कमी, मुद्रा की मात्रा में वृद्धि, चोरी बाजारी एवं काले धन में वृद्धि, वस्तुओं की संग्रह प्रवृत्ति, विभिन्न योजनाओं में विकास व्ययों में वृद्धि आदि रही है। उपरोक्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्थितियों ने मुद्रा स्फीति को बढ़ा दिया। मुद्रा स्फीति के कारण देश की आम जनता को काफी परेशानी उठानी पड़ी। महंगाई आसमान छूने लगी। उपभोक्ता मूल्यों में 1981 से लेकर 2005 के बीच पांच गुणा से अधिक वृद्धि हुई। आधार वर्ष 1982 के अनुसार 2003–04 में उपभोक्ता मूल्य सूचकांक बढ़कर 504 हो गया। मुद्रा स्फीति की वार्षिक दर छठी योजना में थोक मूल्य सूचकांकों के अनुसार 8 प्रतिशत थी, जो 2001–02 में 7 प्रतिशत और 2004–05 में 5 प्रतिशत लगभग रही। 1993–94 के आधार वर्ष के अनुसार थोक मूल्य सूचकांक 2004–05 में बढ़कर 186.7 तक पहुंच गया। 2 अगस्त 2008 को मुद्रा स्फीति की दर अपने अधिकतम स्तर 12.91 प्रतिशत पर पहुंच गयी ।तब सरकार ने मुद्रास्फीति वर्ष 2008–09 में कीमतों में 6.5 प्रतिशत की दर से वृद्धि होने पर नियंत्रण के लिए सख्त कदम उठाएं।

भारत में योजनाकाल में मुद्रास्फीति के कारण (Causes of Inflation in Plan Period)

(1) **मुद्रा की मात्रा में भारी वृद्धि (Increase in Money Supply) :** आजादी के बाद योजनाकाल में मुद्रा का निर्गमन काफी मात्रा में हुआ। मुद्रा की मात्रा में भारी वृद्धि से मूल्यों में भी भारी वृद्धि हुई। 1950–51 में मुद्रा की पूर्ति 2016 करोड़ रूपये थी जो कि 2004–05 में बढ़कर 2193.3 हजार करोड़ रूपये हो गयी।

(2) **हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit Financing) :** हीनार्थ प्रबन्ध में सरकार अपने घाटे के बजट की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक से नयी मुद्रा का निर्गमन करवाती है। आर्थिक विकास हेतु घाटे का बजट योजना काल में निरन्तर बढ़ता ही गया। बजट के घाटे की पूर्ति के लिए हीनार्थ प्रबन्ध करती है परिणाम स्वरूप मुद्रास्फीति तेजी से बढ़ती है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में 333 करोड़ रू. की घाटे की वित्त व्यवस्था की गयी जो कि आठवीं पंचवर्षी योजना (1992–97) में बढ़कर 40000 करोड़ तक हो गयी थी। वर्ष 2005–06 में वार्षिक घाटे की वित्त व्यवस्था 17199 करोड़ होने का अनुमान था।

(3) **कृषि उत्पादन में अपर्याप्त वृद्धि (Insufficient Increase in Agricultural Production) :** योजनाकाल में कृषि विकास की दर बहुत कम रही है। अपर्याप्त कृषि विकास के कारण कृषि उत्पादन में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पायी। 1992–93 में कृषि उत्पादन मं खाद्यानों का उत्पादन 18 करोड़ टन था। वर्ष 1998–99 में 20.4 एवं 2003–04 में 21.2 करोड़ टन रहा। वर्ष 2004–05 में 20.64 करोड़ टन था।

(4) **औद्योगिक उत्पादन में अपर्याप्त वृद्धि (Insufficient Increase in Industrial Production) :** योजनाकाल में औद्योगिक विकास की दर कम रहने के कारण भी मुद्रा स्फीति में वृद्धि होती रही। वर्ष 1992–93 में औद्योगिक विकास की वार्षिक वृद्धि दर 2.3 प्रतिशत रही। वर्ष 1997–98 से वर्ष 2000–01 में औद्योगिक विकास की औसत विकास दर 5 प्रतिशत थी। वर्ष 2004–05 में औद्योगिक विकास की दर 8.4 प्रति रहने की आशा थी। आंकड़ों से स्पष्ट है कि औद्योगिक विकास की दर बहुत कम रही है।

(5) **सरकारी खर्चों में वृद्धि (Increase in Government Expenditure) :** योजनाकाल में योजना मदों के अतिरिक्त गैर योजना मदों में भी बहुत अधिक व्यय करना पड़ा है। सुरक्षा ब्यय में वृद्धि, प्रशासनिक व्यय में वृद्धि भी काफी हुई है। बढ़ता हुआ यह सरकारी व्यय मुद्रा स्फीति का एक मुख्य कारण है।

(6) **साख मुद्रा में वृद्धि (Increase in Credit Money) :** सरकार द्वारा उदार साख नीति अपनाने के कारण मुद्रा की कुल पूर्ति में भारी वृद्धि हुई है। विभिन्न पंचवर्षी योजनाओं में आर्थिक विकास के लिए वित्त का प्रबन्ध करने हेतु सरकार ने उदार साख नीति अपनायी जिसके फलस्वरूप मुद्रा के प्रसार में वृद्धि के कारण मूल्य में वृद्धि हुई है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(7) **तेलों के मूल्य में भारी वृद्धि (Increase in Oil Price) :** खनिज तेलों में लगातर वृद्धि से मुद्रा स्फीति में वृद्धि हुई है।

(8) **लागत में वृद्धि (Increase in Cost) :** मुद्रास्फीति का एक कारण मूल्यों में वृद्धि से हुई लागतों में वृद्धि है। योजनाकाल में जहां वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य में वृद्धि से लागतों में भारी वृद्धि हुई है वहीं परियोजनाओं में होने वाले विलम्ब के कारण भी लागतों में वृद्धि हुई है। लागतों में हुई वृद्धि मूल्य वृद्धि का एक प्रमुख कारण है।

(9) **जमाखोरी, कालाबाजारी एवं भ्रष्टाचार (Hoarding, Black Marketing and Curruption) :** योजनाकाल में भारत में जमाखोरी, कालाबाजारी एवं भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी है। जमाखोरी के कारण वस्तुओं का कृत्रिम अभाव हो जाता है। फलस्वरूप मूल्य वृद्धि होती जाती है।

(10) **अन्य कारण (Other Causes) :** उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त अकाल, बाढ़, करों में वृद्धि, उपभोग में वृद्धि, वेतन में वृद्धि, निर्यात में वृद्धि आदि के कारण भी मुद्रा स्फीति को बढ़ावा मिलता है।

भारत में मुद्रास्फीति पर नियन्त्रण के प्रयास (Steps to control Inflation in India)

मुद्रास्फीति के कारण भारत की अर्थव्यवस्था के विकास में काफी परेशानी उठानी पड़ी है। बढ़ती हुई महंगाई ने अर्थव्यवस्था के सभी पहलुओं को प्रभावित किया है। इस बढ़ती हुई मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण के लिए भारत में निम्नलिखित प्रयास किये गये हैं–

(1) **घाटे के बजट पर नियंत्रण (Control on Deficit Budget) :** सरकार द्वारा घाटे के बजट को कम करने के प्रयास किये जा रहे हैं। इस कारण हीनार्थ प्रबन्ध की राशि भी कम करने की कोशिश की जा रही है।

(2) **बड़े नोटों का विमुद्रीकरण (Demonetisation of Notes) :** प्रचलन में मुद्रा की मात्रा को कम करने के लिए सरकार ने समय –समय पर बड़े नोटों का विमुद्रीकरण कर के मुद्रा की मात्रा को कम करने का प्रयास किया है।

(3) **कर वृद्धि (Increase in Taxes) :** मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण करने के लिए प्रत्यक्ष करों में वृद्धि की गई है। अधिक से अधिक लोगों को कर के दायरे में लाने के लिए प्रत्यक्ष करों को व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया गया है।

(4) **उत्पादन में वृद्धि (Increase in Production) :** मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के लिए सरकार द्वारा कृषि एवं औद्योगिक उतपादन में वृद्धि करने का प्रयास किया गया है। ताकि बढ़ी हुई मांग की पूर्ति की जा सके और मूल्य वृद्धि पर नियंत्रण किया जा सके।

(5) **साख पर नियंत्रण (Control on Credit) :** मुद्रास्फीति पर नियंत्रण के लिए रिजर्व बैंक ने साख नियंत्रण हेतु समय–समय पर अनेक कदम उठाएं हैं। जैसे–नगद तरल कोषानुपात में परिवर्तन, बैंक दर में वृद्धि, ऋण दर में वृद्धि, राशनिंग आदि।

(6) **सार्वजनिक ऋणों में वृद्धि (Increase in Public Debts) :** मुद्रास्फीति में नियंत्रण हेतु सरकार ने समय–समय पर सार्वजनिक ऋण विभिन्न बान्ड आदि के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयास किया है। इससे जनता की आय को ऋण के रूप में प्राप्त कर उसकी क्रय शक्ति को कम करने का प्रयास किया गया, ताकि मांग में कमी करके मूल्य वृद्धि की प्रवृत्ति को रोका जा सके।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(7) बचत में वृद्धि (Promote Saving) : मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के लिए सरकार ने अनेक बचत योजनाओं को प्रारम्भ किया है। जिसके द्वारा उपभोक्ता की बचत को आकर्षित किया जा सके ताकि उपभोक्ता अपनी बढ़ी हुई आय को उपभोग वस्तु पर खर्च न करके धन बचत में लगा सके। इससे मूल्य वृद्धि पर नियंत्रण किया जा सकता है। सरकार ने पोस्ट आफिस, जीवन बीमा निगम, बैंक आदि संस्थाओं के माध्यम से बचत की आकर्षक योजनाएं प्रारम्भ की है

(8) अन्य प्रयास (Other Steps) : उपरोक्त प्रयासों के अतिरिक्त सरकार ने अन्य प्रयास भी किये हैं। जैसे–आयात में वृद्धि सार्वजनिक वितरण व्यवस्था, मूल्य नियन्त्रण, राशनिंग, जमाखोरी रोकने के प्रयास, सरकारी व्यय में कमी आदि।

प्रश्न

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. चलन स्फीति किसे कहते हैं?
2. वस्तु स्फीति से आप क्या समझते हैं?
3. गति को आधार पर मुद्रा स्फीति के प्रकार लिखें।
4. मुद्रा स्फीति का श्रमिक वर्ग पर पड़ने वाले प्रभावों को लिखें।
5. मुद्रा स्फीति के नियंत्रण हेतु मौद्रिक उपायों को लिखें।

वृहत्तरात्मक प्रश्न

1. मुद्रा स्फीति से आप क्या समझते हैं? मुद्रा स्फीति के कारणों का उल्लेख करें।
2. विभिन्न आधारों पर मुद्रा स्फीति के प्रकारों का वर्णन करें।
3. मुद्रा स्फीति के प्रभावों का उल्लेख करते हुए इस पर नियंत्रण के उपायों को लिखें।
4. भारत में योजनाकाल में मुद्रा स्फीति के कारणों का उल्लेख करते हुए इसके नियंत्रण के लिए किए गये प्रयासों को लिखें।

समानान्तर अर्थव्यवस्था

(Parallel Economy)

समानान्तर अर्थव्यवस्था एवं काली अर्थव्यवस्था एक–दूसरे के पर्यायवाची हैं। समानान्तर अर्थव्यवस्था को अवैधानिक (Illegal Economy) भी कहा जाता है। यह एक ऐसी अर्थव्यवस्था होती है जो स्वीकृत सामाजिक उद्देश्यों के प्रतिकूल चलती है। ऐसी अर्थव्यवस्था में अस्वीकृत क्षेत्र (Unsanctioned Sector) कार्यरत रहते हैं।

भारत में कालाधन (Black Money) बड़ी मात्रा में है। ये 'कालेधन' देश के विकास में अवरोधक बनते हैं। आय एवं धन के वितरण में असमानताएं बढ़ती जाती हैं। विकास कार्यक्रम का लाभ जन–समुदाय को नहीं मिल पाता है। सार्वजनिक आय को हानि पहुंचती है। भारत में 'कालेधन' की समस्या को हल करके ही आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

कालाधन (Black Money)

वह धन जो अवैधानिक तरीके से अर्जित किया जाता है, उसे कालाधन कहते हैं। ऐसे धन का कोई 'हिसाब–किताब' नहीं होता। ऐसा धन यदि वैधानिक तरीके से भी अर्जित कर किया जाता है तो उस पर टैक्स नहीं चुकाया जाता। इस प्रकार ऐसे धन का मालिक इस धन की आय छुपाता है। धन की सूचना वैधानिक रूप से नहीं देता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भारत में 'कालाधन' बड़ी मात्रा में होना देश के आर्थिक विकास को अवरोधित करता है। इससे आर्थिक क्षेत्र में अवैधानिक गतिविधियों को प्रोत्साहन मिलता है। तस्करी, काला बाजारी, वस्तुओं का कृत्रिम अभाव, टैक्स की चोरी आदि जो अर्थव्यवस्था को धुन की तरह खा जाते हैं, उन्हें इससे बढ़ावा मिलता है। तस्करी के द्वारा मानवता एवं देश के प्रति भी गद्दारी की जाती है। अधिक धन कमाने के लालच में ऐसे धन्धों में लिप्त लोगों का नैतिक पतन हो जाता है। अतः सरकार एवं प्रशासन, कानून के माध्यम से ऐसे कार्यों पर सख्ती बरतनी जरूरी है ताकि कालेधन को समाप्त किया जा सके।

कालेधन का वर्गीकरण

कालाधन दो तरीके से अर्जित हो सकता है–

1. अवैधानिक कार्यों के द्वारा (Through Illegal Deals)
2. वैधानिक कार्यों के द्वारा (Through Legal Deals)

1. अवैधानिक कार्यों के द्वारा (Through Illegal Deals)

कालाधन अवैधानिक तरीकों से अपनाया जाता है। इसमें तस्करी, जुआ, अवैध तरीके से सम्पत्तियों का क्रय–विक्रय, पगड़ी, रिश्वत आदि से प्राप्त आय आती हैं। तस्करी के अन्तर्गत अवैध हथियारों, नशीली दवाईयों की तस्करी आती है। इस प्रकार की आय का कोई लेखा–जोखा वैध तरीके से नहीं होता है। इस प्रकार की आय पर किसी भी प्रकार का टैक्स सरकार को नहीं चुकाया जाता है।

2. वैधानिक कार्यों के द्वारा (Through Legal Deals)

इस प्रकार की आय वैध कार्यों से अर्जित की जाती है लेकिन इससे सम्बन्धित सूचनाएं छिपायी जाती है। इसका कोई वैध लेखा–जोखा नहीं होता। ऐसी आय प्राप्तकर्त्ता अपनी आय का विवरण प्रस्तुत नहीं करता। अतः यह आय वैध कार्यों से प्राप्त होने के बावजूद भी अवैध कहलाती है। जैसे डॉक्टर, इंजीनियर, फिल्मी कलाकार, उद्योगपति, व्यापारी, गायक आदि अपनी सही आय का ब्यौरा टैक्स बचाने हेतु नहीं देते। ऊंचे दरों के आयकर भुगतान करने से बचने के लिए ये आय सम्बन्धी सही सूचनाएं छिपाते हैं।

भारत में कालाधन (Black Money in India)

भारत में कालाधन की मात्रा बहुत अधिक है। कालाधन और सफेद धन दोनों एक–दूसरे में इस तरह घुलमिल गए हैं कि इन्हें अलग–अलग करना अथवा इनका सही आंकड़ा निकालना बहुत कठिन कार्य है। सार्वजनिक वित्तीय नीति राष्ट्रीय संस्थान के अनुसार में भारत कुल उत्पादन का 21% कालाधन है। काले धन का प्रयोग अधिकतर अवैध व्यापार में किया जाता है। वर्ष 1960–61 में काले धन की कुल अनुमानित मात्रा कुल घरेलू उत्पादन की 6.5% थी। वर्ष 1984–85 में बढ़कर 16.4% हो गई थी। कालाधन राशि 40,530 करोड़ रुपये अनुमानित थी। 1991 में यह राशि 80,000 करोड़ रुपये और 1996–97 में यह राशि बढ़कर लगभग 90 खरब अनुमानित थी।

इस प्रकार भारत में काला धन की मात्रा धीरे–धीरे बढ़ती गई और आज यह एक बहुत बड़ी आर्थिक समस्या के रूप में देश में व्याप्त है।

समानान्तर अर्थव्यवस्था के कारण (Causes of Parallel Economy)

1. आर्थिक क्रियाओं पर कठोर नियंत्रण (Strick Control on Economic Activities)

भारत में आर्थिक क्रियाओं पर सरकार की कठोर नियंत्रण नीति एवं जटिलता के कारण कर की चोरी में वृद्धि हुई है। कीमत व वितरण सम्बन्धी, प्रशासनिक, लाईसेंसिंग, कर प्रणाली आदि से सम्बन्धित नीतियां इतनी कठोर हैं कि छोटे से कार्य के लिए भी रिश्वत देनी पड़ती है। सारा सरकारी तंत्र भ्रष्टाचार में डूबा हुआ है। इस प्रकार कठोर सरकारी नियंत्रण नीति के कारण समानान्तर अर्थव्यवस्था फल–फूल रही है।

2. कर की अव्यावहारिक दरें (Impractical Rates of Taxes)

भारत में कर की ऊंची दरों के कारण कर चोरी की प्रवृत्ति बढ़ी है और लोगों के पास बिना लेखा–जोखा की धन राशि बहुत बड़ी मात्रा में हो गई है। वर्ष 1991 में भारत में उदारीकरण की नीति अपनाने के बाद कर की दरों को व्यावहारिक बनाया जा रहा है फिर भी काले धन की मात्रा भारत में बहुत अधिक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. मूल्य वृद्धि (Inflation)

मुद्रास्फीति के कारण बाजार में सट्टेबाजी एवं काला बाजारी को प्रोत्साहन मिलता है जिससे समानान्तर अर्थव्यवस्था के विस्तार को अनुकूल वातावरण प्राप्त होता है।

4. तस्करी (Smuggling)

तस्करी के कारण वस्तुओं की कीमतों पर प्रभाव पड़ता है। साथ ही टैक्स की पूरी चोरी होती है। तस्करी का कार्य देशद्रोह की तरह है। तस्करी कालाधन में वृद्धि करके समानान्तर अर्थव्यवस्था को विकसित करती है।

5. कमजोर सरकारी प्रयास (Weak Government Efforts)

भारत में कराधान ऊंची होने के साथ–साथ कर चोरी को रोकने के लिए किए जा रहे सरकारी प्रयास भी पर्याप्त नहीं हैं। टैक्स चोरी पकड़े जाने पर भी भ्रष्टाचार के कारण अथवा सरकारी तंत्र की कमजोरी के कारण कोई विशेष कार्यवाही नहीं हो पाती। छापामारी आदि के माध्यम से कालाधन पकड़ में आने के बावजूद भी सख्त कार्यवाही नहीं हो पाती।

6. चुनाव पद्धति में दोष (Defective Election System)

चुनावों के समय उम्मीदवारों द्वारा काफी बड़ी मात्रा में धनराशि बड़े व्यापारियों एवं उद्योगपतियों द्वारा चन्दा के रूप में उगाही जाती है। ये व्यापारी एवं उद्योगपति उम्मीदवार के जीतने के बाद अपने दिए गए चन्दे से कई गुणा अधिक लाभ उठाने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोग राजनीतिक संरक्षण में अवैध तरीके से धन कमाते हैं। फलतः समानान्तर अर्थव्यवस्था को और अधिक सहयोग मिलता है। सत्ताधारी सरकार भी इन व्यावसायियों एवं उद्योगपतियों के हित में ही नीति तैयार करती हैं जिससे कालेधन को और अधिक बढ़ावा मिलता है।

7. भूमि सम्पत्ति क्रय–विक्रय की प्रक्रिया

भूमि सम्पत्ति एवं भवन आदि के क्रय–विक्रय की प्रक्रिया में दोष होने के कारण भी कालेधन को बढ़ावा मिलता है। भवन एवं भूमि के क्रय–विक्रय में इससे सम्बन्धित कई प्रकार के करों जैसे– रजिस्ट्रेशन शुल्क, गृहकर आदि को बचाने के लिए वास्तविक लेन–देन से कम कीमत दिखाते हैं। इस प्रकार समानान्तर अर्थव्यवस्था को विकास का अवसर मिलता है।

8. भ्रष्टाचार (Curruption)

कालेधन को पनपने का एक बड़ा कारण भ्रष्टाचार है। अर्थव्यवस्था के जिन–जिन क्षेत्रों में भ्रष्टाचार जितना अधिक हैं वहां उतनी अधिक मात्रा में कालाधन है। भारत में छोटे से लेकर बड़े स्तर तक भ्रष्टाचार व्याप्त है। अतः समानान्तर अर्थव्यवस्था फलती–फूलती रहती है।

समानान्तर अर्थव्यवस्था के दुष्प्रभाव (Demerits of Parallel Economy)

समानान्तर अर्थव्यवस्था अथवा कालेधन के दुष्प्रभाव निम्नलिखित हैं–

1. राजस्व की हानि (Loss of Reveneu)

समानान्तर अर्थव्यवस्था के कारण कर चोरी एवं विभिन्न शुल्क की अदायगी नहीं करने के कारण राजस्व की बड़ी मात्रा में हानि होती है जिनका बुरा असर आर्थिक विकास पर पड़ता है। राजस्व की हानि के कारण देश की आय में कमी होती है। अतः विकास की योजनाओं को पूरा करने के लिए घाटे का बजट अपनाना पड़ता है।

2. मुद्रास्फीति (Causes of Inflation)

कालेधन के कारण देश में प्रचलन में मुद्रा की मात्रा का सही आंकलन नहीं हो पाता है। कालाधन एक बड़ी मात्रा में दबा रहता है। अतः मुद्रा संकट की स्थिति में सरकार को घाटे का बजट बनाना पड़ता है जिससे मुद्रास्फीति होती है।

3. संसाधनों का दुरूपयोग (Mis-use of Resources)

कालेधन का अधिकांश भाग अनुत्पादक कार्यों में प्रयुक्त किया जाता है। फलस्वरूप पूंजी की उपलब्धता के बावजूद भी पूंजी निर्माण की प्रक्रिया को गति नहीं मिल पाती। उत्पादक कार्यों के लिए पूंजी उपलब्ध नहीं हो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पाती। कालेधन का उपयोग प्रायः भवन, भूमि, आभूषण, प्रदर्शनकारी व्यय आदि अनुत्पादक क्रय में किया जाता है।

4. आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक (Problem in achieving economic goal)

स्रकार की आर्थिक लक्ष्य प्राप्त करने की योजना बहुत ही सूक्ष्मता एवं गहनता से तैयार की जाती है। कालाधन की राशि में वृद्धि के कारण आर्थिक योजनाएं एवं उसे क्रियान्वित करने हेतु आर्थिक प्रक्रियाएं निष्फल हो जाती हैं। अतः वांछित आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाती है।

5. नैतिकता का ह्रास (Decline in moral values)

कालाधन गलत और अवैध तरीके से कमाया जाता है, इसलिए इसका व्यय भी अनैतिक एवं अवांछनीय कार्यों में किया जाता है, जैसे – शराब पीना, जुआ खेलना, आदि अनेक अवांछित एवं विलासितापूर्ण कार्यों में कालाधन व्यय किया जाता है। कालाधन की कमाई में ईमानदारी नहीं होती, पुरूषार्थ नहीं होता। अतः अनैतिक कृत्यों को बढ़ावा मिलता है। समाज में नैतिक मूल्यों का ह्रास होता है।

6. अर्थव्यवस्था सम्बन्धी सही आंकड़ों में कठिनाई (Problem to correct data)

समानान्तर अर्थव्यवस्था के कारण अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित सही आंकड़े प्राप्त नहीं हो पाते। कालाधन बड़ी मात्रा में होने के कारण राष्ट्रीय, आय–बचत अनुपात, पूंजी निर्माण, विनियोग आदि से सम्बन्धित सही आंकड़ें प्राप्त करना कठिन होता है। फलस्वरूप अर्थव्यवस्था का सही आंकलन नहीं होने के कारण सही विश्लेषण नहीं हो पाता।

7. अपराधों में बढ़ोतरी (Increase in Crime)

कालेधन के कारण आपराधिक कृत्यों को बढ़ावा मिलता है। कालाधन का एक बड़ा हिस्सा आपराधिक कार्यों से भी प्राप्त होता है।

8. चोर बाजारी (Black Marketing)

चोरबाजारी और कालाधन एक–दूसरे के पूरक हैं। कालाधन चोरबाजारी की प्रवृत्ति को बढ़ाता है तो चोरबाजारी से कालाधन प्राप्त होता है।

इस प्रकार समानान्तर अर्थव्यवस्था का दुष्प्रभाव आर्थिक विकास में बाधक बनकर खड़ा होता है।

भारत में समानान्तर अर्थव्यवस्था को समाप्त करने के प्रयास (Efforts to abolish the parallel Economy)

भारत में समानान्तर अर्थव्यवस्था को समाप्त करने के लिए सरकारी स्तर पर अनेक प्रयास किए गए हैं एवं वर्तमान में किए जा रहे हैं। इन प्रयासों के अच्छे परिणाम आए हैं; फिर भी इस समस्या से निजात पाना संभव नहीं हो सका है। सरकार द्वारा इस ओर किए गए प्रयास निम्नलिखित हैं–

1. विमुद्रीकरण (Demonestisation)

1946 एवं 1978 में सरकार ने कालाधन को समाप्त करने के लिए विमुद्रीकरण की घोषणा की। सरकार ने 1000, 5000 एवं 10,000 के बड़े नोटों का प्रचलन बन्द कर दिया था। कालाधन अधिकांशतः बड़े नोटों के रूप में संग्रहित रहता है। अतः इस घोषणा से कालाधन तत्काल अपने–आप कम हो गया। वर्तमान में सरकार ने 500 एवं 1000 के नोट का प्रचलन किया है।

2. स्वैच्छिक आय घोषणा योजना (Voluntary Disclosure of Income Scheme)

1997 में भारत सरकार ने कालेधन को बाहर निकलवाने के लिए स्वैच्छिक आय घोषणा योजना प्रारम्भ की। इस योजना से सरकार को 10,500 करोड़ रुपए का राजस्व प्राप्त हुआ और 33,000 करोड़ रुपये का कालाधन सफेद धन में परिवर्तित हो गया।

3. छापामारी (Raids)

स्रकार ने समय–समय पर सूचनाओं के आधार पर कालेधन का संदेह होने पर छापामारी एवं तलाशियां करवायी हैं। इससे काफी मात्रा में कालाधन सरकार की पकड़ में आया है। सरकार को चाहिए कि ऐसे मामलों में कड़ाई बरतते हुए कार्यवाही भी करे।

4. कर प्रणाली में सुधार (Reforms in Tax-structure)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वर्तमान कर–प्रणाली में सुधार कर इसे और अधिक सुगम एवं सरल बनाना आवश्यक है ताकि कर चुकाने वाले स्वेच्छा से कर का भुगतान करें। इससे कर चोरी की प्रवृत्ति भी कम होगी।

5. नियंत्रण में सुधार (Reforms in Control)

सरकार द्वारा अपनायी गयी निजीकरण एवं उदारीकरण की नीति के कारण सरकारी नियंत्रण में काफी कमी आयी है। इस कारण कालाधन छुपाने की प्रवृत्ति कम हुई है।

6. एन.आर.आई. निवेश को प्रोत्साहन (Non-Resident Investment)

विदेशों में प्रवास कर रहे भारतीयों के निवेश को आकर्षित करने के लिए गैर–निवासी विनियोग योजना (Non-Resident Investment Scheme) बनायी गयी। इसके तहत प्रवासियों के निवेश को आकर्षित किया गया।

7. वाहक बाण्ड (Bearer Bonds)

स्रकार द्वारा समय–समय पर ऐसी विशिष्ट योजनाएं चलायी जाती हैं, जिससे कालाधन सामने आता रहता है। इन योजनाओं में बाण्ड खरीदने वाले से उसकी आय का स्रोत पूछा नहीं जाता है। जैसे – इन्दिरा विकास पत्र आदि।

समानान्तर अर्थव्यवस्था को समाप्त करने हेतु सुझाव

1. भ्रष्टाचार निरोध कानून का कड़ाई से पालन करवाना आवश्यक है।
2. कर चोरी करने वालों को सख्त सजा देनी चाहिए।
3. सम्पत्ति की घोषणा अनिवार्य कर देनी चाहिए।
4. ईमानदारी से आय पर कर भुगतान करने वालों को प्रोत्साहन करना चाहिए।
5. चुनावों हेतु चन्दा–प्रथा को पारदर्शी बनाना चाहिए।
6. कर–प्रणाली को और अधिक सरल एवं आसान बनाना चाहिए ताकि कर चोरी की प्रवृत्ति समाप्त हो जाए।
7. छापामारी एवं तलाशियों का अभियान चलाना चाहिए।

प्रश्न

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. विमुद्रीकरण क्या है?
2. 'कालाधन' किसे कहते है?
3. 'तस्करी' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
4. समानान्तर अर्थव्यवस्था क्या है?
5. समानान्तर अर्थव्यवस्था को समाप्त करने हेतु महत्वपूर्ण सुझाव दें।

वृहत्तरात्मक प्रश्न

1. समानान्तरण अर्थव्यवस्था से आप क्या समझते हैं? इसके उत्पत्ति के कारण एवं दुष्प्रभावों पर प्रकाश डालिए।
2. कालाधन क्या है? इसके उत्पत्ति के कारण एवं दुष्प्रभावों पर प्रकाश डालिए।
3. समानान्तर अर्थव्यवस्था के अर्थ को समझाते हुए इसे दूर करने के उपायों को लिखें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

औद्योगिक रूग्णता (Industrial Sickness)

भारतीय अर्थव्यवस्था की एक बड़ी समस्या है– औद्योगिक रूग्णता। भारत में लाखों औद्योगिक इकाईयां रूग्ण हैं जिनमें सरकार के अरबों रुपए लगे हुए हैं। इन रूग्ण इकाईयों के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

औद्योगिक रूग्णता जहां देश के औद्योगिक अर्थव्यवस्था को कमजोर बनाती है, वहीं उत्पादन में कमी एवं बेरोजगारी भी लाती है। भारत जैसे विकासशील देश के आर्थिक विकास हेतु औद्योगिक विकास अत्यन्त आवश्यक है। औद्योगिक रूग्णता आर्थिक विकास, उत्पादन वृद्धि एवं रोजगार वृद्धि हेतु अति आवश्यक है।

भारत में औद्योगिक रूग्णता (Industrial Sickness in India)

भारत में औद्योगिक रूग्णता लघु एवं वृहद दोनों उद्योगों में मौजूद है। आजादी के बाद परम्परागत उद्योग जैसे – वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, जूट उद्योग आदि में औद्योगिक रूग्णता आयी वहीं अन्य अनेक उद्योग जैसे इंजीनियरिंग, रसायन, रबड़, सीमेन्ट, इलैक्ट्रीकल एवं कागज जैसे उद्योग भी औद्योगिक रूग्णता से ग्रस्त हुए। 31 मार्च 2001 को भारत में 2,52,947 इकाईयां रूग्ण थीं जिनमें से 2,49,630 इकाईयां लघु–उद्योगों में थी और 3317 इकाईयां मध्यम एवं वृहत उद्योगों में थी। इन इकाईयों में सार्वजनिक क्षेत्र, निजी क्षेत्र, संयुक्त क्षेत्र एवं सरकारी क्षेत्र सभी थे। जहां लघु उद्योगों में रूग्ण इकाईयों की संख्या में कमी आयी हैं वहीं मध्यम एवं वृहत् उद्योगों की रूग्ण इकाईयों की संख्या में वृद्धि हुई है। बैंकों की बड़ी मात्रा में राशि इन उद्योगों में फंसी हुई है और इन अवरूद्ध बैंक साख की राशि में वृद्धि भी होती गयी है। 31 मार्च 2000 में बैंकों के साख की कुल फंसी हुई राशि का 17.5% लघु उद्योगों की रूग्ण इकाईयों में एवं 82.5% मध्यम एवं वृहत उद्योगों की रूग्ण इकाईयों में फंसी हुई थी। 31 मार्च 1997 को लघु उद्योगों की रूग्ण इकाईयों की 57% इकाईयां महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, पश्चिम बंगाल एवं उत्तर प्रदेश में थी और वृहत एवं मध्यम उद्योगों की 71% रूग्ण इकाईयां भी महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, गुजरात, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु एवं कर्नाटक में थी। बैंकों की कुल बकाया राशि की 56% राशि वस्त्र, सूती, लोहा एवं इस्पात उद्योग, विद्युत उद्योग, इंजीनियरिंग उद्योग एवं रसायन उद्योगों में थी। 2006 में रूग्ण इकाईयों की संख्या बढ़कर 1,31,553 हो गयी जिस पर बैंक साख के 38,819 करोड़ रूपये बकाया था।

रूग्ण लघु उद्योगों की भारत में स्थिति (Sickness in the Small Scale Industries in India)

भारत में रूग्ण लघु उद्योगों की संख्या में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद काफी वृद्धि हुई। एक सर्वेक्षण के अनुसार रूग्ण लघु उद्योगों की संख्या जो 3,04,235 थी, 2001 में घटकर 2,49,630 रह गयी थी जिनमें बैंकों की 4506 करोड़ रुपए की राशि फंसी हुई थी। रूग्ण इकाईयों का पुनर्निर्माण करके, उनका आधुनिकीकरण करके, उनमें तकनीकी परिवर्तन करके रूग्ण औद्योगिक इकाईयों को ठीक किया जा सकता है। लेकिन इस कार्य में धन अधिक व्यय होता है। उद्योगों को पुनःसंचालित करने हेतु वित्तीय व्यवस्था करनी होती है, उद्योगों को ब्याज में रियायत देनी पड़ती है आदि। रूग्ण इकाईयों के पुनर्वास (Rehabilitation) के लिए भारतीय रिजर्व बैंक ने सन् 2000 में एस.एस. कोहली की अध्यक्षता में एक कार्यकारी समूह का गठन किया। समूह की रिपोर्ट के अनुसार भारतीय रिजर्व बैंक ने रूग्ण इकाईयों के लिए जो दिशा–निर्देश दिया उन्हें सभी बैंकों को कार्यान्वयन करना होगा। रिपोर्ट में रूग्ण इकाईयों की जीवन क्षमता (Viability) के निर्धारण हेतु मानदण्ड निर्धारित किये गए। वर्ष 1997 में लघु उद्योगों की कुल रूग्ण इकाईयों का 57% महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, उत्तरप्रदेश था। रूग्ण लघु इकाईयों को पुनर्जीवन के लिए किए गए प्रयासों का ही प्रतिफल है कि रूग्ण इकाईयों की संख्या पहले से कम हुई है।

लघु उद्योगों की रूग्णता के प्रमुख कारण (Main Causes for Sickness of SSI)

भारत में लघु उद्योगों की इकाईयों की रूग्णता के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

1. उत्पादन क्षमता का अपूर्ण उपयोग (Under-utilisation of Capacity)

भारत में लघु उद्योगों की इकाईयों का उनकी क्षमता के अनुसार उपयोग नहीं हो पाता है। प्रबन्धकीय ज्ञान का अभाव के कारण मितव्ययिता नहीं अपनायी जाती, जिस कारण उत्पादन लागत अधिक हो जाती है और इकाईयां भी रूग्ण हो जाती हैं।

2. ऊंची ब्याज दर (High Interest Rate)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लघु उद्योगों की इकाईयों की स्थापना में जो पूंजी लगायी जाती है वह ऊंची ब्याज दर पर होती है। अतः लघु इकाईयों को जीवित रखने में कठिनाई होती है।

3. ऊंची उपरिलागत (High Overhead Cost)

साहसियों की प्रबन्ध में अकुशलता के कारण लघु उद्योगों में उपरिलागत ऊंची होती है। अतः लघु उद्योगों के सामने लागत सम्बन्धी कठिनाईयां आती हैं।

4. अकुशल प्रबन्ध (Lack of Managerial Skills)

लघु उद्योगों के प्रबन्धकों में प्रायः प्रबन्धकीय कुशलता का अभाव रहता है। उनमें प्रबन्ध का विशिष्ट ज्ञान नहीं होता। फलतः उद्योगों को कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है।

5. कार्यशील पूंजी का अभाव (Lack of Working Capital)

लघु उद्योगों में कार्यशील पूंजी का अभाव रहता है, जिस कारण उद्योगों की पूर्ण क्षमता का उपयोग नहीं हो पाता और लागत में भी वृद्धि हो जाती है।

6. कच्चे माल का अभाव (Lack of Raw Material)

लघु उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति का अभाव रहता है। कच्चे माल की अनुपलब्धता लघु उद्योगों को नियमित संचालित करने में बाधा उत्पन्न करती है।

7. प्रबन्धकीय सिद्धान्तों की अनुपालना का अभाव (Lack of Implimentation of Management Principles)

लघु उद्योग इकाईयों में प्रबन्धकीय सिद्धान्तों की अनदेखी की जाती है। इससे प्रबन्धन में समस्या उत्पन्न होती है। कार्यशील पूंजी एवं आंतरिक वित्तीय संसाधनों में वृद्धि हेतु कोई ठोस प्रयास नहीं किए जाते। प्रबन्धकीय सिद्धान्त की अनुपालना नहीं होने के कारण आगे चलकर ये इकाईयां बीमार हो जाती हैं।

8. बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से प्रतियोगिता (Competition with Multinational Companies)

आज भूमण्डलीकरण के कारण बहुराष्ट्रीय कम्पनियां दुनिया के सभी देशों में विस्तार पा रही हैं। फलतः लघु उद्योगों के उत्पाद को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उत्पाद से प्रतियोगिता करनी पड़ती है और प्रतियोगिता में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सामने ये टिक नहीं पाती।

9. सरकारी नीतियां (Government Policies)

कभी–कभी सरकारी नीतियों के कारण भी लघु उद्योगों की इकाईयां रूग्ण हो जाती हैं। सरकारी नीतियों के कारण लघु उद्योगों के लिए आरक्षित उत्पादनों को जब आरक्षण दायरे से बाहर किया जाता है तब प्रतियोगिताएं बढ़ जाती हैं और पिछड़ जाती हैं और इकाईयां धीरे–धीरे रूग्ण हो जाती हैं। इसके साथ ही वित्तीय सहायता, अनुदान आदि नीतियों में परिवर्तन के कारण भी इन उद्योगों पर असर पड़ता है।

लघु उद्योग इकाईयों की रूग्णता को रोकने के उपाय (Measures to Prevent Sickness in Small Scale Industries)

भारत में लघु उद्योगों की रूग्णता को रोकने के लिए विशेष प्रयासों की आवश्यकता है। रूग्णता दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय करने चाहिए–

1. वित्तीय संसाधनों का सृजन (Creation of Financial Sources)

लघु उद्योग इकाईयों को अपने लाभों को पुनर्विनियोग करना चाहिए ताकि आन्तरिक वित्तीय संसाधनों का सृजन हो सके। वित्तीय संसाधनों के सृजन से वित्तीय अभाव को दूर किया जा सकता है।

2. प्रबन्धकीय कौशल का विकास (Development of Managerial Skills)

लघु उद्योगों में अधिकांश समस्याएं प्रबन्धकीय कुशलता के अभाव के कारण उभरती हैं। अतः ऐसी ईकाई के प्रबन्धकों को प्रबन्धन का प्रशिक्षण देकर उनमें प्रबन्ध कौशल का विकास करना चाहिए।

3. लागतों में कमी करना (Reduce the Cost)

लघु उद्योगों की लागतों में कमी करने हेतु स्कन्ध की मात्रा को अनुकूलतम स्तर पर रखना चाहिए।

4. उपरिव्ययों की लागतों को कम करना (Reduce the Overhead Cost)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लघु उद्योगों में उपरिव्यय लागतों में वृद्धि के कारण उत्पादित वस्तुएं अपेक्षाकृत महंगी हो जाती हैं। उपरिव्यय लागतों में कमी करके इस समस्या को दूर कर उद्योगों को रूग्ण होने से बचाया जा सकता है।

5. अल्पकालीन पूंजी का दीर्घकालीन निवेश पर नियंत्रण (Control on Long Term Investment)

मध्यमकालीन एवं दीर्घकालीन निवेश हेतु अल्पकालीन वित्तीय स्रोतों से प्राप्त पूंजी का उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। इस पर नियंत्रण आवश्यक है।

मध्यम एवं वृहत आकार के औद्योगिक इकाईयों की रूग्णता के प्रमुख कारण

(Major Causes Responsible for Industrial Sickness)

मध्यम एवं वृहत् आकार के औद्योगिक इकाईयों की रूग्णता के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

1. कुप्रबन्ध (Mismanagement)

औद्योगिक इकाईयों का प्रबन्ध प्रशिक्षित प्रबन्धकों के हाथ में नहीं होने के कारण जहां प्रबन्धकीय कौशल का लाभ नहीं मिल पाता है वहीं प्रबन्ध अवव्यवस्थित कुप्रबन्ध का शिकार हो जाता है। धीरे–धीरे उद्योग रूग्णता की ओर अग्रसर हो जाता है।

2. सरकारी नीतियां (Government Policies)

औद्योगिक रूग्णता के लिए सरकारी नीतियां भी कम जिम्मेदार नहीं है। उत्पादन, वितरण एवं मूल्य निर्धारण से सम्बन्धित सरकारी नीतियों में व्यावहारिकता का अभाव एवं क्लिष्टता होने के कारण उद्योग रूग्णता का शिकार हो जाते हैं।

3. कच्चे माल की कमी (Lack of Raw Material)

कच्चे माल की कमी उद्योगों को निरन्तर उत्पादन जारी रखने में बाधा उत्पन्न करती है। कच्चे माल की कमी से औद्योगिक क्षमता का पूरा उपयोग नहीं हो पाता है।

4. ऊर्जा की कमी (Lack of Energy)

ऊर्जा संसाधनों की निरन्तर आपूर्ति नहीं होने के कारण उद्योगों में उत्पादन कार्य कम होता है। उद्योगों की क्षमता का पूरा विदोहन नहीं हो पाता है। क्षमताओं के कम उपयोग एवं उत्पादन में कमी के कारण औद्योगिक रूग्णता आ जाती है।

5. योजनाओं में औद्योगिक विकास की प्राथमिकता का अभाव (Lack of Priority of Industrial Development in Plans)

योजनाओं में कृषि आदि की प्राथमिकता के कारण उद्योगों के विकास पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया। फलतः उद्योगों का विकास जिस गति से होना चाहिए था वह नहीं हो सका। औद्योगिक समस्याएं भी समाधान के अभाव में ज्यों की त्यों बनी रही और उनके कारण उद्योग रूग्ण हो गए।

6. परिवहन साधनों का अभाव (Lack of Transportation)

परिवहन साधनों की पर्याप्त उपलब्धता नहीं होने के कारण साथ ही करोड़ एवं रेल के यातायात सुविधाओं के अभाव के कारण भी औद्योगिक रूग्णता आयी है।

7. औद्योगिक सम्बन्धों में कटुता (Bad Industrial Relations)

मिल मालिक एवं मजदूरों के बीच आपसी कटुता के कारण इनमें आपसी संघर्ष निरन्तर होते रहते हैं। तालाबंदी, हड़ताल आदि की स्थिति बनी रहती है। फलतः औद्योगिक रूग्णता होती है।

8. अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता (International Competition)

वैश्वीकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के औद्योगिक कम्पनियां अपने उत्पाद अधिकांश देशों में निर्यात करती है। उच्च गुणवत्ता एवं कम कीमत के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव के कारण देश में औद्योगिक रूग्णता बनी रहती है।

9. अन्य कारण (Other Causes)

उपरोक्त कारणों के अलावा औद्योगिक रूग्णता के अन्य कारण भी हैं–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अ. अत्यधिक उपरिव्यय

ब. कोषों के सही उपयोग का अभाव

स. सही अनुमान का अभाव

द. गलत लाभांश नीति आदि।

औद्योगिक रूग्णता को रोकने के उपाय (Measures to Prevent Industrial Sickness)

1. सक्षम प्रबन्धकीय योग्यता का विकास (Develop the Competent Managerial Skills)

उद्योगों को रूग्णता से बचाने के लिए प्रबन्धकीय योग्यता का विकास एवं उनमें सक्षमता बहुत आवश्यक है। सक्षम प्रबन्धकीय योग्यता के द्वारा रूग्ण औद्योगिक इकाईयों को सक्षम इकाईयों में बदला जा सकता है।

2. सरकारी नीतियों में परिवर्तन (Changes in Government Policies)

समय–समय पर आवश्यकतानुसार सरकारी मूल्य नीति, उत्पादन नीति, वितरण नीति में परिवर्तन करते रहना चाहिए ताकि औद्योगिक विकास अवरूद्ध नहीं हो एवं समस्याओं का तत्काल समाधान हो सके।

3. योजनाओं में औद्योगिक विकास पर पर्याप्त ध्यान (Proper Attention on Industrial Development in Plans)

पंचवर्षीय योजनाएं तैयार करते समय औद्योगिक विकास पर भी पर्याप्त ध्यान देना आवश्यक है। अन्य प्राथमिकताओं के कारण उद्योगों की प्राथमिकताओं को नजरअंदाज करना उचित नहीं है। अतः योजनाओं में औद्योगिक विकास पर आवश्यकतानुसार पर्याप्त ध्यान देना चाहिए ताकि औद्योगिक रूग्णता की स्थिति न आए।

4. औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार (Improve the Industrial Relations)

औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार करके तालाबंदी एवं हड़ताल जैसी स्थितियों को पैदा होने से रोका जा सकता है एवं उत्पादन में भी वृद्धि की जा सकती है।

5. कच्चे माल की पर्याप्त आपूर्ति (Sufficient Supply of Raw Material)

कच्चे माल की पर्याप्त आपूर्ति समय पर करके उद्योगों को बीमार होने से बचाया जा सकता है एवं उसकी उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग भी किया जा सकता है।

6. नियमित ऊर्जा आपूर्ति (Regular Power Supply)

उद्योगों के निरन्तर संचालन के लिए नियमित ऊर्जा की आपूर्ति आवश्यक है। ऊर्जा के संसाधनों का विकास करके ऊर्जा आपूर्ति निरन्तर की जा सकती है।

7. परिवहन साधनों का विकास (Development of Transportation)

औद्योगिक स्थलों से उत्पादित माल को बाहर भेजने एवं औद्योगिक स्थलों तक कच्चा माल एवं अन्य सामग्री पहुंचाने हेतु पर्याप्त परिवहन साधनों का विकास आवश्यक है। आवश्यकतानुसार सड़क, रेल, जल परिवहन आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए।

8. उपरि लागतों में कमी (Less Overhead Costs)

प्रबन्धकीय कुशलता का विकास करके उपरि लागतों में कमी की जा सकती है।

9. उपयुक्त लाभांश नीति एवं कोषों का सही उपयोग (Proper Divident Policy and Utilisation of Funds)

प्रबन्धकीय योग्यता में विकास करके उपयुक्त लाभांश नीति अपनायी जा सकती है एवं कोषों का सही उपयोग किया जा सकता है।

10. मशीन एवं उपकरण के ह्रास हेतु प्रावधान (Provision for Depreciation of Machinery and Equipments)

मशीन एवं उपकरणों के पुनर्स्थापन के लिए उपयुक्त ह्रास–प्रावधान होना चाहिए ताकि उद्योगों को रूग्ण होने से बचाया जा सके।

11. अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक परिस्थितियों का ज्ञान (Knowledge of International Industrial Situation)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उद्योग से जुड़े लोगों को विशेषकर प्रबन्धकों आदि को अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक स्थितियों का ज्ञान होना आववश्यक है तभी वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में सक्षम एवं सफल हो पाएंगे।

प्रश्न

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत में रुग्ण लघु उद्योगों की स्थिति पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
2. लघु उद्योगों की रुग्णता के किन्हीं चार कारणों को लिखें।
3. मध्यम एवं वृहत आकार के उद्योगों के रुग्णता के प्रमुख चार कारण लिखें।

वृहत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत में आद्योगिक रुग्णता की स्थिति को बताएं। औद्योगिक रुग्णता के प्रमुख कारणों का उल्लेख करें।
2. औद्योगिक रुग्णता के प्रमुख कारणों का उल्लेख करते हुए इसे रोकने के उपायों को लिखें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

खण्ड–स

इकाई 1

मौद्रिक नीति (Monetary Policy)

ईकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 मौद्रिक नीति का अर्थ

1.3 मौद्रिक नीति के उद्देश्य

1.4 मौद्रिक नीति के उपकरण

- 1.4.1 बैंक दर नीति
- 1.4.2 खुले बाजार की क्रियाएं
- 1.4.3 नकद कोषानुपात में परिवर्तन
- 1.4.4 वैधानिक तरलता अनुपात में परिवर्तन
- 1.4.5 चयनात्मक साख नियंत्रण
- 1.4.6 अन्य उपाय

1.5 विकासशील देशों में मौद्रिक नीति की भूमिका

- 1.5.1 कीमत स्थिरता
- 1.5.2 भुगतान शेष घाटा कम करना
- 1.5.3 ब्याज दर नीति
- 1.5.4 ऋण प्रबंधन
- 1.5.5 बैंकिग तथा वित्तीय संस्थाएं स्थापित करना

1.6 मौद्रिक नीति की सीमाएं

1.7 सारांश

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.9 शब्दावली

1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 उद्देश्य :– प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप जान पायेंगें कि –

(i) मौद्रिक नीति का क्या अर्थ हैं ?

(ii) मौद्रिक नीति के क्या–क्या उद्देश्य हैं?

(iii) मौद्रिक नीति के उपकरण कौनसे हैं?

(iv) विकासशील देशों में मौद्रिक नीति की भूमिका क्या हैं?

1.1 प्रस्तावना :–

किसी भी देश के आर्थिक विकास में मौद्रिक नीति एवं राजकोषीय नीति की महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं। मौद्रिक नीति का तात्पर्य मौद्रिक निर्णयों से होता हैं जबकि राजकोषीय नीति का तात्पर्य राजकोषीय कोषों से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संबंधित राजकीय नीतियों से होता हैं। प्रस्तुत अध्याय में मौद्रिक नीति के उद्देश्य, उपकरण तथा विकासशील देशों में मौद्रिक नीति की भूमिका की व्याख्या की गई हैं। मौद्रिक नीति के उपकरणों में रिर्जव बैंक द्वारा अपनाए जा रहे मात्रात्मक एवं गुणात्मक अथवा चयनात्मक साख नियंत्रण के उपायो की व्याख्या की गई हैं। अंत में मौद्रिक नीति की सीमाओं की व्याख्या की गई हैं।

1.2 मौद्रिक नीति का अर्थ : मौद्रिक नीति का अर्थ एक देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनाए गए साख नियंत्रण उपायों से हैं। जॉनसन मौद्रिक नीति को इस प्रकार परिभाषित करते हैं : ''सामान्य आर्थिक नीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा की पूर्ति को नियंत्रण करने के औजार के रूप में यह नीति हैं।'' जी.के. शॉ इसे ''मुद्रा की मात्रा, प्राप्यता या लागत को परिवर्तित करने के लिये मौद्रिक प्राधिकारी द्वारा कोई सचेत कार्य किया गया,'' परिभाषित करता हैं।

1.3 मौद्रिक नीति के उद्देश्य : मौद्रिक नीति के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं।

1. पूर्ण रोजगार :– पूर्ण रोजगार को मौद्रिक नीति के प्रमुख उद्देश्यों में रखा गया हैं। यह एक महत्वपूर्ण उद्देश्य हैं क्योंकि बेरोजगारी से न केवल संभावित उत्पादन की हानि होती हैं बल्कि इससे सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्मसम्मान की भी हानि होती हैं। इसके अतिरिक्त यह गरीबी को उत्पन्न करती हैं। इसलिए, पूर्ण रोजगार प्राप्त करना परम आवश्यक होता हैं।

2. कीमत स्थिरता :– कीमत स्तर में स्थिरता लाना मौद्रिक नीति का एक प्रमुख उद्देश्य हैं।

3. आर्थिक वृद्धि :– हाल के बर्षो में मौद्रिक नीति के अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह रहा हैं कि अर्थव्यवस्था की तेजी से आर्थिक वृद्धि हो।

4. भुगतान शेष :– 1950 के दशक से मौद्रिक नीति का एक अन्य उद्देश्य रहा हैं कि भुगतान शेष संतुलन बनाए रखा जाए।

बोध प्रश्न :

प्रश्न 1. मौद्रिक नीति का अर्थ बताइयें।

.....

.....

.....

प्रश्न 2. मौद्रिक नीति के उद्देश्य बताइयें।

.....

.....

.....

1.4 मौद्रिक नीति के उपकरण :–

मौद्रिक नीति केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनाए गए साख–नियंत्रण उपायो से संबंध रखती हैं। ये दो प्रकार के होते हैं :

(1) मात्रात्मक (quantitative) – सामान्य अथवा अप्रत्यक्ष नियंत्रण,

(2) गुणात्मक (qualitative) – चयनात्मक अथवा प्रत्यक्ष नियंत्रण।

प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत बैंक दर में परिवर्तन, खुले बाजार के प्रचालन, तथा परिवर्तनशील आरक्षण आवश्यकताएं सम्मिलित रहती हैं। उनका उद्देश्य व्यापारिक बैंकों के माध्यम से अर्थव्यवस्था में साख के सम्पूर्ण स्तर का नियमन (regulate) करना हैं। इनमें परिवर्तनशील सीमा आवश्यकताएं तथा उपभोक्ता साख का नियमन शामिल रहते हैं।

1.4.1 बैंक दर (Bank Rate) :–

बैंक दर को अमेरिका में बट्टे की दर भी कहते हैं। बैंक दर केन्द्रीय बैंक की मुद्रा उधार देने की न्यूनतम दर होती हैं। वैसे इसी दर पर केन्द्रीय बैंक से बिलों की खरीद व पुनर्कटौती भी किया करते हैं। रिर्जव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में ''बैंक–दर वह स्टैण्डर्ड दर मानी गई हैं जिस पर बैंक उन विनिमय बिलों या अन्य व्यापारिक प्रपत्रों को खरीदने व उनकी पुर्नकटौती के लिए तैयार रहता हैं जिन्हें वह इस अधिनियम के अन्तर्गत खरीद सकता हैं। लेकिन भारत में बिल बाजार (bill market) के अभाव में बैंक–दर वह दर मानी गई हैं जिस पर रिर्जव बैंक व्यापारिक बैंकों को मुद्रा उधार देता हैं।

बैंक–दर के बढ़ने के आर्थिक प्रभाव

1. **साख संकुचन :–** बैंक–दर बढ़ने से साख–संकुचन होता हैं, क्योंकि व्यापारिक बैंकों को केन्द्रीय बैंक से प्राप्त कर्ज पर अपेक्षाकृत अधिक ब्याज देना पड़ता हैं जिससे उनके द्वारा केन्द्रीय बैंक से लिया जाने वाला कर्ज कम हो जाता हैं। साथ में व्यापारिक बैंक अपनी ब्याज की दरें भी बढ़ा देते हैं, जिससे व्यापारी व अन्य ग्राहक कम मात्रा में उधार लेने लगते हैं।

2. **नये विनियोग की कमी :–** स्वाभाविक हैं कि बैंक–दर के बढ़ने से एवं परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में ब्याज की दरों के बढ़ जाने से नये विनियोगों में कमी आती हैं जिससे रोजगार व आय घटने लगते हैं।

3. **कीमतों में कमी :–** जिन व्यावसायियों ने उधार की रकम के आधार पर माल जमा कर रखा हैं वे ब्याज की दरें बढ़ जाने पर कुल ब्याज का भार अधिक हो जाने के कारण माल बेचने लगते हैं जिससे कीमतों में गिरावट आती हैं।

4. **विदेशी पूंजी :–** जिस देश में बैंक–दर बढ़ती हैं, उसमें विदेशों से ऊँचे ब्याज के कारण पूँजी आकर्षित होती हैं। इसलिए इसे विदेशी पूँजी आकर्षित करने के लिए भी उपयोग में लाया जा सकता हैं।

बैंक–दर को कम करने के आर्थिक प्रभाव :– बैंक–दर में कमी करने से साख का विस्तार होता हैं, क्योंकि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंकों से ज्यादा मात्रा में उधार लेते हैं और अपनी ब्याज की दरें कम करके वे व्यावसायियों व उद्यमियों को ज्यादा मात्रा में उधार देते हैं। इससे नया विनियोग बढ़ता हैं एवं उत्पादन व आय बढ़ते हैं।

बैंक–दर की सफलता की शर्ते :– बैंक–दर निम्न परिस्थितियों में ही सफल हो सकती हैं :–

1. देश में संगठित मुद्रा बाजार हो :– बैंक–दर की सफलता के लिए यह आवश्यक हैं कि देश में संगठित मुद्रा बाजार हो और अन्य ब्याज की दरें बैंक–दर के परिवर्तन से प्रभावित हो। यदि ऐसा नहीं होता तो बैंक–दर अपना प्रभाव नहीं दिखा पाती। उदाहरण के लिए भारत में विशाल असंगठित मुद्रा बाजार पाया जाता हैं, जिसमें महाजन व देशी बैंकर काफी मात्रा में मुद्रा का लेन देन करते हैं। लेकिन उनकी क्रियाएं बैंक–दर के परिवर्तनों से बहुत कम प्रभावित होती हैं। उनकी उधार देने की दरें इतनी ऊँची होती हैं कि बैंक–दर का मामूली सा परिवर्तन तो उन्हें छू भी नहीं पाता। इसलिए बैंक–दर का प्रभाव असंगठित मुद्रा–बाजार की दशाओं में काफी घट जाता हैं।

2. व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से पर्याप्त मात्रा में उधार लें :– बैंक–दर तभी प्रभावशाली होती हैं जबकि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से काफी मात्रा में कर्ज लेते हैं। यदि वे केन्द्रीय बैंक पर कर्ज के लिए निर्भर नहीं करते तो उस सीमा तक बैंक–दर का प्रभाव कम हो जाता हैं।

3. यदि विनियोग के अवसर कम होते हैं तो ब्याज दर कम हो जाने पर भी लोग ज्यादा मात्रा में उधार नहीं लेते :– आर्थिक मंदी के समय बैंक–दर के घटने मात्र से आर्थिक दशा में सुधार की आशा नहीं की जा सकती। व्यवहार में विनियोग के सुअवसरों का उत्पन्न होना बहुत आवश्यक होता हैं। विनियोगकर्ता को भावी लाभ की आशाएँ होनी चाहिए ताकि वे पूँजी लगाने के निर्णय ले सकें।

1.4.2 खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations) :–

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख–नियंत्रण का यह उपाय बहुत महत्वपूर्ण माना गया हैं। साख–नियंत्रण के परम्परागत उपायों में सदैव इसका महत्वपूर्ण स्थान रहा हैं। वैसे खुले बाजार की क्रियाएँ केन्द्रीय बैंक के द्वारा विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियों के क्रय–विक्रय के माध्यम से संचालित की जाती हैं – जैसे सरकारी प्रतिभूतियाँ, व्यावसायिक विनिमय बिल, विदेशी विनिमय, सोना तथा कम्पनी के शेयर लेकिन व्यवहार में सरकारी प्रतिभूतियों (ट्रेजरी बिलों सहित) के क्रय–विक्रय तक ही सीमित रहती हैं।

खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों की बिक्री का प्रभाव :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यदि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के नकद–रिर्जव कम करना चाहे तो वह खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचने लगता हैं। जो व्यक्ति या फर्म सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदते हैं वे अपने बैंक पर चैक काटकर केन्द्रीय बैंकों को देते हैं। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को भुगतान के लिए चैक पेश करता हैं। भुगतान का सुगम तरीका यह हैं कि केन्द्रीय बैंक के पास व्यापारिक बैंक की जमा राशि में कमी कर दी जाती हैं। इससे व्यापारिक बैंक का रिर्जव–कोष कम हो जाता हैं और यदि बैंक रिर्जव–अनुपात न्यूनतम वैधानिक सीमा से नीचे आ जाता हैं तो उसे अपने चालू विनियोगों में से कुछ विनियोगों को बेचकर अथवा पुराने कर्जे लौटाने पर नये कर्ज न देकर, रिर्जव–अनुपात को वैधानिक स्तर पर वापस लाना पड़ता हैं।

खुले बाजार की क्रियाओं की सीमाएँ :–

1. पूर्व वर्षों में खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग सीमित रूप में पाया गया हैं इस विधि में सरकारी प्रतिभूतियों की कीमतों के गिरने की सम्भावना होती हैं, जिससे सरकारी प्रतिभूति रखने वाले को आर्थिक हानि हो सकती हैं।

2. सरकारी प्रतिभूतियों की कीमतों के गिरने से सरकार की प्रतिष्ठा को हानि पहुँच सकती हैं, जिससे इसके उपयोग पर प्रतिकूल असर पड़ता हैं।

3. केवल खुले बाजार की क्रियाओं से सरकार नये विनियोगों को पर्याप्त मात्रा में प्रोत्साहन नहीं दे सकती। माल लीजिए, केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों से प्रतिभूतियाँ खरीद कर उनको मुद्रा देता हैं। लेकिन व्यापार–व्यवसाय मन्द होने के कारण व्यवसायी लोग बैंकों से उधार नहीं लेते, जिससे खुले बाजार की क्रियाएँ अपना प्रभाव नहीं दिखा पाती।

1.4.3 परिवर्तनशील नकद रिर्जव अनुपात (CRR) :–

केन्द्रीय बैंक के पास व्यापारिक बैंकों को अपनी शुद्ध मांग व अवधि–देनदारियों का एक निश्चित प्रतिशत नकद जमा के रूप में रखना पड़ता हैं, जो प्रचलित कानून के अनुसार इन देनदारियों के 3% से 15% के बीच में हो सकता हैं। इसे 'नकद रिर्जव अनुपात' कहते हैं। एक बैंक की शुद्ध माँग व अवधि–देनदारियाँ निकालने के लिए उसकी कुल माँग व अवधि देनदारियों में से अन्य बैंकों व वित्तीय संस्थाओं की उस बैंक के प्रति देनदारियों को घटा दिया जाता हैं। उदाहरण के लिए मान लिजिए एक व्यापारिक बैंक की कुल माँग व अवधि–देनदारियों की राशि (पाक्षिक आधार पर दैनिक औसत लेने पर) 10 लाख रूपये हैं तथा उस बैंक की अन्य बैंकों में जमाएँ 1 लाख रूपये हैं तथा अन्य बैंकों की उस बैंक में जमाएँ 2 लाख रूपये हैं तो उस बैंक की शुद्ध माँग व अवधि–देनदारियाँ या जमाएँ = 10 + 1 – 2 = 9 लाख रूपये आंकी जाएगी। नकद रिर्जव अनुपात केन्द्रीय बैंक के पास साख–नियंत्रण का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अस्त्र माना गया हैं। इस अनुपात को बढ़ाने से व्यापारिक बैंकों को रिर्जव बैंक के पास नकद–रिर्जव अधिक मात्रा में रखने पड़ते हैं, जिससे उनकी साख–सजृन करने की क्षमता कम हो जाती हैं। इसके विपरित नकद रिजर्व–अनुपात को घटाने से उनकी साख–सजृन करने की क्षमता बढ़ जाती हैं।

गुण :

1. इसका प्रभाव शीघ्र होता हैं।
2. यह विधि खुले बाजार की क्रियाओं से ज्यादा अच्छी मानी जाती हैं।

1.4.4 बैंकों के लिए वैधानिक तरलता–अनुपात (SLR) :–

व्यापारिक बैंक को वैधानिक दृष्टि से अपनी शुद्ध माँग व अवधि देनदारियों का एक निश्चित अनुपात अपने पास तरल परिसम्पतियों के रूप में रखना पड़ता हैं। यह वैधानिक तरलता–अनुपात (Statutory Liquidity Ratio) अथवा (SLR) कहलाता हैं। भारत में तरल परिसम्पत्तियों में नकद राशि, सोना या स्वीकृत प्रतिभूतियाँ शामिल की जाती हैं। नकद–राशि में बैंक के पास पड़ी नकद–राशि व भारतीय रिर्जव बैंक के पास पड़ी इसकी बकाया राशि में से उस बैंक की नकद–रिर्जव–अनुपात (CRR) वाली राशि घटाने के बाद बची शेष राशि को लेते हैं। साथ में इस बैंक की अन्य बैंकों के पास चालू खाते में पड़ी बकाया राशि भी शामिल की जाती हैं। इसके बाद सरकारी प्रतिभूतियों व सोने की मात्रा जोड़ी जाती हैं।

1.4.4 साख मोनीटरिंग–व्यवस्था (Credit Monitoring Arrangment) (CMA) :–

यह व्यवस्था 10 अक्टूबर, 1988 से लागू की गई हैं। इससे पूर्व नवम्बर 1965 से अक्टूबर 1988 तक साख–अधिकार–स्कीम (CAS) प्रचलन में थी, जिसके अन्तर्गत बैंकों में वैयक्तिक उधार लेने वालों द्वारा निर्गमित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साख की सीमाओं से अधिक राशि लेने पर भारतीय रिर्जव बैंक का सीधा नियंत्रण होता था। इनके लिए रिर्जव बैंक की स्वीकृति जरूरी होती हैं। लेकिन इसमें विलम्ब होने के कारण इसे पसंद नहीं किया गया। अब नई साख–मोनीटरिंग–व्यवस्था (CMA) के अन्तर्गत बैंकों को पूरी जाँच पड़ताल के बाद बड़े उधार लेने वालों को साख की स्वीकृति के अधिकार दे दिये गये हैं।

1.4.5 साख–नियंत्रण के गुणात्मक या विशिष्ट उपाय :–

साख नियंत्रण के गुणात्मक या विशिष्ट उपायो के अन्तर्गत विशेष उद्देश्यों के लिए साख का नियंत्रण किया जाता हैं। साख–नियंत्रण के सामान्य उपाय साख की लागत व साख की कुल मात्रा को प्रभावित करते हैं, जबकि विशिष्ट नियंत्रण के उपाय उपलब्ध साख की पूर्ति के वितरण को प्रभावित करते हैं। साख नियंत्रण के विशिष्ट उपायों का उद्देश्य ऐसी क्रियाओं को हतोत्साहित करना होता हैं जो अनावश्यक अथवा कम आवश्यक होती हैं। भारत में इन साधनों का उपयोग खाद्यान्न व आवश्यक कच्चे माल जैसी वस्तुओं में सट्टेबाजी व संग्रह आदि को रोकने के लिए किया गया हैं। इन्हें सामान्य साख नियंत्रणों के उपायों के साथ अपनाया जाता हैं।

1.4.7 अन्य उपाय :

(i) नैतिक दबाव (Moral Suasion) :–

साख नियंत्रण के मात्रात्मक उपायों के अलावा हमारे देश में केन्द्रीय बैंक के द्वारा अपने नैतिक दबाव या प्रभाव का भी उपयोग किया गया हैं। समय–समय पर व्यापारिक बैंकों को पत्र लिखकर उन पर जोर डाला जाता हैं ताकि वे साख को नियंत्रित करें एवं विशेष वस्तुओं पर उधार की राशि को कम करें। बैंकरों से इन उद्देश्यों के लिए विचार विमर्श भी किया जाता हैं। पिछले लगभग 45 वर्षों से रिर्जव बैंक व व्यापारिक बैंकों में ऐसे विचार–विमर्श कई बार हुए हैं। विभिन्न बड़ें अनुसूचित व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सार्वजनिक क्षेत्र में बैंकों की संख्या बढ़ी हैं, जिससे नैतिक दबाव, जैसे अस्त्र का महत्व और बढ़ गया हैं।

समय–समय पर रिर्जव बैंक के गर्वनरों ने व्यापारिक बैंकों को लिखे गये पत्रों में इस बात पर बल दिया हैं कि प्रत्येक बैंक के स्तर पर साख–नियोजन इस प्रकार का होना चाहिए कि साख का उपयोग राष्ट्रीय उद्देश्यों व प्राथमिकताओं के अनुरूप हो सके। मार्च 1995 के अन्त में प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों के लिए सार्वजनिक बैंकों की अग्रिम राशियों का अनुपात विशद्ध बैंक साख का 36.8% रहा, जबकि यह मार्च 1990 के अंत में यह 43.1% रहा था, जो 40% के लक्ष्य से अधिक था। इस प्रकार इस अनुपात में कमी आयी हैं।

(ii) प्रचार :–

केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को साख नियंत्रण की आवश्यकता पर जोर देने के लिए प्रचार की विधि भी अपना सकता हैं जिससे वे इसका महत्व समझने लग जाते है और आवश्यक कदम उठाने में केन्द्रीय बैंक को सहयोग देते हैं।

(iii) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct action) :–

असामान्य परिस्थितियों में साख नियंत्रण के लिए प्रत्यक्ष कार्यवाही की विधि भी अपनाई जा सकती हैं जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को कुछ कार्यों के लिए ऋण देने से रोक सकता हैं, अथवा अन्य कड़े प्रतिबन्ध लगा सकता हैं। लेकिन ऐसे कठोर कदमों को लागू करने में कई प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं, और लोकतंत्र में इसके अवसर बहुत कम आते हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न 1 : रिजर्व बैंक द्वारा अपनाई जाने वाली साख नियंत्रण नीतियों को मुख्यतः कितने भागों में बांटा गया हैं ? नाम बताइये।

.....

.....

.....

प्रश्न 2 : 'बैंक दर' से आपका क्या अभिप्राय हैं ? बैंक दर में परिवर्तन का व्यापारिक बैंकों की साख पर क्या प्रभाव पड़ता हैं ?

.....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

.....

.....

प्रश्न 3 : खुले बाजार की क्रियाएं साख नियन्त्रण में किस प्रकार सहायक होती हैं ?

.....

.....

.....

प्रश्न 4 : CRR तथा SLR का अर्थ बताइये।

.....

.....

.....

प्रश्न 5 : रिजर्व बैंक द्वारा गुणात्मक साख नियंत्रण किस प्रकार किया जाता हैं ?

.....

.....

.....

1.5 विकासशील देशों में मौद्रिक नीति की भूमिका :–

एक विकासशील अर्थव्यवस्था में मौद्रिक नीति साख की लागत तथा प्राप्यता को प्रभावित करके, स्फीति पर नियंत्रण करके तथा भुगतान शेष संतुलन को कायम रखकर आर्थिक वृद्धि की दर को बढ़ाने में महत्वपूर्ण काम करती हैं। अतः ऐसे देश में मौद्रिक नीति के मुख्य उद्देश्य स्फीति को नियंत्रित करने तथा कीमतों को स्थिर करने के लिए साख नियंत्रण करना, विनिमय दर को स्थिर करना, भुगतान शेष में संतुलन प्राप्त करना तथा आर्थिक विकास बढ़ाना हैं।

1.5.1 स्फीति दबावों को नियंत्रित करना :–

विकास की प्रक्रिया में उत्पन्न होने वाले स्फीतिकारी दबावों पर काबू पाने के लिए मौद्रिक नीति को साख नियंत्रण के मात्रात्मक तथा गुणात्मक दोनों प्रकार के उपायों की आवश्यकता होती हैं।

5.2. कीमत स्थिरता प्राप्त करना :–

कीमत स्थिरता प्राप्त करने के लिए मौद्रिक नीति एक महत्वपूर्ण औजार हैं। यह मुद्रा मांग तथा पूर्ति में समुचित समायोजन (adjustment) लाती हैं। इन दोनों में असंतुलन, कीमत स्तर में प्रतिबिम्बित हो जाएगा। मुद्रा पूर्ति में कमी कीमतों में वृद्धि को रोक देगी, जबकि इसकी अधिकता स्फीति जाएगी।

1.5.2 भुगतान–शेष घाटा कम करना :–

ब्याज दर नीति के रूप में मौद्रिक नीति भुगतान शेष के घाटे को पूरा करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। विकास के नियोजित लक्ष्यों को पूरा करने के लिए विकासशील अर्थव्यवस्थाओं को गंभीर भुगतान शेष की कठिनाईयों को सामना करना पड़ता हैं। विद्युत, सिंचाई, परिवहन आदि जैसे बुनियादी ढांचा स्थापित करने, तथा लोहा और इस्पात, उर्वरक, रसायन, आदि उत्पादकीय क्रियाओं के लिए ऐसे देशों को पूंजी उपकरण, मशीनरी कच्चा माल, पूर्जे और उपस्कर आयात करने पड़ते हैं जिससे उनके निर्यात में वृद्धि होती हैं। परन्तु उनके निर्यात गतिहीन होते हैं और स्फीति के कारण निर्यात की कीमतों भी ऊंची होती हैं। परिणामस्वरूप आयात और निर्यात में अन्तर उत्पन्न हो जाता हैं, जिससे भुगतान शेष असंतुलित हो जाता हैं। मौद्रिक नीति ऊंची ब्याज दर द्वारा भुगतान शेष के घाटे को कम करने में सहायक हो सकती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.5.3. **ब्याज दर नीति** :–

एक विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए ऊंची ब्याज दर नीति अधिक बचत को प्रोत्साहित करती हैं, बैंकिग आदतें विकसित करती हैं तथा अर्थव्यवस्था के मुद्रीकरण को तीव्रता प्रदान करती हैं, जो पूंजी निर्माण और आर्थिक वृद्धि के लिए आवश्यक हैं। ऊंची ब्याज दर नीति स्फीति को दूर करने वाली भी हैं क्योंकि यह सट्टे तथा करेन्सियों के लिए उधार लेने और निवेश करने को हतोत्साहित करती हैं। फिर, वह नीति दुर्लभ पूंजी संसाधनों के आवंटन को अधिक उत्पादकीय स्त्रोंतों को बढ़ावा देती हैं।

1.5.4. **ऋण प्रबन्धन** :–

एक विकासशील देश में सार्वजनिक ऋण का प्रबन्धन करना मौद्रिक नीति के महत्वपूर्ण कार्यों में से एक हैं। इसका लक्ष्य हैं सरकारी बांडो का उचित समय पर जारी करना, उनकी कीमतों को स्थिर करना और सार्वजनिक ऋण की सेवा लागत को न्यूनतम बनाना। ऋण–प्रबन्धन का प्रधान लक्ष्य ऐसी स्थितियों को उत्पन्न करना हैं जिनमें सार्वजनिक ऋण वर्ष–प्रतिवर्ष बढ़ता जाए।

1.5.5. **बैंकिंग और वित्तीय संस्थाएं स्थापित करना :–**

LDCs में मौद्रिक नीति का एक उद्देश्य पूंजी निर्माण के लिए बचतों को जुटाने, प्रवाहित करने और प्रोत्साहित करने के लिए बैंकिंग और वित्तीय संस्थाओं की स्थापना तथा विकास करना होता हैं। मौद्रिक अधिकारी को ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में शाखा बैंकिंग की स्थापना को प्रोत्साहन देना चाहिए।

1.6 **मौद्रिक नीति की सीमाएं** :–

विकासशील देशों का अनुभव यह बतलाता हैं कि मौद्रिक नीति की ऐसे देशों में सीमित भूमिका होती हैं। इसके निम्नलिखित कारण हैं :–

1. **विशाल गैर–मुद्रीकृत क्षेत्र :–** ऐसे देशों में एक विशाल गैर–मुद्रीकृत क्षेत्र होता हैं जो मौद्रिक नीति की सफलता में बाधक होता हैं। अधिकतर लोग ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं जहां वस्तु–विनिमय प्रणाली का प्रचलन होता हैं। परिणामस्वरूप, मौद्रिक नीति अर्थव्यवस्था के विस्तृत भाग को प्रभावित करने में असफल होती हैं।

2. **अविकसित मुद्रा और पूंजी बाजार** :–मुद्रा और पूंजी बाजार अविकसित होते हैं। इन बाजारों में बिलों, स्टॉकों एवं शेयरों का अभाव होता हैं जो मौद्रिक नीति की सफलता को सीमित करते हैं।

3. **बहुसंख्यक NBFIs** :– ऐसे देशों में देशीय बैंकरों जैसे गैर–बैंक वित्तीय मध्यस्थ बड़े पैमाने पर कार्य करते हैं, परन्तु मौद्रिक अधिकारी के नियंत्रण के अन्तर्गत नहीं आते हैं। इस कारण भी ऐसे देशों में मौद्रिक नीति की प्रभाविता सीमित हो जाती हैं।

4. **अधिक तरलता** :– कमर्शियल बैंकों के पास अधिक तरलता पाई जाती हैं जिससे वे केन्द्रीय बैंक की साख नीति द्वारा प्रभावित नहीं होते। यह भी मौद्रिक नीति को कम प्रभावशील बनाता हैं।

5. **विदेषी बैंक** :–लगभग सभी विकासशील देशों में विदेशी कमर्शियल बैंक विद्यमान होते हैं। वे भी विदेशी परिसम्पत्तियां बेचकर तथा अपने मुख्य कार्यालयों से मुद्रा निकालकर मौद्रिक नीति को कम प्रभावशील बना देते हैं, जबकि देश का केन्द्रीय बैंक महंगी मुद्रा नीति का अनुसरण कर रहा होता हैं।

6. **कम बैंक मुद्रा (Less Bank Money)** :– ऐसे देशों में मौद्रिक नीति इसलिए भी सफल नहीं होती क्योंकि बैंक–मुद्रा देश में कुल मुद्रा पूर्ति का एक छोटा सा अनुपात होती हैं। जिसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय बैंक प्रभावशाली रूप से साख नियंत्रण करने में असमर्थ होता हैं।

7. **बैंकों में मुद्रा जमा नहीं** :– समृद्ध लोग बैंकों में मुद्रा जमा नहीं करवाते परन्तु उसे आभूषण, स्वर्ण, वास्तविक सम्पदा, सट्टे, प्रदर्शनकारी उपभोग आदि पर प्रयोग करते हैं। ऐसी क्रियाएं स्फीतिकारी दबावों को प्रोत्साहित करती हैं, क्योंकि वे मौद्रिक अधिकारी के नियंत्रण में नहीं आती हैं।

एक विकासशील देश में मौद्रिक नीति की इन सीमाओं के कारण, अर्थशास्त्री इसके साथ–साथ राजकोषीय नीति के प्रयोग का भी समर्थन करते हैं।

बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 : विकासशील देशों में मौद्रिक नीति की भूमिका बताइये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

.....

.....

.....

प्रश्न 2 : मौद्रिक नीति की सीमाएं बताइये।

.....

.....

.....

1.7 सारांशः–

मौद्रिक नीति के मुख्य उद्देश्य पूर्ण रोजगार, कीमत स्थिरता एवं भुगतान शेष संतुलन स्थापित करना हैं, इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों के साख नियन्त्रण हेतु विभिन्न विधियां काम में ली जाती हैं, जैसे– बैंक दर नीति, खुले बाजार की क्रियाएं, नकद कोषानुपात परिवर्तन, तरल कोषानुपात परिवर्तन तथा गुणात्मक विधियां आदि। विकासशील देशों में मौद्रिक नीति की भूमिका विकसित देशों की तुलना में भिन्न होती हैं। मौद्रिक नीति की क्रियाशीलता की कुछ सीमाएं भी हैं, जैसे – अविकसित मुद्रा एवं पूंजी बाजार, बहुसंख्यक गैर बैंकिंग वित्तीय संस्थाएं आदि, इसलिए अर्थशास्त्री मौद्रिक नीति के साथ–साथ राजकोषीय नीति के प्रयोग की भी सलाह देते हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न :

निम्न प्रश्नों के उत्तर 500 शब्दों में दीजिए।

1. मौद्रिक नीति का अर्थ एवं उद्देश्य बताइये तथा विकासशील देशों में मौद्रिक नीति की भूमिका बताइये।
2. व्यापारिक बैंकों द्वारा साख नियन्त्रण के लिये केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनाये जाने वाले उपायों की विस्तार से विवेचना कीजिये।

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर :

13.

उत्तर 1. मौद्रिक नीति का अर्थ एक देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनाए गए साख नियंत्रण उपायों से हैं।

उत्तर 2. पूर्ण रोजगार तथा आर्थिक वृद्धि।

1.4

उत्तर 1. दो भागों में (1) गुणात्मक साख नियन्त्रण (2) परिमाणात्मक साख नियन्त्रण

उत्तर 2. "बैंक–दर वह स्टैण्डर्ड दर मानी गई हैं जिस पर बैंक उन विनिमय बिलों या अन्य व्यापारिक प्रपत्रों को खरीदन व उनकी पुनर्कटारैती के लिए तैयार रहता हैं जिन्हें वह इस अधिनियम के अन्तर्गत खरीद सकता हैं। बैंक दर में वृद्धि से बाजार ब्याज दर में वृद्धि हो जाती हैं जिससे साख की मात्रा में कमी हो जाती हैं।

उत्तर 3. देखिए 1.4.2

उत्तर 4. नकद कोषानुपात तथा वैधानिक तरल कोषानुपात

उत्तर 5. नैतिक दबाव, प्रचार, प्रत्यक्ष कार्यवाही

1.5

उत्तर 1. देखिये 1.5

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्तर 2. देखिये 1.6

1.9 शब्दावली :

कीमत स्थिरीकरण	पूर्ण रोजगार
आर्थिक वृद्धि	विनिमय स्थिरीकरण
परिमाणात्मक विधियां	चयनात्मक
बैंक दर नीति	खुले बाजार की क्रियाएं
नकद कोषानुपात	वैधानिक तरलता अनुपात
साख की राशनिंग	नैतिक दबाव
प्रचार	प्रत्यक्ष कार्यवाही

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ :

एच.एल. आहूजा, समष्टि अर्थशास्त्र
एम.एल. सेठ, समष्टि अर्थशास्त्र
बी.एल. ओझा, समष्टि अर्थशास्त्र
लक्ष्मीनारायण नाथूराम का, समष्टि अर्थशास्त्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई 2

राजकोषीय नीति (Fiscal Policy)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 राजकोषीय नीति का अर्थ

2.3 राजकोषीय नीति के उद्देश्य

2.3.1 विकासशील देशों में राजकोषीय नीति के उद्देश्य

2.4 राजकोषीय नीति के औजार

2.5 विभिन्न परिस्थितियों में राजकोषीय नीति

2.5.1 मन्दी काल में राजकोषीय नीति

2.5.2 मुद्रा स्फीति काल में राजकोषीय नीति

2.6 राजकोषीय तथा मौद्रिक नीतियों में संबंध

2.7 राजकोषीय नीति की सीमाएं

2.8 सारांश

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.0 उद्देश्य :– प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप जान पायेंगें कि –

(i) राजकोषीय नीति का क्या अर्थ हैं ?

(ii) राजकोषीय नीति के क्या–क्या उद्देश्य हैं?

(iii) राजकोषीय नीति के औजार कौन से हैं?

(iv) विकासशील देशों में राजकोषीय नीति की भूमिका क्या हैं?

2.1 प्रस्तावना :–

राजकोषीय नीति का अभिप्राय सरकार की उन क्रियाओं से संबंधित होता हैं जो सार्वजनिक व्यय तथा आय अथवा कराधान आदि से संबंधित होती हैं, इसका मूलभूत उद्देश्य स्थिरता के साथ आर्थिक विकास होता हैं। प्रस्तुत अध्याय में राजकोषीय नीति का अर्थ, राजकोषीय नीति के उद्देश्य तथा उपकरण आदि की विवेचना की गई हैं, इसके अतिरिक्त विभिन्न आर्थिक परिस्थितियों, जैसे – मन्दी काल अथवा तेजी की स्थिति में राजकोषीय नीति की कार्यप्रणाली का विस्तृत विवेचन किया गया हैं। अन्त में राजकोषीय नीति की समस्याओं का विवेचन किया गया हैं।

2.2 राजकोषीय नीति का अर्थ :

राजकोषीय नीति से अभिप्राय स्थिरीकरण या वृद्धि के लिए सरकार द्वारा कराधान और सार्वजनिक व्यय का प्रयोग हैं। राजकोषीय नीति में हम सरकार के उन कार्यों का उल्लेख करते हैं जो सरकार की प्राप्तियों तथा व्ययों को प्रभावित करते हैं जिन्हें हम सामान्य रूप से सरकार की शुद्ध प्राप्तियां, उसके आधिक्य अथवा घाटे द्वारा मापित मान लेते हैं। निजी उपभोग तथा निवेश में अवांछनीय परिवर्तनों को सरकार सार्वजनिक व्ययों तथा करों के प्रति चक्रीय परिवर्तनों द्वारा संतुलित कर सकती हैं। आर्थर स्मिथीज के अनुसार ''यह ऐसी नीति हैं जिसके अन्तर्गत सरकार अपने व्यय तथा राजस्व कार्यक्रमों को राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार पर अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने और अनअपेक्षित प्रभाव रोकने के लिए प्रयोग करती हैं।'' यद्यपि राजकोषीय नीति का अन्तिम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लक्ष्य अर्थव्यवस्था का दीर्घकालीन स्थिरीकरण हैं, फिर भी यह लक्ष्य केवल अल्पकालीन आर्थिक उतार चढ़ावों को संभालने से ही पूरा हो सकता हैं।

2.3 **राजकोषीय नीति के उद्देश्य** :– राजकोषीय नीति के उद्देश्य किसी देश की आर्थिक परिस्थितियों के स्वरूप पर निर्भर करते हैं। इसके मुख्य उद्देश्य आर्थिक स्थिरता तथा आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों की सफलता में सहायक होने से सम्बन्धित हैं। राजकोषीय नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :–

1. पूर्ण रोजगार प्राप्त और कायम करना।
2. कीमत स्तर को स्थिर करना।
3. अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर को संस्थिर करना।
4. भुगतान शेष में संतुलन कायम करना।
5. अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास को बढ़ाना।

2.3.1 विकासशील देशों में राजकोषीय नीति के उद्देश्य :–

विकासशील देशों की समस्याएं भिन्न प्रकार की होती हैं। विकासशील अर्थव्यवस्था आर्थिक वृद्धि (economic growth) प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं और आर्थिक वृद्धि तभी प्राप्त होती हैं जब कीमतों में बहुत अधिक उतार चढ़ाव न हो। आर्थिक विकास की योजनाओं में राजकोषीय नीति को एक ऐसे साधन के रूप में स्वीकार किया जाता हैं जिससे आर्थिक विकास के क्रम में सहायता मिल सकती हैं तथा कीमतो को भी स्थिर रखा जा सकता हैं।

इस प्रकार एक विकासशील देश में राजकोषीय नीति का कार्य 'क्षतिपूरक क्रिया' से अधिक होता हैं। एक और तो सार्वजनिक ऋण तथा हीनार्थ प्रबन्धन की नीतियों का प्रयोग करके आर्थिक विकास के लिए वित्तीय साधन जुटाना होता हैं और दूसरी और ऐसे उपाय अपनाने होते हैं कि उपभोग के लिए बढ़ती हुई मांग को नियंत्रित किया जा सके ताकि बचतो में वृद्धि हो और पूंजी निर्माण प्रोत्साहित हो सकें। राजकोषीय नीति के प्रयोग के द्वारा ही विनियोगों को उचित दिशा प्रदान की जाती हैं। धन और आय के वितरण में असमानताएं कम करने के लिए भी राजकोषीय नीति का प्रयोग किया जाता हैं। संक्षेप में विकासशील देशों में राजकोषीय नीति का प्रयोग निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता हैं :–

1. आर्थिक विकास के लिए आवश्यक वित्तीय साधन जुटाना
2. आन्तरिक तथा विदेशी प्रभाव से कीमतों में होने वाले परिवर्तनों को नियंत्रित करना और क्रय शक्ति के प्रभाव को नियंत्रित करना
3. उपभोग को नियंत्रित करना, जिसमें आर्थिक साधन उपभोग से हटाकर विनियोग में लगाये जा सकें।
4. बचत तथा विनियोग में वृद्धि के उपाय करना।
5. आर्थिक साधनों को जनता से लेकर सरकार को हस्तान्तरित करना जिससे सार्वजनिक विनियोग प्रोत्साहित हो।
6. विनियोग के ढ़ाँचे को समुचित रूप में बदलना, तथा
7. आर्थिक विषमताओं अथवा असमानताओं को कम करना ।

स्पष्ट हैं कि विकासशील देश में राजकोषीय नीति के उद्देश्य आर्थिक विकास तथा आर्थिक स्थिरता दोनों से सम्बन्धित हैं। विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों में राजकोषीय नीति के लिए अधिक जटिल समस्याएं हैं और उनको हल करने के लिए अधिक कुशलता की भी आवश्यकता हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न 1 : राजकोषीय नीति का अर्थ बताइये।

.....

.....

.....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रश्न 2 : राजकोषीय नीति के मुख्य उद्देश्य बताइये।

.....

.....

.....

प्रश्न 3 : विकासशील देशों में राजकोषीय नीति के मुख्य उद्देश्य क्या हैं ?

.....

.....

.....

2.4 राजकोषीय नीति के औजार :–

सरकारी व्यय तथा कराधान में परिवर्तन के माध्यम से राजकोषीय नीति प्रबलरूप से राष्ट्रीय आय, रोजगार, उत्पादन तथा कीमतों को प्रभावित करती हैं। मंदी के दौरान सार्वजनिक व्यय में वृद्धि वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए कुल मांग को बढ़ाती हैं और गुणक प्रक्रिया के मार्ग से आय में बड़ी वृद्धि करती हैं, जबकि करों में कमी का प्रभाव यह होता हैं कि प्रयोज्य आय बढ़ती हैं जिसके परिणामस्वरूप लोगों के उपभोग तथा निवेश बढ़ जाते हैं। दूसरी ओर स्फीति के दौरान सार्वजनिक व्यय में होने वाली कमी कुल मांग, राष्ट्रीय आय, रोजगार, उत्पादन तथा कीमतों को घटा देती हैं, जबकि करों में वृद्धि प्रयोज्य आय को घटाती हैं और परिणामस्वरूप उपभोग तथा निवेश व्ययों को कम कर देती हैं। इस प्रकार व्यय तथा कराधान कार्यक्रमों के युक्तियुक्त संयोग द्वारा सरकार अर्थव्यवस्था में अवस्फीतिकारी तथा स्फीतिकारी दबावों को नियंत्रित कर सकती हैं।

राजकोषीय नीति के मुख्य औजार निम्न प्रकार हैं : –

1. सार्वजनिक आय/कराधान
2. सार्वजनिक व्यय
3. सार्वजनिक ऋण
4. हीनार्थ प्रबंधन

बोध प्रश्न

प्रश्न 1 : राजकोषीय नीति के मुख्य दो औजार बताइये।

.....

.....

.....

2.5 विभिन्न परिस्थितियों में राजकोषीय नीति :

मौद्रिक नीति की भांति राजकोषीय नीति का स्वरूप भिन्न–भिन्न परिस्थितियों के लिए एक सा होता हैं। मन्दी तथा मुद्रा–स्फीति की परिस्थितियों में राजकोषीय नीति का प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से किया जाता हैं।

2.5.1 मन्दी काल में राजकोषीय नीति :–

मन्दी का अर्थ होता हैं निश्चेष्टता अथवा गतिशीलता और निश्चेष्टता का प्रभाव होता हैं भारी बेरोजगारी। यह बेरोजगारी इसलिए होती हैं कि प्रभावपूर्ण मांग कम होती हैं। कुल उत्पादन क्षमता के अनुपात में उपभोग की मांग कम होती हैं और नीति विनियोगों की मात्रा भी बहुत कम होती हैं। ऐसी स्थिति में बेरोजगारी को बढ़ने से तभी रोका जा सकता हैं जब उपभोग प्रवृत्ति बढ़ायी जाये अथवा विनियोग की मात्रा में वृद्धि हो। अतः मन्दीकाल में राजकोषीय नीति का उद्देश्य उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि करने के उपाय करना तथ सार्वजनिक व्यय अथवा विनियोग में वृद्धि करना होगा। यदि सरकार द्वारा व्यय बढ़ा दिया जाय तो निजी उद्योगों तथा काम काज में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

फिर से स्फूर्ति आ जायेगी। निजी विनियोगों का जब विस्तार होने लगे तो सरकार द्वारा अपने व्यय में फिर से कमी की जा सकती हैं और ऐसा करने से आर्थिक क्रियाओं में कोई शिथिलता नहीं आयेगी। सरकार द्वारा व्यय अथवा विनियोग बढ़ाने से जब रोजगार में वृद्धि होगी तथा आय बढ़ेगी तो उपभोग व्यय अपने आप बढ़ जायेगा।

2.5.2 मुद्रा स्फीति काल में राजकोषीय नीति :–

मुद्रा स्फीति की स्थिति इसलिए उत्पन्न होती हैं कि मुद्रा अत्याधिक मात्रा में व्यक्तियों, व्यवसायों तथा सरकारों द्वारा खर्च की जाती हैं। इसको नियंत्रित करने के लिए व्यय की कुल मात्रा को कम करना आवश्यक होता हैं। इस उद्देश्य से सरकारी व्यय में यथासंभव कमी करना अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता स्थापित करने में सहायक होगा। परन्तु सरकारी व्यय में केवल एक निश्चित सीमा तक ही कमी की जा सकती हैं। यदि मुद्रा स्फीति की स्थिति युद्ध की तैयारी के कारण अथवा अधिक विकास के क्रम में तेजी लाने के कारण उत्पन्न हुई हैं तो इन सभी अवस्थाओं में सरकारी व्यय में कमी करना कठिन हो जाता हैं।

जब सरकारी व्यय में अधिक कटौती कर पाना सम्भव नहीं हो पाता हैं तो करों में वृद्धि करके मुद्रा स्फीति की रोकथाम की जा सकती हैं। मुद्रा स्फीति काल में राजकोषीय नीति के अन्तर्गत करजाल की गहराई तथा आकार में वृद्धि होनी चाहिऐ ,कर इस प्रकार के होने चाहिए कि इनके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में कुल उपभोग व्यय में कमी की जा सकें। इसके साथ–साथ बचत में वृद्धि होनी चाहिए तथा विनियोग की मात्रा नहीं बढ़नी चाहिए। करों को बढ़ाकर तथा नये कर लगाकर जो मुद्रा आय प्रवाह में से निकाल या खींच ली गई हैं उसे सरकारी व्यय के रूप में फिर से आय प्रवाह में लौटकर नहीं जाने देना चाहिए। इस प्रकार करों से आय बढ़ने पर सरकारी व्यय में वृद्धि नहीं होनी चाहिए। यह भी उचित होगा कि करों में बढ़ी हुई आय का उपयोग पिछले सरकारी ऋणों का भुगतान करने के लिए न किया जाए, ताकि मुद्रा फिर चलन में वापस न आ जाए। मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के लिए करारोपण का उपाय तभी सम्भव हो पाता हैं जब अधिक करों के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में व्यक्तियों तथा व्यवसायों की व्यय योग्य आय इतनी कम हो जाय कि कुल उपभोग पर केवल इतना व्यय किया जा सके जिससे कुल मांग व पूर्ति के बीच सन्तुलन स्थपित हो जाय।

बोध प्रश्न

प्रश्न 1 : राजकोषीय नीति मन्दीकाल में किस प्रकार कार्य करती हैं ?

.....

.....

.....

प्रश्न 2 : मुद्रा स्फीति दशाओं में राजकोषीय नीति की भूमिका बताइये।

.....

.....

.....

2.6 राजकोषीय तथा मौद्रिक नीतियों में सम्बन्ध :–

हम देख चुके हैं कि तेजी से मन्दी के पश्चात राजकोषीय नीति को आर्थिक स्थिरता के एक साधन के रूप में इतना महत्व दिया गया कि मौद्रिक नीति का प्रभाव लगभग समाप्त सा ही हो गया। गत पच्चीस वर्षों में मौद्रिक नीति को भी महत्व दिया जाने लगा हैं, परन्तु जैसा कि प्रो. गालब्रेथ (Galbraith) ने कहा हैं ''आधुनिक आर्थिक नीति के राजनीतिक रूप के अन्तर्गत मौद्रिक उपाय रूढ़िवादियों के यंत्र हैं। उदारवादियों का अस्त्र राजकोषीय नीति हैं और अर्थशास्त्री प्रायः राजकोषीय नीति को अन्तिम आर्थिक अस्त्र मानते हैं।

राजकोषीय नीति जनता के हाथों में क्रय शक्ति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। अलग–अलग करों के द्वारा सभी वर्गों को प्रभावित किया जा सकता हैं। राजकोषीय नीति मांग पक्ष को प्रभावित करती हैं। इसके विपरित मौद्रिक नीति का प्रभाव लागत पर पड़ता हैं क्योंकि ऋणों की लागत उत्पादन लागत का अंश होती हैं। बढ़ी हुई लागत को बढ़ी हुई कीमतों के रूप में उपभोक्ता पर धकेला जा सकता हैं। यदि बैंक साख की मात्रा को नियंत्रित किया जाय तो मुद्रा बाजार के अन्य अंगों से ऋण प्राप्त किये जा सकते हैं। राजकोषीय नीति के प्रभावों से कोई भी उत्पादक नहीं बच पाता हैं और अलग–अलग क्षेत्रों तथा वस्तुओं को प्रभावित किया जा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सकता हैं। मौद्रिक नीति के द्वारा अर्थव्यवस्था का केवल संगठित क्षेत्र प्रभावित होता हैं जबकि राजकोषीय नीति असंगठित क्षेत्र को भी समान रूप से प्रभावित करती हैं। मन्दी की स्थिति का उपचार करने में मौद्रिक नीति विफल रहती हैं, जबकि राजकोषीय नीति को पर्याप्त सफलता मिलती हैं। स्पष्ट हैं कि मौद्रिक नीति की तुलना में राजकोषीय नीति अधिक महत्वपूण होती हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न 1 : मौद्रिक नीति तथा राजकोषीय नीति में संबंध बताइये।

.....

.....

.....

2.7 राजकोषीय नीति की सीमाएं :–

राजकोषीय नीति प्रभावपूर्ण होते हुए भी त्रुटीहीन नहीं हैं। इसकी मुख्य परिसीमाएं ये हैं :–

1. कर प्रणाली में आये दिन और सहसा परिवर्तन करना सरल नहीं होता हैं, करों में वृद्धि का विरोध किया जाता हैं और कमी सरकार नहीं कर पाती हैं।
2. सरकारी व्यय में भी परिवर्तन करना कठिन होता हैं क्योंकि सरकारी योजनाएं जल्दी नहीं बदली जा सकती हैं।
3. सरकारी व्यय प्रायः निजी व्यय का ही स्थान ले पाता हैं इसके अतिरिक्त नहीं होता, क्योंकि सरकार व्यवसाय में जितना आगे बढ़ती हैं, निजी विनियोजक उतना ही पीछे हट जाते हैं।
4. राजकोषीय नीति स्फीति की स्थिति को नियंत्रित करने में सफल नहीं हो पाती हैं।
5. मन्दीकाल में भी राजकोषीय नीति के द्वारा रोजगार बढ़ाने में अनेक व्यावसायिक कठिनाइयाँ सामने आती हैं तथा
6. राजकोषीय नीति पर राजनीतिक प्रभाव होता हैं क्योंकि राजस्व तथा व्यय से संबंधित सभी परिवर्तनों के लिए संसद की स्वीकृति लेनी पड़ती हैं

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राजकोषीय नीति तथा मौद्रिक नीति का सम्मिलित रूप से प्रयोग ही आर्थिक स्थिरता लाने में प्रभावपूर्ण ढ़ंग से कार्य कर सकता हैं। दोनों ही नीतियों को एक दूसरे के सहयोग की आवश्यकता होती हैं। यदि सरकार हीनार्थ प्रबन्धन की नीति के अन्तर्गत मुद्रा का विस्तार करती जाए तो आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनाये गये मौद्रिक उपाय सफल नहीं हो पायेंगे। इसी प्रकार राजकोषीय उपायों की सफलता भी इसी बात पर निर्भर करती हैं कि मौद्रिक नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति में कहाँ तक सफलता मिल रही हैं। दोनों नीतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं, इसलिए अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता को प्राप्त करने के लिए इन दोनों स्थिरीकरण–यंन्त्रों के बीच समन्वय स्थापित करना आवश्यक हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न

विभिन्न प्रश्नों के उत्तर 500 शब्दों में दीजिए।

प्रश्न 1 : राजकोषीय नीति का अर्थ, उद्देश्य तथा सीमाएं बताइये।

प्रश्न 2 : विभिन्न आर्थिक परिस्थितियों में राजकोषीय नीति की भूमिका बताइये।

प्रश्न 3 : स्पष्ट कीजिए – ''मौद्रिक नीति तथा राजकोषीय नीति एक दूसरे की पूरक हैं।''

2.7 सारांश :–

अर्थव्यवस्था में स्थिरता के साथ विकास के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सरकार द्वारा अपनाई गई राजकोषीय नीति की महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं। विभिन्न आर्थिक परिस्थितियों का सामना करने हेतु सरकार द्वारा कराधान तथा सार्वजनिक आय, व्यय तथा ऋण संबंधी विभिन्न नीतियां निर्धारित करनी होती हैं। जब सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक आय की तुलना में बहुत अधिक हो जाते हैं तब सरकार द्वारा हीनार्थ प्रबंधन (नये नोट छापकर) की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नीति भी अपनाई जाती हैं। संक्षेप में राजकोषीय नीति के विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विभिन्न नीतियों का विवेकपूर्ण निर्धारण ही अर्थव्यवस्था को विकास के मार्ग पर प्रशस्त कर सकता हैं।

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.3

उत्तर 1. राजकोषीय नीति से अभिप्राय स्थिरीकरण या वृद्धि के लिए सरकार द्वारा कराधान और सार्वजनिक व्यय का प्रयोग हैं।

उत्तर 2. पूर्ण रोजगार प्राप्त और कायम करना। कीमत स्तर को स्थिर करना।

उत्तर 3. आर्थिक विकास के लिए आवश्यक वित्तीय साधन जुटाना

आन्तरिक तथा विदेशी प्रभाव से कीमतों में होने वाले परिवर्तनों को नियंत्रित करना और क्रय शक्ति के प्रभाव को नियंत्रित करना

2.4

उत्तर 1. सार्वजनिक आय/कराधान, सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण, हीनार्थ प्रबंधन

2.5

उत्तर 1. देखिये 2.5.1

उत्तर 2. देखिये 2.5.2

2.6

उत्तर 1. देखिये 2.6

2.10 शब्दावली :

हीनार्थ प्रबंधन	राजकोषीय नीति
संगठित क्षेत्र	असंगठित क्षेत्र
बैंक साख	उदारवादियों
व्यय योग्य आय	सरकारी व्यय
मन्दीकाल	प्रभावपूर्ण मांग
निश्चेष्टता	गतिशीलता
सार्वजनिक ऋण	सार्वजनिक व्यय
सार्वजनिक आय	कराधान
वित्तीय साधन	क्षतिपूरक क्रिया
भुगतान शेष	कीमत स्तर
अपेक्षित प्रभाव	अवांछनीय

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ :

एच.एल. आहूजा, समष्टि अर्थशास्त्र

एम.एल. सेठ, समष्टि अर्थशास्त्र

बी.एल. ओझा, समष्टि अर्थशास्त्र

लक्ष्मीनारायण नाथूराम का, समष्टि अर्थशास्त्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई 3

औद्यौगिक नीति एवं औद्यौगिक लाइसेन्स नीति

(Industrial Policy and Industrial Licensing Policy)

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 औद्योगिक नीति का अर्थ

3.3 भारत की औद्योगिक नीति

3.3.1. औद्योगिक नीति, 1948

3.3.2 औद्योगिक नीति, 1956

3.3.3 जनता सरकार की औद्योगिक नीति, 1977

3.3.4 1980 की औद्योगिक नीति

3.3.5 नई औद्योगिक एवं लाइसेन्स नीति – 1991

3.3.6 औद्योगिक नीति में वर्तमान परिवर्तन

3.4 नई औद्योगिक नीति की मुख्य विशेषताएं

3.5 भारत में औद्योगिक लाइसेन्स नीति

3.5.1 1988 में औद्योगिक लाइसेन्स नीति में पुनः संशोधन

3.5.2 औद्योगिक लाइसेन्स नीति की सफलता का मूल्यांकन

3.6 आलोचना

3.7 नई औद्योगिक नीति का मूल्यांकन

3.8 सारांश

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.10 शब्दावली

3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य :–

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप जान पायेंगें कि –

(i) स्वतंत्रता के पश्चात् 1948 की औद्योगिक नीति की मुख्य विशेषताएं क्या थी ?

(ii) 1956 की औद्योगिक नीति का मुख्य आधार क्या था ?

(iii) औद्योगिक उदारीकरण देश में कब से प्रारम्भ हुआ ?

(iv) 1991 से अब तक की औद्योगिक नीतियों में उदारीकरण के क्या कदम उठाए गए ?

3.1 प्रस्तावना :–

किसी भी देश के औद्योगिक विकास के लिए एक प्रगतिशील तथा सुनिश्चित औद्योगिक नीति की आवश्यकता होती हैं। इसके अन्तर्गत सार्वजनिक व निजी क्षेत्र का दायरा व सरकार की औद्योगिक प्राथमिकताएँ स्पष्ट की जाती हैं, जिससे औद्योगिक विकास की गति को बढ़ा कर औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार सृजन किया जा सकें। औद्योगिक नीति औद्योगिक विकास में क्षेत्रीय असंतुलनों को कम करने, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की देश में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भूमिका तय करने, लघु तथा कुटीर उद्योगों की समस्याओं का समाधान करने तथा औद्योगिक रूग्णता को दूर करने के लिए निर्देश प्राप्त कराती हैं। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर अब तक अनेक औद्योगिक नीतियाँ बनाई गई हैं। वैसे देश का औद्योगिक विकास मुख्यतः 1956 की औद्योगिक नीति के अन्तर्गत किया गया। प्रस्तुत अध्याय में 1991 से पूर्व की नीतियों की संक्षिप्त विवेचना व 24 जुलाई 1991 की नई औद्योगिक नीति की विस्तृत व्याख्या की गई हैं

3.2 औद्योगिक नीति का अर्थ :–

औद्योगिक नीति तात्पर्य सरकार की उन नीतियों एवं प्रावधानों से होता हैं जो सरकार देश के औद्योगिक विकास हेतु निर्धारित करती हैं। इसके तहत् लघु एवं कुटीर उद्योंगों, मध्यम उद्योगों तथा बड़े पैमाने के उद्योगों के संबंध में नीतियां निर्धारित की जाती हैं। सरकार स्वतंत्रता के पश्चात् देश के औद्योगिक विकास हेतु समय–समय पर अलग–अलग नीतियां घोषित करती रही हैं।

3.3 भारत की औद्योगिक नीति :– भारत की औद्योगिक नीति का अध्ययन हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :–

3.3.1 औद्योगिक नीति 1948 :–

6 अप्रैल 1948 को डॉ. प्रसाद मुखर्जी द्वारा प्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत इस औद्योगिक नीति का आधार मिश्रित अर्थव्यवस्था रखा गया था। इस नीति में बड़े उद्योगों की चार श्रेणियाँ बनाई गई थी।

(A) प्रथम श्रेणी में तीन महत्वपूर्ण उद्योग (अस्त्र–शस्त्र निर्माण, अणु शक्ति का उत्पादन एवं नियंत्रण, रेल यातायात का स्वामित्व एवं प्रबन्ध) रखें गए, जिन पर सरकार का स्वामित्व होगा।

(B) द्वितीय श्रेणी में छः आधारभूत उद्योग रखे गए जिन पर दस वर्ष तक उद्योगपतियों का अधिकार होगा व दस वर्ष बाद इनका पुनः अध्ययन करके आवश्यकता होने पर इनका राष्ट्रीयकरण किया जाएगा। इस श्रेणी के उद्योगों में कोयला, लोहा व इस्पात, हवाई जहाज बनाना, समुद्री जहाज बनाना, टेलिफोन, तार एवं बेतार का सामान (रेडियों रिसीविंग सेट को छोड़कर) खनिज तेल आदि सम्मिलित थे।

(C) तृतीय श्रेणी में 18 महत्वपूर्ण उद्योग रखे गए व इनके विषय में प्रावधान किया गया कि ये उद्योगपतियों के द्वारा सरकार के नियमन एवं नियंत्रण में चलाए जाएँगें। भारी रासायनिक उद्योग, चीनी, सूती व ऊनी वस्त्र, सीमेन्ट, कागज आदि इसी श्रेणी के महत्वपूर्ण उद्योग हैं।

(D) चतुर्थ श्रेणी में बाकी के उद्योग रखे गए जिन्हें निजी क्षेत्र द्वारा व्यक्तिगत या सरकारी आधार पर चालाया जाएगा व उन पर राज्य का सामान्य नियंत्रण रहेगा।

1948 की औद्योगिक नीति का मूल्याँकन :–

यह नीति आठ वर्षों तक क्रियाशील रही व इस अवधि में इसकी कई कमियों के बाद भी औद्योगिक उत्पादन में 40 प्रतिशत वृद्धि हुई। सरकार को उद्योगों की स्थापना व विस्तार पर प्रभावी नियंत्रण में मदद मिली। सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार हुआ। इस अवधि में द्वितीय श्रेणी के उद्योगों में राष्ट्रीयकरण का भय व्याप्त रहा।

3.3.2 औद्योगिक नीति, 1956 (Industrial Policy 1956) :–

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में तीव्र औद्योगिकरण तथा आधारभूत उद्योगों के सुदृढ़ आधार की व्यूहरचना के कारण 1956 में भारत सरकार ने दूसरी औद्योगिक नीति की घोषणा की जो अधिक व्यापक होने के साथ–साथ समाजवादी समाज के उद्देश्य से प्रेरित थी। इस नीति में सार्वजनिक क्षेत्र के व्यापक विस्तार तथा निजी क्षेत्र पर प्रभावी नियंत्रण का प्रावधान किया गया था। इस नीति के मुख्य उद्देश्य आधारभूत एवं भारी उद्योगों का सुदृढ़ आधार तैयार करना, सार्वजनिक क्षेत्र का तीव्र विकास एवं विस्तार, एकाधिकारी प्रवृत्ति पर रोक तथा समाजवादी समाज की स्थापना के लिए औद्योगिक सहकारी क्षेत्र का विकास करना था।

इस नीति में बड़े पैमाने के उद्योगों की तीन अनुसूचियाँ बनाई गई। अनुसूची A में 17 उद्योग सम्मिलित किए गए जिनके विकास की एकमात्र जिम्मेदारी सरकार को सौंपी गई। साथ ही यह व्यवस्था भी की गई कि निजी उद्यमकर्ताओं को अपने वर्तमान उद्योगों का विस्तार करने दिया जाएगा तथा नई इकाइयाँ स्थापित करने में सरकार निजी क्षेत्र का सहयोग ले सकेगी। इस श्रेणी में आधारभूत उद्योग, परिवहन के साधन तथा खनिज पदार्थ शामिल किए गए थें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तृतीय अनुसूची में शेष सभी उद्योग रखे गए व इनके विकास की जिम्मेदारी निजी क्षेत्र को दी गई। इस बात की व्यवस्था भी की गई कि सरकार इस क्षेत्र में उद्यमकर्त्ताओं को वित्त, विद्युत शक्ति व परिवहन सुविधाएँ उपलब्ध कराएगी। साथ ही निजी क्षेत्र सरकारी नियंत्रण में कार्य करेगा। आवश्यकता होने पर सरकार भी इस क्षेत्र में प्रवेश कर सकेगी।

इस नीति में कुटीर व लघु उद्योगों के विकास, औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों के विकास, औद्योगिक क्रांति, विदेशी पूंजी के प्रति भेदभाव न बरतने पर बल दिया गया। इस नीति को भारत के औद्योगिकरण की आधार नीति कहा जा सकता हैं।

1956 की औद्योगिक नीति का मूल्यांकन :–

1956 की औद्योगिक नीति अप्रत्याशित रूप से सफल रही। इसके अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का तीव्र विस्तार हुआ तथा आधारभूत उद्योगों का एक बहुत ही सुदृढ़ आधार तैयार हुआ। क्षेत्रीय विषमताओं में कमी के लिए औद्योगिक लाइसेन्स नीति का पूरा–पूरा सदुपयोग किया गया। पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना के लिए प्राथमिकता, अनुदान तथा सुविधाओं की व्यवस्था के कारण इन क्षेत्रों में भी उद्योगों का विकास हुआ।

इस नीति में निजी क्षेत्र पर अत्याधिक नियन्त्रण तथा विदेशी पूंजी के राष्ट्रीयकरण का भय बना रहा। राजकीय पूँजीवाद को बढ़ावा मिला व नियन्त्रकों व लाइसेंस राज का बोल बाला बढ़ा। एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण नहीं लगाया जा सका। आपातकाल में सरकार का उद्योगों पर नियन्त्रण अत्यधिक बढ़ गया। इस नीति की कमियों को दूर करने के लिए 1970, 1973 तथा 1975 में लाइसेंस नीति में संशोधन किए गए। 1970 में संयुक्त क्षेत्र को मान्यता दी गई। एक करोड़ से कम पूँजी वाले उद्योगों को लाइसेंस से मुक्त किया गया। अनुसूची A में भी निजी क्षेत्र को सरकार की पूर्वानुमति पर प्रवेश की अनुमति प्रदान की गई। आयातों पर नियन्त्रण तथा आयात प्रति स्थापन के लिए निर्यातों को प्रोत्साहन दिया गया। लघु उद्योगों को बड़े उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा से बचाने के लिए आरक्षण प्रदान किया गया। औद्योगिक शान्ति के लिए श्रमिकों को उद्योगों में भागीदारी प्रदान की गई।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता हैं कि 1956 की औद्योगिक नीति से भारत में तीव्र औद्योगिक विकास हुआ तथा आधारभूत उद्योगों का सुदृढ़ आधार स्थापित हुआ। सार्वजनिक क्षेत्र का व्यापक विस्तार हुआ पर निजी क्षेत्र के विकास पर दुष्प्रभाव पड़ा। समाजवाद की स्थापना के लिए राजकीय पूँजीवाद हावी रहा और देश में नियन्त्रणों एवं लाइसेंसराज की प्रमुखता रही। फिर धीरे–धीरे औद्योगिक नीति में उदारीकरण की प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगी जो अब बहुत प्रभावी हो गई हैं।

3.3.3 जनता सरकार की औद्योगिक नीति, 1977:–

जनता सरकार की नई औद्योगिक नीति की घोषणा 23 दिसम्बर 1977 को की गई। इस नीति के मुख्य बिन्दु निम्नलिखित हैं।

लघु इकाइयाँ :–

इस नीति में ग्रामीण क्षेत्रों व छोटे नगरों में कुटीर व लघु उद्योगों को सरकारी प्रोत्साहन का प्रावधान किया गया। लघु उद्योगों के लिए सुरक्षित उद्योगों की सूची को 180 से बढ़ाकर 504 कर दिया गया। टाइनी क्षेत्र में मशीनों व उपकरणों में विनियोग की सीमा 1 लाख रूपये रखी गई।

लघु व कुटीर उद्योगों के विकास के लिए प्रत्येक जिले में जिला उद्योग केन्द्र (District Industries Centre) की स्थाना की व्यवस्था की गई। ये केन्द्र लघु उद्योगों के लिए कच्चे माल, मशीनरी व साख की व्यवस्था करेंगे। भारतीय ग्रामीण विकास बैंक ने ग्रामीण व कुटीर उद्योगों की साख की आवश्यकताओं के लिए पृथक इकाई की घोषणा की। लघु उद्योगों के लिए बिक्री वस्तु मानकीकरण किस्म नियन्त्रण, विपणन सर्वेक्षण आदि पर ध्यान देने तथा सरकारी खरीद में इन्हें प्राथमिकता देने पर बल दिया गया। इस नीति में 22 ग्रामीण उद्योगों को चिह्नित किया गया जिनके विकास के लिए आधुनिक प्रबन्धकीय तकनीक को अपनाया जाना था।

वृहद औद्योगिक इकाइयाँ :– वृहद चालू उद्योगों का विस्तार व नए उद्योगों की स्थापना MRTP एक्ट के अन्तर्गत की जाने की व्यवस्था की गई। विस्तार व स्थापना के लिए सरकार से पूर्वानुमति व स्वयं के वित्तीय साधनों का प्रावधान किया गयां

समीक्षा :– यद्यपि इस नीति में रोजगार निर्माण, ग्रामीण क्षेत्रों के विकास तथा आर्थिक विकेन्द्रीकरण पर बल दिया गया था किन्तु इस नीति में जिला उद्योग केन्द्रों की स्थापना व लघु क्षेत्र के अतिरिक्त कोई नई बात नहीं थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.3.4 1980 की औद्योगिक नीति :–

इस नीति में प्रस्थापित क्षमता के पूर्ण उपयोग करने, रोजगार बढ़ाने, प्रादेशिक असंतुलनों को कम करने, कृषिगत उद्योगों को प्राथमिकता देकर कृषि का विकास करना, निर्यात प्रोत्साहन व आयात प्रतिस्थापन से सम्बन्धित उद्योगों का तीव्र विकास करना, औद्योगिक वस्तुओं के ऊँचे मूल्यों व उनकी घटिया किस्म के प्रति उपभोक्ता वर्ग को संरक्षण प्रदान करने पर बल दिया गया। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित प्रावधान किए गए।

- इस नीति में टाइनी इकाइयों के लिए विनियोग सीमा को एक लाख से बढ़ा कर दो लाख तथा लघु इकाइयों के लिए 10 लाख से 20 लाख तथा सहायक इकाइयों के लिए 15 लाख से 25 लाख कर दी गई।

- प्रत्येक जिले में सहायक लघु तथा कुटीर उद्योगों के विस्तार के लिए कुछ केन्द्रस्थ सयंत्र (Nuclear Plants) स्थापित करने का प्रावधान किया गया। ये सयंत्र लघु इकाइयों की तकनीकी को उन्नत करने तथा उनके लिए इनपुट उत्पन्न करने का प्रयास करेगा। ये सयंत्र औद्योगिक फैलाव (Industrial Dispersal) में भी मदद करेंगे।

- वित्तीय अनियमितताओं या कुप्रबन्धन के कारण रूग्ण इकाइयों पर कड़ी कार्यवाही की घोषणा की गई व बीमार इकाइयों के स्वस्थ इकाइयों के साथ विलयन पर बल दिया गया।

- भारतीय उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति को बढ़ाने के लिए निर्यात वृद्धि गुणवत्ता सुधार व मूल्य कम करने के लिए उच्चतर तकनीकी अपनाने पर बल दिया गया। साथ ही वायु प्रदूषण नियन्त्रण, आँकड़ों का बैंक बनाने, लाइसेंस प्रणाली को सरल बनाने पर भी बल दिया गया।

3.3.5 1980 में औद्योगिक उदारीकरण के लिए किए गए प्रावधान :–

औद्योगिक उदारता का प्रारम्भ 1980 के दशक में ही प्रारम्भ हो गया था। औद्योगिक उत्पादन वृद्धि के लिए औद्योगिक नीति व लाइसेंस व्यवस्था को अधिक उदार बनाया गया। 1985 में 25 उद्योगों को लाइसेंस से मुक्त कर दिया गया। MRTP कम्पनियों की परिसम्पति की सीमा 20 करोड़ से बढ़ा कर 100 करोड़ रूपये कर दी गई थी।

31 मई 1980 को घोषित नीति में लघु इकाइयों में प्लांट व मशीनरी में विनियोग की सीमा 35 लाख से बढ़ाकर 60 लाख रूपये, सहायक इकाइयों के लिए 45 लाख से बढ़ाकर 75 लाख व टाइनी क्षेत्र में 2 लाख से बढ़ा कर 5 लाख रूपये की गई।

गैर एम.आर.पी.टी. कम्पनियों व गैर–फेरा कम्पनियों द्वारा दी जा सकने वाली ब्याज दरें (परिवर्तनीय डिबेंचरों पर) 13.5 प्रतिशत कर दी गई, ताकि ये बाजार में अधिक मात्रा में वित्तीय साधन जुटा सकें।

बड़े व मध्यम क्षेत्र में बीमार औद्योगिक इकाइयों के उपचार हेतु एक औद्योगिक व वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (Board for Industrial and Financial Reconstruction - BIFR) की स्थापना की गई। बीमार औद्योगिक इकाइयों के सम्बन्ध में श्रमिकों की बकाया राशि को अन्य बकाया की भांति ऊँचा स्थान दिया गया ताकि इनके हितों की रक्षा की जा सकें। BIFR ने 15 मई 1987 से कार्यारम्भ कर दिया था।

मई 1985 में उद्योगों को एकाधिकार व प्रतिबन्धात्मक व्यापार–विधियाँ अधिनियम (MRTP Act) की धारा 21 (अधिक विस्तार के सम्बन्ध में (तथा 22 (नए उपक्रमों की स्थापना के सम्बन्ध में) से मुक्त कर दिया गया ताकि ये उत्पादन बढ़ा सकें। इन उद्योगों में कुछ इस प्रकार हैं – पिंग लोहा, कुछ इलेक्ट्रोनिक कल–पूर्जे, गाड़ियों के पार्ट्स व कल–पूर्जे प्रदूषण नियन्त्रण उपकरण, कुछ छपाई की मशीनरी मशीनी औजार, कुछ दवाएँ अखबारी कागज, पोर्टलैण्ड सीमेन्ट आदि।

दिसम्बर 1985 में इन 27 उद्योगों में से 22 उद्योगों से सम्बद्ध MRTP व FERA कम्पनियों को भी लाइसेंस लेने से मुक्त कर दिया गया। इन उद्योगों में पिग लोहा, वैकल्पिक ऊर्जा प्रणालियाँ, गाड़ियों के कल–पूर्जे, प्रदूषण–नियन्त्रण उपकरण रसायन प्रक्रिया–सयंत्र आदि शामिल हैं।

1985 के अन्त में सरकार ने उत्पादन क्षमता की पुनः स्वीकृति (Re-endorsement) की स्कीम घोषित थी, जो उन समस्त लाइसेन्स शुदा इकाइयों को प्राप्त हुई, जिन्होनें 31 मार्च 1985 को समाप्त होने वाले पिछले वर्षों में से किसी भी वर्ष में अपनी लाइसेंसशुदा क्षमता का 80 प्रतिशत अंश प्राप्त कर लिया था। ये इकाइयाँ अपने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अधिकतम उत्पादन व इसके 1/3 अंश को जोड़ने से प्राप्त की मात्रा तक लाइसेंसशुदा क्षमता के लिए पुनः स्वीकृति ले सकेंगी। इससे उत्पादन बढ़ाने में मदद मिली।

उपर्युक्त स्कीम को बाद में और अधिक व्यापक बना दिया गया। किसी औद्योगिक उपक्रम द्वारा 1 अप्रैल, 1988 से 31 मार्च, 1990 के बीच प्राप्त अधिकतम उत्पादन के लिए औद्योगिक लाइसेन्स स्वतः फिर से जारी कर दिया गया। जिन उद्योगों को स्वतः स्वीकृति की सुविधा नहीं होगी, उनकी संख्या 77 से घटाकर 26 कर दी गई।

सरकार ने उत्पादन बढ़ाने के लिए 45 मदों के लिए उत्पादकों द्वारा वस्तु या वस्तु मिश्रण में परिवर्तन करने (Broad-banding) की इजाजत प्रदान की। उदाहरणार्थ यदि लाइसेन्स टू–व्हीलर 100CC इंजन क्षमता के निमार्ण के लिए दिया गया लेकिन माँग टू–व्हीलर 150CC इंजन क्षमता की ज्यादा हैं, तो ब्रोड़ बैण्ड़िंग स्कीम के अन्तर्गत टू–व्हीलर 150CC इंजन–क्षमता का बनाया जा सकता हैं और इसके लिए नया लाइसेन्स देने की आवश्यकता नहीं रही। ब्रोड़ बैण्ड़िंग में कुछ उद्योगों के नाम इस प्रकार हैं– बिजली के पंखों की सभी किस्में (सिवाय औद्योगिक पंखों व ब्लोवर्स के) विद्युत–उपकरण गांड़ियों के टायर टयूब काँच–सीमेन्ट चमड़े का निर्मित माल, बल्क दवाएँ, सर्जिकल सामान, सभी फल व सब्जी–पदार्थ व सभी प्रोसस किए गए खाघ–पदार्थ आदि।

दिसम्बर 1985 के अन्त में सरकार ने परिशिष्ट 1 की संशोधित सूची घोषित की जिसमें 30 उद्योग–समूह थे जिनमें एकाधिकार कम्पनियों व विदेशी कम्पनियों को उत्पादन–क्षमता स्थापित करने की इजाजत दी गई, बशर्ते कि वे मदें लघु उद्योगों या सार्वजनिक क्षेत्र के लिए रिजर्व न हो। इसमें धातुकार्मिक उद्योग, विद्युत–उपकरण, परिवहन, औद्योगिक मशीनरी, कृषिगत मशीनरी आदि उद्योग शामिल किये गये। इस प्रकार लाइसेन्स नीति को काफी सरल व उदार बनाया गया ताकि उत्पादन बढ़ाने में आसानी रहें।

28 मई 1986 को सरकार ने घोषणा की कि 65 उद्योग अपनी उत्पादन–क्षमता बढ़ा सकते हैं ताकि ये पैमाने की किफायते प्राप्त कर सकें। इस प्रकार इनके लिए उत्पादन क्षमता के न्यूनतम स्तर निर्धारित किये गये। बाद में यह सुविधा 84 उद्योगों तक फैला दी गई। सीलिंग पंखों की न्यूनतम उत्पादन क्षमता प्रति वर्ष 8 लाख से बढ़ाकर 10 लाख तथा विद्युत–टाइपराइटरों की 15 हजार से बढ़ाकर 25 हजार कर दी गई।

अक्टूबर, 1987 में पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग लगाने के लिए MRTP व FERA कम्पनियों को परिशिष्ट 1 के 28 उद्योगों व गैर–परिशिष्ट के 24 उद्योगों को लाइसेन्स से मुक्त कर दिया गया। लेकिन गैर–परिशिष्ट श्रेणी के उद्योगों की छूट A श्रेणी के जिलों तक ही सीमित रखी गईं।

लाइसेन्स से छूट की सीमा जून 1988 से पिछड़े क्षेत्रों के लिए 50 करोड़ तथा गैर–पिछड़े क्षेत्रों के लिए 15 करोड़ कर दी गई। लेकिन ये छूटें उन्हीं प्रोजेक्टों के लिए दी गई जिन्हें निम्न दूरियों से परें नगरों में स्थापित किया जाएगा। 25 लाख की जनसंख्या से अधिक आबादी की सीमा से 50 किलोमीटर, 15 से 25 लाख तक की आबादी वाले शहरों से 20 किलोमीटर 7.5 से 15 लाख तक की आबादी वाले शहरों से छूट की सीमा पिछड़े क्षेत्रों के लिए 75 करोड़ रूपये व सामान्य क्षेत्रों के लिए 25 करोड़ रूपये कर दी गई।

3.4 नई औद्योगिक नीति 31 मई, 1990 की मुख्य विशेषताएं :–

मुख्य बाते संक्षेप में इस प्रकार हैं।

1. लघु सहायक व टाइनी इकाइयों की विनियोग सीमाओं में वृद्धि :– इस नीति में लघु उद्योगों की विनियोग सीमा (प्लान्ट व मशीनरी में) 35 लाख रूपये से बढ़ाकर 60 लाख रूपये, सहायक इकाई के लिए 45 लाख रूपये से बढ़ाकर 75 लाख रूपये तक तथा टाइनी इकाई के लिए 2 लाख से बढ़ाकर 5 लाख रूपये कर दी गई थी।

2. लघु उद्योगों में टेक्नोलॉजी उन्नत करने को प्रोत्साहन तथा प्रेरणाएँ :–

लघु इकाइयों की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता बढ़ाने के लिए उनकी टेक्नोलॉजी को उन्नत करने पर बल दिया गया था। इसके लिए अनेक टेक्नोलॉजी केन्द्र, टूल रूम, प्रक्रिया व उत्पाद–विकास केन्द्र आदि स्थापित करना आवश्यक माना गया था।

3. कृषि आधारित उद्योगों के विकास पर बल :–

कृषिगत पदार्थ उत्पन्न करने वाले सहकारिता के ढ़ांचे के अन्तर्गत इकाइयाँ स्थापित करने के लिए प्रोत्याहन देने पर जोर दिया गया ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योगों के फैलाव व ग्रामीण रोजगार को बल मिले। इस सम्बन्ध में कहा गया कि बैंक भी कार्यशील पूँजी देने में इनको ऊँची प्राथमिकता देंगे तथा इनके द्वारा नई टेक्नोलॉजी को अपनाने में मदद दी जाएगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. लाइसेंस के नियमों में उदारता :–

गैर–पिछड़े क्षेत्रों में 25 करोड़ रूपये के विनियोग वाली नई इकाइयों तथा पिछड़े क्षेत्रों में 75 करोड़ रूपये के विनियोग वाली नई इकाइयों को लाइसेंस या रजिस्ट्रेशन से मुक्त रखा गया।

5. विदेशी सहयोग :–

सरकार ने उद्यमकर्त्ताओं को यह स्वतंत्रता दी हैं कि वे सम्बद्ध अधिकारी की स्वीकृति के बिना टेक्नोलॉजी के हस्तान्तरण के समझौते कर सकेंगेः बशर्ते कि रायॅल्टी के भगुतान घरेलू बिक्री पर 5 प्रतिशत तथा निर्यात के मूल्य पर 8 प्रतिशत से अधिक न हों। लेकिन यदि टेक्नोलॉजी के आयात पर एकमुश्त किस्त के रूप में भुगतान करना पड़े तो सरकार से अवश्य इजाजत लेनी होगी।

6. विदेशी विनियोग :–

टेक्नोलॉजी के आयात को प्रोत्साहित करने के लिए 40 प्रतिशत शेयर–पूँजी तक स्वचालित स्वीकृति दी गई।

7. निर्यातोन्मुख इकाइयों के लिए छूट :–

शत प्रतिशत निर्यातोन्मुख इकाइयों तथा निर्यात प्रोसेसिंग क्षेत्रों में स्थापित इकाइयों को 75 करोड़ की विनियोग–सीमा तक लाइसेन्स से मुक्त किया गया। ऐसे विनियोगों पर सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं द्वारा परिवर्तनीयता की शर्त भी लागू नहीं मानी गई जिसके अन्तर्गत कर्ज की राशि शेयर–राशि में बदल जाती हैं।

8. अन्य तत्व :– अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की गुणवता माल बनाने के लिए न्यूनतम आर्थिक आकार के सयंत्रों की स्थापना पर बल दिया गया। ब्रोड–बैण्डिंग की वर्तमान व्यवस्था जारी रखी गई। 40 लाख जनसंख्या से अधिक वाले महानगरों के अन्दर व उनके आस–पास औद्योगिक इकाई स्थापित करने के सम्बन्ध में आम तौर पर उनकी सीमा के 20 किलोमीटर के अन्दर इजाजत न देने की घोषणा की गई।

इस प्रकार राष्ट्रीय मोर्चा सरकार की नई औद्योगिक नीति औद्योगिक उदारता की पूर्व नीति को न केवल जारी रखा गया, बल्कि उसका काफी विस्तार भी किया गया।

3.5 भारत में औद्योगिक लाइसेन्स नीति :–

भारत में निजी क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना, विकास एवं विस्तार का नियमन एवं नियन्त्रण करने के लिए औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत औद्योगिक लाइसेन्स की व्यवस्था हैं। इसके अन्तर्गत औद्योगिक विकास, उद्योगों की स्थापना एवं विस्तार के लिए केन्द्र सरकार से लाइसेन्स लेना पड़ता हैं। औद्योगिक लाइसेन्स नीति में कई बार संशोधन किए गए हैं जिनमें 1970, 1973, 1975, 1978, 1982, 1983, 1984, 1985, 1986 तथा 1988 के संशोधन महत्वपूर्ण हैं। वर्तमान औद्योगिक लाइसेन्स नीति की विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :–

1. लाइसेन्स हेतु उद्योगों का वर्गीकरण :–

लाइसेन्स हेतु उद्योगों का वर्गीकरण तीन भागों में किया गया हैं।

(i) अनिवार्य – क्षेत्र में निजी क्षेत्र को उद्योग स्थापना की अनुमति नहीं होगी।

(ii) मध्यम क्षेत्र – इसमें 5 से 15 करोड़ रूपये विनियोग वाले उद्योगों का समावेश होगा जिसमें निजी क्षेत्र के उद्योगपतियों को लाइसेन्स से उद्योग स्थापना, विस्तार एवं विकास की सुविधा होगी।

(iii) लाइसेन्स मुक्त क्षेत्र – इस क्षेत्र में गैर–फेरा तथा गैर–एकाधिकारी कम्पनियों को पिछड़े क्षेत्रों में 50 करोड़ रू. पूँजी विनियोग तथा गैर–पिछड़े क्षत्रों में 15 करोड़ रू. पूँजी विनियोग तक लाइसेन्स की जरूरत नहीं पड़ेगी। यह व्यवस्था 3 जून, 1988 को घोषित उदार–नीति के अन्तर्गत की गई थी।

यहां यह उल्लेखनीय हैं कि लघु उद्योगों के लिए आरक्षित उद्योगों के क्षेत्र में यह छूट नहीं मिलेगी और न उन क्षेत्रों में छूट मिलेगी जिनके लिए सरकार ने लाइसेन्स लेना अनिवार्य कर रखा हैं। इसी प्रकार फेरा कम्पनियों तथा एकाधिकारी कम्पनियों को हर हालत में ऐसे क्षेत्रों में भी लाइसेन्स लेना अनिवार्य होगा। उन्हें लाइसेन्स मुक्ति का लाभ नहीं मिलेगा।

2. लाइसेन्स क्षमता में वृद्धि तथा उत्पादन वृद्धि में छूट :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1980 में औद्योगिक नीति की घोषणा के साथ–साथ ही MRTP तथा फेरा कम्पनियों को छोड़कर सारे क्षेत्र में 24 उद्योगों तथा 15 निर्यातोन्मुखी इन्जीनियरिंग उद्योगों को अगले पांच वर्षों में अपनी लाइसेन्स क्षमता में 25 प्रतिशत स्वतः वृद्धि की छूट दी गई थी सही नहीं, अधिकृत लाइसेन्स क्षमता से 25 प्रतिशत अधिक उत्पादन की सशर्त छूट दी गई यदि अतिरिक्त संस्थाओं, विदेशी विनिमय तथा दुलर्भ कच्चे माल की आवश्यकता न हो।

3. अतिरिक्त क्षमता के पुनः पृष्ठांकन की व्यवस्था :– उद्योगों में उत्पादन वृद्धि को प्रोत्साहन देने के लिए 1982 के संशोधन द्वारा जो सुविधा प्रारम्भ में 1983–84 तक दी गई थी उसे 1989–90 तक बढ़ा दिया गया।

4. शत–प्रतिशत निर्यातोन्मुखी उद्योगों को प्रोत्साहनः– ऐसे उद्योगों को लाइसेन्स जारी करने में प्राथमिकता दी जाने के साथ–साथ कच्चे माल, मशीने–सयंत्र, कल–पूर्जे तथा उपकरण आयात करने की भी सुविधा दी जायेगी।

5. 87 उद्योग रहित जिलों में उद्योग स्थापना में गैर–फेरा तथा गैर–एकाधिकारी कम्पनियों को 50 करोड़ रूपये पूँजी विनियोग तक लाइसेन्स की जरूरत नहीं हैं जबकि इस सीमा से अधिक पूँजी विनियोग करने वाली कम्पनियों को भी लाइसेन्स जारी करने में प्राथमिकता दी जायेगी। इन 87 जिलों में MRTP तथा FERA कम्पनियों को भी लाइसेन्स जारी करने में उदारता का रूख रहेगा।

6. क्षेत्रीय विषमता की समाप्ति हेतु अनुदान के लिए उद्योगों का नया वर्गीकरण :– लाइसेन्स नीति में 1984 के एक संशोधन द्वारा उद्योग स्थापना में अनुदान के लिए उद्योगों का नया वर्गीकरण इस प्रकार किया गयाः–

(i) **'A' श्रेणी –**

इसमें उद्योग रहित जिलों तथा चुने हुए विशेष क्षेत्रों (Special Regions) का समावेश होगा। इन जिलों एवं क्षेत्रों में उद्योग स्थापना पर केन्द्र सरकार की अनुदान राशि पूँजी विनियोग के 15 प्रतिशत अथवा 15 लाख रूपये जो भी कम हो, देय होगी।

(ii) **'B' श्रेणी** –

इस श्रेणी में 55 जिलों का समावेश हैं और उनमें स्थापना पर केन्द्र सरकार की अनुदान राशि पूँजी विनियोग का 10 प्रतिशत अथवा 10 लाख रूपये अधिकतम दिये जाने की व्यवस्था है।

(iii) **'C' श्रेणी –**

इस श्रेणी में 113 जिले हैं जिनमें उद्योग स्थापना पर केन्द्र सरकार का अनुदान पूँजी विनियोग का 10 प्रतिशत अथवा 10 लाख रूपये अधिकतम दिये जाने की व्यवस्था हैं।

7. उद्योगों की स्थापना में श्रेणी परिवर्तन की सीमित छूट :–

उद्योगों की स्थापना में पिछड़े क्षेत्रों के विकास को प्रोत्साहन देने हेतु ''C'' श्रेणी से श्रेणी ''B'' तथा ''A'' में जाने अथवा ''B'' श्रेणी से ''A'' श्रेणी में स्थापित होने पर रियायत की व्यवस्था हैं, किन्तु ''A'' श्रेणी से ''B'' श्रेणी अथवा ''A'' और ''B'' से ''C'' श्रेणी में परिवर्तन की छूट नहीं होगी।

8. लघु उद्योगों के आरक्षण में विस्तार :–

लघु उद्योगों को बड़े उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा से बचाव हेतु कुछ वस्तुओं का उत्पादन केवल लघु उद्योगों के लिए ही आरक्षित किया गया हैं। जहाँ 1977 के पूर्व केवल 180 वस्तुओं का उत्पादन लघु उद्योगों के लिए आरक्षित था, किन्तु 1977 में जनता सरकार ने 324 वस्तुओं को और जोड़ कर लघु उद्योगों के लिए आरक्षित वस्तुओं की संख्या 504 कर दी थी उसके बाद उनमें निरन्तर वृद्धि से यह संख्या 873 तक पहुँच गई। अब लगभग 836 वस्तुओं का उत्पादन लघु उद्योगों के लिए आरक्षित हैं।

9. संयुक्त क्षेत्र (Joint Sector) को मान्यता :–

केन्द्र सरकार ने संयुक्त क्षेत्र को सैद्धान्तिक मान्यता दे दी हैं जिसके अनुसार निजी उद्यागों में सरकारी वित्तीय संस्थाओं द्वारा बड़ी मात्रा में पूँजी विनियोग करने पर उनकी साख नीति एवं प्रबन्ध में हिस्सा लेने का अधिकार होने के साथ–साथ उनको दिए गए ऋणों को अंश पूँजी में बदलने का अधिकार होगा।

10. एकाधिकारी प्रवृत्तियों का कठोर नियन्त्रण :–

आर्थिक एवं औद्योगिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा देने हेतु सरकार की लाइसेन्स नीति में बड़े औद्योगिक घरानों एवं एकाधिकारी कम्पनियों पर कठोर नियंत्रण रखा गया हैं। जहां 1970 की लाइसेन्स नीति में 35 करोड़ रूपये परिसम्पत्ति वाले व्यावसायिक गृहों को बड़े औद्योगिक गृहों की सूची में शामिल किया था, 1973

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में यह सीमा 20 करोड़ कर दी गई थी ताकि ज्यादा व्यावसायिक घरानों पर नियंत्रण हो सके, किन्तु बढ़ते मूल्यों के कारण यह सीमा 1985 में बढ़ाकर 100 करोड़ कर दी गई। संयुक्त क्षेत्र की धारणा से भी एकाधिकार पर रोक लगी हैं। केन्द्र सरकार की लाइसेन्स नीति में एकाधिकारी तथा फेरा कम्पनियों को बिना लाइसेन्स उद्योग स्थापना, विस्तार एवं विकास की छूट उपलब्ध नहीं हैं। उन्हें लाइसेन्स मुक्त क्षेत्रों में उद्योग स्थापना हेतु लाइसेन्स लेना जरूरी हैं।

11. उद्योगों में उत्पादकता वृद्धि तथा आर्थिक आधार के लिए व्यापक वर्गीकरण :–

उद्योगों में माँग परिवर्तन के अनुरूप की लोचता तथा लागतों में कमी हेतु 1985 में लाइसेन्स देने में व्यापक वर्गीकरण किया गया हैं जिनमें दवाइयों, उर्वरक, मशीनरी, कागज एवं लुग्दी तथा दो एवं चार पहियों वाले वाहन आदि का समावेश हैं। उदाहरणार्थ चार पहियों वाले वाहनों के लाइसेन्स में कार, जीप, ट्रक अथवा बस आदि सभी का समावेश होने से उत्पादक कम्पनियाँ इनमें से कोई भी वाहन उत्पादन कर सकेंगी जबकि इसके पूर्व ऐसा सम्भव नहीं था। जिस वाहन का लाइसेन्स होता था उसी का उत्पादन किया जा सकता था।

12. लाइसेन्स नीति में लागत कुशलता :–

लाइसेन्स नीति में लागत कुशलता पर जोर दिया जाता हैं इसके लिए कई वस्तुओं के उत्पादन के लाइसेन्स जारी करते समय उत्पादन का न्यूनतम आकार निर्धारित किया गया हैं। उससे कम उत्पादन क्षमता की इकाई की स्थापना की अनुमति नहीं हैं। इस प्रकार वर्तमान लाइसेन्स नीति आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त आकार की औद्योगिक इकाइयों की स्थापना पर जोर देकर उद्योगों की लागतों में कुशलता लाने को प्रेरित करती हैं।

13. लाइसेन्स की छूट की प्रवृत्ति :–

भारत की लाइसेन्स नीति में धीरे–धीरे लाइसेन्स की छूट की प्रवृत्ति बढ़ी हैं। 1985 में 25 उद्योगों को लाइसेन्स की छूट दी। इसी वर्ष एक संशोधन से 82 दवाओं उत्पादनों को लाइसेन्स से मुक्त किया। 1986 में रोलर फलोर मिलिंग उद्योग को लाइसेन्स मुक्त कर दिया और कुछ रासायनिक उद्योगों को भी लाइसेन्स से मुक्त किया हैं। 1988 के संशोधन में भी 30 उद्योगों को लाइसेन्स मुक्त कर दिया। 3 जून, 1988 को लाइसेन्स नीति में पुनः संशोधन कर लगभग 30 उद्योगों को लाइसेन्स मुक्त कर दिया। जहाँ अब तक 56 उद्योगों को लाइसेन्स लेना अनिवार्य था, अब केवल 26 उद्योगों के लिए लाइसेन्स अनिवार्य होगा। इसके लिए किन्हीं उद्योगों को एक सूची में विलय कर दिया हैं।

इस प्रकार भारत की औद्योगिक लाइसेन्स नीति में समयानुकूल संशोधनों द्वारा व्यावहारिक, उपयोगी एवं लोचपूर्ण बनाये रखा हैं। वर्तमान नीति में उत्पादन लागतों में किफायत, उत्पादकता वृद्धि, उदारता तथा उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति में वृद्धि की प्रवृत्ति हैं। इसमें पिछड़े क्षेत्रों के विकास के साथ–साथ औद्योगिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण पर जोर हैं। निर्यातोन्मुख उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहन देने के लिए उदारता का रूख हैं।

3.5.1 1988 में औद्योगिक लाइसेन्स नीति में पुनः संशोधन :–

3 जून, 1988 को औद्योगिक लाइसेन्स नीति में पुनः संशोधन कर केन्द्र सरकार ने पिछड़े इलाकों में पूँजी निवेश सीमा 5 करोड़ रूपये से बढ़ाकर 50 करोड़ रूपये तथा गैर–पिछड़े इलाको के लिए 15 करोड़ रूपये कर दी हैं, किन्तु यह छूट गैर–फेरा तथा गैर–एकाधिकारी कम्पनियों को उपलब्ध होगी। लाइसेन्स मुक्ति की यह सुविधा उन उद्योगों को दी जायेगी।

(i) 25 लाख से अधिक की आबादी वाले शहरों के इलाको से 50 किलोमीटर दूर स्थापित किये जायेंगे।

(ii) 15 लाख से 25 लाख की आबादी वाले शहरों से ऐसे उद्योगों की स्थापना दूरी 30 किलोमीटर,

(iii) 7.5 लाख से 15 लाख की आबादी वाले शहरों से 15 किलोमीटर की दूरी अनिवार्य कर दी गई ताकि उद्योगों की स्थापना शहरों में केन्द्रित न हो और दूर दराज के पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों के विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा मिले।

नये संशोधन से जिन उद्योगों को 75 लाख रूपये के कुल उत्पादन की क्षमता पर 15 प्रतिशत तक विदेशी मुद्रा उपलब्ध की जाती थी यह सीमा बढ़ाकर 30 प्रतिशत कर दी गई।

1990 में औद्योगिक लाइसेन्स नीति में पुनः संशोधन किया गया और राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने लाइसेन्स प्रक्रिया का सरलीकरण किया। उस समय चल रही लाइसेन्स मुक्त उद्योग योजना) ए मुक्त उद्योग योजना तथा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रजिस्ट्रेशन योजना समाप्त कर दी गई। नरसिंह राव सरकार ने अपनी नई औद्योगिक नीति 1991 में 26 उद्योगों को छोड़ सभी में लाइसेन्स व्यवस्था समाप्त कर दी।

3.5.2 औद्योगिक लाइसेन्स नीति की सफलता का मूल्यांकन :–

भारत में औद्योगिक लाइसेन्स नीति से उसके उद्देश्यों–तीव्र औद्योगिक विकास, एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण, क्षेत्रीय सन्तूलित औद्योगिक विकास, लघु उद्योगों को संरक्षण तथा विदेशी पूँजी विनियोग पर नियन्त्रण आदि को प्राप्त करने में काफी सरल रहा हैं, जैसा निम्न तथ्यों से स्पष्ट हैं :–

- जारी किये गये लाइसेन्सों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही **हैं** :–जहाँ 1952 से 1982 तक के 30 वर्षों में 19,367 औद्योगिक जाइसेन्स जारी किये गये वहाँ 1983 में 1075 तथा 1985 में 985 लाइसेन्स जारी किये गये जबकि 1986 में 618 लाइसेन्स जारी हुए। 1987 में 472 तथा 1988–89 में 332 लाइसेन्स जारी किये गये जिनमें 149 पिछड़ें क्षेत्रों के लिए थे।

- आशय पत्रों में भी निरन्तर वृद्धि :– नये उद्योग स्थापना के आशय–पत्रों की संख्या भी तेजी से बढ़ी हैं। जहाँ 1980 में केवल 946 आशय–पत्र जारी किये गये वहाँ 1985 में 1475 आशय–पत्र जारी हुए। 1988–89 में इनकी संख्या 1215 रही जबकि 1987–88 में इनकी संख्या 971 ही थी।

- विदेशी सहयोग को बढ़ावा:– उद्योग की स्थापना में विदेशी सहयोग को बढ़ावा दिया जा रहा हैं। जहाँ 1982 में केवल 500 मामलों में विदेशी सहयोग की अनुमति मिली वहाँ 1983 में विदेशी सहयोग के 673 मामलों को अनुमोदन मिला। 1984 में 752 तथा 1985 में 1204 विदेशी सहयोग की अनुमति मिली, वहाँ 1986 में 957 विदेशी सहयोग स्वीकृत हुए। 1987 में 853 सहयोग स्वीकृत हुए थे। 1988–89 में 636 विदेशी सहयोग स्वीकृत हुए।

- पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग स्थापना को प्रोत्साहन मिला हैं :– अब नये लाइसेन्स जारी करने में पिछड़ें क्षेत्रों को प्राथमिकता दी जाती हैं। MRTP तथा FERA कम्पनियों के आवेदनों पर भी उदारता का रूख अपनाया जाता हैं। 1983 में पिछड़े क्षेत्रों के लिए 645 आशय–पत्र जारी किये जबकि 1982 में 583 आशय–पत्र जारी किये गये हैं। 1988–89 में यह संख्या 610 पहुँच गई।

- लघु उद्योगों को आरक्षण :– जहाँ 1977 तक केवल 780 उद्योगों को आरक्षण प्राप्त था फिर यह संख्या 873 तक पहुँच गई पर अब नये संशोधनों से 836 लघु उद्योग उत्पादों को आरक्षण मिल जाने से उन्हें बड़े उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा से मुक्ति मिली।

- लाइसेन्स प्रणाली को समयबद्ध बनाये जाने से अनावश्यक विलम्ब से मुक्ति मिली हैं। अब आवेदनों को यथासम्भव 30 दिन में निपटाने की व्यवस्था उपयोगी हैं।

- एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर रोक :– इस नीति से MRTP तथा FERA कम्पनियों को लाइसेन्स जारी करने पर कठोर नियन्त्रण होने से उन पर रोक लगी हैं।

- नये साहसियों को प्रोत्साहन मिला हैं:– इससे न केवल औद्योगिक केन्द्रीकरण पर रोक लगी हैं वरन् नये उद्यमियों को अपनी प्रतिभा दिखाने का मौका मिला हैं। वर्ष 1986 में 1171 पूँजी निर्गमनों से 6168 करोड़ रूपये जुटाने की मंजूरी दी गई। 1989–90 के नौ महीनों में 10500 करोड़ रूपये पूँजी निर्गमन पंजीकृत हुआ।

इन सफलताओं के बावजूद कुछ विरोधी विचार सामने आये हैं। यह कहा जाता हैं कि यह नीति अपने उद्देश्यों में असफल रही। आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण को बढ़ावा मिला हैं। बिड़ला, टाटा आदि बड़ें औद्योगिक घरानों को अधिक लाइसेन्स मिलें जिससे उनकी शक्ति बढ़ी हैं। क्षेत्रीय विषमतायें अभी भी यथावत बनी हुई हैं। औद्योगिक नीति के द्वारा योजनाओं में प्राथमिकताओं की उपेक्षा दृष्टिगोचर होती रही हैं। लाइसेन्स तथा आशय–पत्र जारी करने में काफी विलम्ब हुआ हैं। इस प्रकार की कमियाँ होने के बावजूद भी कुल मिलाकर औद्योगिक लाइसेन्स नीति काफी हद तक सफल कही जा सकती हैं।

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1 : 1948 की औद्योगिक नीति में उद्योगों को कितनी श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है। ?

.....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

.....

.....

प्रश्न 2 : औद्योगिक नीति 1956 की घोषणा किसने की ?

.....

.....

.....

प्रश्न 3 : औद्योगिक नीति 1991 की मुख्य विशेष्ताएं बताइये।

.....

.....

.....

3.6 नई औद्योगिक एवं लाइसेन्स नीति – 1991 :–

24 जुलाई, 1991 को उद्योग राज्यमन्त्री श्री पी.जे. कुरियन ने संसद में भारत सरकार की नई औद्योगिक एवं लाइसेन्स नीति की घोषणा की। इस नयी नीति से देश के औद्योगिक क्षेत्र में अब तक व्याप्त कई लाइसेन्स प्रतिबन्धों, औद्योगिक नियन्त्रणों और नौकरशाही के अवांछित हस्तक्षेप का समापन होगा और देश के तीव्र औद्योगिकरण के लिए नये व्यावहारिक दृष्टिकोण, औद्योगिक क्षेत्र में अधिक उदारता और विदेशी पूँजी विनियोग को बढ़ावा मिलने से देश के औद्योगिकरण में स्थायित्व के साथ विकास का मार्ग प्रशस्त होगा। केन्द्र सरकार की नई औद्योगिक नीति निःसन्देह एक युग परिवर्तनकारी दस्तावेज हैं।

इस औद्योगिक नीति के मुख्य परिवर्तनों का अध्ययन निम्नलिखित चार शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाता हैं।

औद्योगिक लाइसेन्स व्यवस्था

1. विदेशी विनियोग व विदेशी टेक्नोलॉजी के समझौतें
2. सार्वजनिक क्षेत्र
3. MRTP Act (एकाधिकारात्मक व प्रतिबन्धात्मक व्यापार–व्यवहार अधिनियम) में परिवर्तन।

औद्योगिक लाइसेन्स व्यवस्था में परिवर्तन :–

इस नीति में यह स्वीकार किया गया कि उद्यमकर्ताओं को अपने व्यावसायिक विवेक के आधार पर विनियोग – सम्बन्धी निर्णय लेने का अवसर मिलना चाहिए। आज के औद्योगिक जगत में टेक्नोलॉजिकल परिवर्तनों व अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को देखते हुए उद्यमकर्ताओं को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपनी प्रतिक्रिया तेजी से दर्शानी चाहिए। इसलिए अनावश्यक विलम्ब को दूर करने तथा निजी क्षेत्र के बढ़ावा देने के लिए 18 उद्योगों को छोड़कर शेष में औद्योगिक लाइसेन्स–व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। 14 अप्रैल, 1993 को स्वचालित वाहनों अर्थात् मोटरकारों कुछ सफेद वस्तुओं जैसे रेफ्रिजरेटर, वाशिंग मशीन, एयरकन्डीशनर्स आदि तथा खालों व चमड़े नामक तीन उद्योगों – समूहों को लाइसेंस से मुक्त कर दिया गया। इसमें लाइसेंस व्यवस्था केवल 15 उद्योगों तक सीमित रह गई। ये उद्योग विनिर्माण क्षेत्र में जोड़े गए मूल्य (Value-added) का 15 प्रतिशत अंश प्रदान करते हैं। सरकार का विचार था कि इन तीन क्षेत्रों में लाइसेंस से मुक्ति देने से इनमें विनियोग बढ़ेगा, एकाधिकार, भ्रष्टाचार व विलम्ब में कमी आएगी और साधनों का आवंटन लाइसेंस–प्रणाली के द्वारा न होकर बाजार में प्रतियोगिता के माध्यम से अधिक कुशलतापूर्वक हो पाएगा।

चमड़ा व खालें जो पहले लघु क्षेत्र के लिए रिजर्व श्रेणी में आते थे, अब लाइसेंस से मुक्त होने पर बड़ी इकाइयों के रूप में भी संचालित किए जा सकेंगे, जिससे उत्तम किस्म की फैशन की वस्तुओं का निर्यात के लिए उत्पादन बढ़ाना सम्भव होगा। इससे प्रदूषण–नियंत्रण भी होगा क्योंकि अनेक लघु इकाइयों में प्रदूषण पर नियंत्रण करना कठिन था जबकि थोड़ी सी बड़ी इकाइयों में यह कार्य अपेक्षाकृत अधिक सुगम बनाया जा सकता हैं। इस प्रकार इन तीनों क्षेत्रों में लाइसेंस–व्यवस्था समाप्त करने से कई प्रकार के लाभ मिलने की सम्भावना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

थी। अनिवार्य लाइसेन्स की व्यवस्था सुरक्षा व महत्वपूर्ण कारणों, सामाजिक व पर्यावरणीय कारणों तथा जोखिमी प्रकृति की वस्तुओं व विलासी उपभोग की वस्तुओं के सम्बन्ध में ही जारी रखी गई हैं।

1. विदेशी विनियोग व तकनीकी के समझौते :–

इस नीति में यह मान्यता की गई कि भारत के पिछले चार दशकों के औद्योगिक विकास को देखते हुए घरेलू व विदेशी उद्योगों के बीच का सम्बन्ध अधिक प्रावैगिक होना चाहिए। विदेशी विनियोग के साथ टेक्नोलॉजी–हस्तान्तरण, बिक्री की दक्षता, आधुनिक प्रबन्धकीय तकनीक व निर्यात–सम्बर्द्धन की सम्भावनाएँ आती हैं। अतः प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग को आकर्षित करने हेतु ऊँची प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों में विदेशी इक्विटी में 51 प्रतिशत तक स्वचालित स्वीकृति देने का निर्णय लिया गया। पहले इसकी सामान्य सीमा 40 प्रतिशत थी। इसमें 35 विशिष्ट ऊँची प्राथमिकता वाले, पूँजी गहन तथा ऊँची टेक्नोलॉजी वाले उद्योगों को चिह्नित किया गया व यह शर्त रखी गई कि विदेशी इक्विटी से सम्बन्धित उद्योग के लिए पूँजीगत माल के आयात के लिए विदेशी विनिमय की व्यवस्था की जानी चाहिए तथा लाभांश का भुगतान उस निर्यात–आमदनी में से किया जाना चाहिए जो उत्पादन प्रारम्भ होने से सात वर्षों की अवधि में जुटाई जा सकेंगी। इससे विदेशी विनियोगों के प्रति सरकारी उदारता का प्रचार होगा और विदेशी कम्पनियों के लिए भारत में पूँजी–विनियोगों का आकर्षण बढ़ सकेगा। इससे निर्यात बढ़ाने में भी मदद मिलेगी क्योंकि विदेशी कम्पनियों के बिक्री संबंधी अनुभवों का लाभ उठाया जा सकेगा।

भारतीय उद्यमकर्ता को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में टिकने के लिए विदेशी तकनीकी उपलब्ध करवाने के लिए इन्हीं 35 उद्योगों में विदेशी टेक्नोलॉजी के समझौतों को भी उदार बनाया गया, जो उद्यमकर्ता स्वयं अपने व्यावसायिक विवेक के आधार पर स्थापित कर सकेंगे। इनमें विदेशी तकनीकी विशेषज्ञों की नियुक्ति के लिए पूर्व सरकारी स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होगी। विदेशों में विक्री–सम्बन्धी क्रियाओं मे मदद लेने के लिए विदेशी व्यापारिक कम्पनियों को भी इक्विटी में 51 प्रतिशत अंश लेने की इजाजत दी जाएगी। जहाँ बड़े विनियोग–प्रोजेक्टों के लिए 51 प्रतिशत से अधिक इक्विटी की आवश्यकता होगी, उन्हें विर्णय के लिए विदेशी–विनियोग प्रोत्साहन बोर्ड को सौंप दिया जाएगा। 1996–97 में इनकी संख्या 35 से बढ़ाकर 48 कर दी गई थी।

विदेशी टेक्नोलॉजी समझौतों के लिए घरेलू बिक्री पर 5 प्रतिशत रॉयल्टी तथा निर्यात–बिक्री पर 8 प्रतिशत रॉयल्टी एवं साथ में एकमुश्त 1 करोड़ रूपये तक टेक्नोलॉजी–भुगतान दिया जा सकेगा, जो कुल भुगतान समझौते की तारीखों से 10 वर्ष की अवधि में बिक्री के 8 प्रतिशत (अथवा उत्पादन चालू होने से 7 वर्ष तक) से अधिक नहीं होगा।

2. सार्वजनिक क्षेत्र :–

विगत में सार्वजनिक क्षेत्र ने भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया हैं। इसे 1956 की औद्योगिक नीति में सर्वोपरि स्थान दिया था। आज इसके समक्ष उत्पादन की अपर्याप्त वृद्धि कमजोर, प्रबन्ध, अतिरिक्त स्टॉफ, टेक्नोलॉजिकल विकास के अभाव, अनुसन्धान व विकास की कमी आदि समस्याएँ हैं। इनमें लगी पूँजी पर प्रतिफल भी कम मिल पाए हैं। यह क्षेत्र आज सरकार के लिए लाभ का स्त्रोत न रहकर बहुत कुछ भार–स्वरूप बन गया हैं। कई सार्वजनिक उपक्रम उपभोक्ता – वस्तुओं व सेवा क्षेत्रों में चालू कर दिए गए हैं जो प्रारम्भिक लक्ष्य नहीं था। इसलिए भविष्य में इनके सम्बन्ध में नया दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। 26 मार्च, 1993 से 13 खनिज पदार्थ जो पहले सार्वजनिक क्षेत्र के लिए रिजर्व कर दिए गए थे, अब उन्हें निजी क्षेत्र के लिए खोज दिए गए हैं, जिससे अब सार्वजनिक क्षेत्र के लिए रिजर्व किए गए उद्योगों की संख्या घट कर 6 रह गई हैं, जो इस प्रकार हैं –

(1) सुरक्षा की वस्तुएँ

(2) आणविक ऊर्जा

(3) कोयला व लिग्नाइट

(4) खनिज तेल

(5) रेल–परिवहन

(6) आणविक ऊर्जा आर्डर 1953 की अनुसूची में वर्णित खनिज पदार्थ।

इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र को आधार ढ़ाँचे की वस्तुओं व सेवाओं, तेल व कुछ खनिज–साधनों तथा सुरक्षा उपकरण तक सीमित कर दिया गया। भविष्य में सार्वजनिक क्षेत्र को नीची टेक्नोलॉजी, अकार्यकुशल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्रियाओं व ऐसे क्षेत्रों से हटाया जाएगा जिनमें निजी क्षेत्र उत्तम काम कर सकता हैं। इसे प्रबन्ध की स्वायत्तता प्रदान की जाएगी।

सार्वजनिक उपक्रमों के अंशों की बिक्री की भी व्यवस्था की जाएगी ताकि उन्हें भी बाजार तन्त्र के अनुशासन में लाया जा सकें। इन्हें म्यूच्युअल कोषों, वित्तीय संस्थाओं, आम जनता व श्रमिको को बेचा जा सकेगा। 1991 की औद्योगिक नीति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में निम्न कदम और उठाए गएः–

इसकी रूग्ण इकाइयों के मामलें भी औद्योगिक व वित्तीय पुनर्निमार्ण बोर्ड (BIFR) अथवा अन्य उच्च स्तरीय संस्थाओं को सूचित किए जा सकते हैं, जो पहले प्रावधान के अन्तर्गत नहीं आते थे।

रूग्ण इकाइयों को हटाने की नीति (Exit Policy) :–

इनमें लगातार घाटे में चलने वाली रूग्ण इकाइयों को बेचने या बन्द करने अथवा श्रमिक–सहकारिताओं को सौंपने की व्यवस्था की जा सकती हैं। इसके लिए राष्ट्रीय नवीनीकरण कोष के साधनों का उपयोग करने का सुझाव दिया गया जिसके माध्यम से श्रमिकों को पुर्नप्रशिक्षण (Retraining) देकर नए कामों पर लगाने (Redeployment) अथवा क्षतिपूर्ति देकर छँटनी की व्यवस्था (Retrenchment) की जा सकती हैं। इसके लिए मजदूर–संघों का सहयोग बहुत जरूरी हैं। इस प्रकार औद्योगिक नीति में श्रमिकों के हितों की रक्षा करते हुए सार्वजनिक उपक्रमों की दशा सुधारना एक प्रमुख लक्ष्य रखा गया।

अतः सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति एक नया दृष्टिकोण अपनाया गया ताकि इसकी कार्यकुशलता व लाभप्रदता में वृद्धि की जा सकें।

3. **MRTP Act में परिवर्तन :–**

यह अधिनियम जून, 1970 से लागू हुआ था। अब इसमें से कम्पनी की परिसम्पत्ति – सीमा (जो पहले 100 करोड़ रूपये थी) को समाप्त कर दिया गया हैं। एकाधिकारी घरानों के कम्पनी का विस्तार करने, नया उपक्रम चालू करने अथवा विलयन व एकीकरण के लिए तथा संचालक की नियुक्ति के लिए केन्द्रीय सरकार से पूर्व स्वीकृति नहीं लेनी पड़ेगी। इस कानून का उपयोग अब एकाधिकारात्मक, प्रतिबन्धात्मक तथा अनुचित व्यापार–विधियों को रोकने व नियमित करने में ही किया जाएगा। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हैं कि 1991 की औद्योगिक नीति में ऐसे कदम उठाए गए जो इसे पूर्व नीतियों से काफी भिन्न बना देते हैं। यह उदारता, विकास व उत्पादकता बढ़ाने की दिशा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन माना जा सकता हैं। इसका उद्देश्य औद्योगिक अर्थव्यवस्था को अनावश्यक बन्धनों के जाल–जंजाल से मुक्त करना हैं ताकि यह प्रतिस्पर्धा व आधुनिकीकरण के वातावरण में विकसित होकर विश्व की अर्थव्यवस्था से जुड़ सकें। इस औद्योगिक नीति से औद्योगिक क्षेत्र में उदारीकरण काफी ऊँची सीमा पर पहुँच गया हैं।

3.6 1991 की औद्योगिक नीति का मूल्याँकन :–

नई नीति में व्यापक परिवर्तनों के कारण इसकी काफी आलोचना की की गई हैं। विभिन्न अर्थशास्त्रीयों ने इसके पक्ष व विपक्ष में अपने विचार प्रगट किए हैं जिनका सारांश नीचे दिया गया हैं :–

सम्भावित लाभ :– मुम्बई के प्रसिद्ध औद्योगिक अर्थशास्त्री जे. सी. संडेसरा का मत हैं कि 1991 की औद्योगिक नीति में कार्यकुशलता व उत्पादन बढ़ाने के पाँच स्त्रोत हैं :–

पहले लाइसेंस नीति, विदेशी विनियोग MRTP अधिनियम आदि के तहत सरकार से अनुमति लेने में जो समय नष्ट हो जाता था वह बचेगा और वह उत्पादन–सम्बन्धी कार्यों में लगाया जा सकेगा।

1. विदेशी विनियोगों व विदेशी टेक्नोलॉजी के समझौतों के माध्यम से देश के सीमित साधनों में वृद्धि होगी, जिससे उत्पादन व उत्पादकता में बढ़ोतरी की आशा की जा सकती हैं।
2. सार्वजनिक क्षेत्र को केवल छः उद्योगों तक सीमित करने से (1956 की नीति में अनुसूची 'ए' में इनकी संख्या 17 थी) ग्यारह उद्योग निजी के लिए खुल गए हैं जिससे इसके विकास की सम्भावना बढ़ी हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की रूग्ण इकाइयों के सम्बन्ध में उपाय करने से इनमें लगे साधन मुक्त होकर अन्य उत्पादक कार्यों में लगाए जा सकेंगे जिससे क्षेत्र की कार्यकुशलता में सुधार आएगा।
3. सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबन्ध में सुधार करने से ये बेहतर काम कर पाएँगे। इनका स्वायत्ता देने से भी लाभ होगा।
4. MRTP अधिनियम में संशोधन करने से प्रतिबन्धात्मक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साथ ही डॉ. संडेसरा का मत हैं कि इस औद्योगिक नीति में सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से कुछ भी नहीं प्रतीत होता हैं। इसमें निजी हाथों में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोकने व प्रादेशिक सन्तुलन लाने की दिशा में प्रयास नहीं किए गए। अतः इसमें सामाजिक उद्देश्यों को निजी प्राथमिकता दी गई। फिर भी कार्यकुशलता व उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से यह नीति स्वागत योग्य हैं।

इस नीति के सम्भावित खतरे :–

स्व. एच. के. परांजपे के मतानुसार 1991 की औद्योगिक नीति को मात्र एक पूँजीवाद घोषणापत्र माना जा सकता हैं। 1980 के दशक में औद्योगिक क्षेत्र में उदारीकरण की नीति अपनाई गई थी, लेकिन उसके परिणाम प्रतिकूल निकले और देश भारी वित्तीय व भुगतान–संकट में फँस गया था। इसलिए परांजपे के मतानुसार जुलाई 1991 की औद्योगिक नीति को लागू करने से देश का आर्थिक संकट और गहरा हो जाएगा और समस्याएँ हल होने के बजाय अधिक जटिल हो जाएँगी।

परांजपे ने इस औद्योगिक नीति को निम्नलिखित कारणों से देश के हितों के प्रतिकूल बतलाया था :

1. बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के योगदान में संदेह :–

इस नीति में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को इक्विटी में 51 प्रतिशत की स्वचालित स्वीकृति देकर उनके लिए जो दरवाजा खोला गया उससे वांछित परिणाम मिलने की आशा नहीं हैं। क्योंकि भूतकाल में इन्होनें भारत में नई टेक्नोलॉजी व नई तकनीकें विकसित करने में आवश्यक भूमिका नहीं निभाई हैं। फिलिप्स कम्पनी भारत में स्वतंत्रता–पूर्व के समय से काम कर रही हैं, लेकिन विद्युत–उपकरणों के क्षेत्र में, जैसे ट्रांजिस्टरों के निर्माण में, भारत की लघु प्रतियोगी इकाइयों का योगदान अधिक प्रभावपूर्ण रहा हैं।, बनिस्पद फिलिप्स कम्पनी के।

विदेशी कम्पनियों ने भारत में अनुसंधान व विकास (P & D) पर ध्यान नहीं दिया हैं। अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनी पेप्सी से आशा की गई थी कि यह देश में एक कृषि–आधारित उद्योग का विकास करेगी तथा निर्यात बढ़ाएगी। लेकिन प्रगति आशानुकूल नहीं निकली। वैसे भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अब पूर्वी यूरोप, चीन व रूसी गणराज्यों में ज्यादा रूचि लेने लगी हैं, इसलिए उनकों भारत के प्रति कम आकर्षण हैं।

2. सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के प्रति नीति सही नहीं :–

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र को 17 उद्योगों की बजाय मार्च, 1993 के बाद केवल 6 उद्योगों तक सीमित कर देने से इसकी समस्याओं का समाधान नहीं हो पाएगा। यह क्षेत्र भारत में समाजवादी अर्थव्यवस्था का अग्रदूत बनने की दृष्टि से प्रारम्भ किया गया था। अतः इनके आकार, विस्तार व महत्व को देखते हुए इनकी प्रबन्ध–व्यवस्था में सुधार के उपाय अपनाये जाने चाहिए थे, जिनकी 1991 की नीति में कोई चर्चा नहीं हैं। बल्कि निजी क्षेत्र को बढ़ाकर सार्वजनिक क्षेत्र को संकुचित करने का प्रयास स्पष्टतया दिखाई देता हैं।

अतः 1991 की औद्योगिक नीति आर्थिक विकास के नेहरू–मॉडल के अनुकूल नहीं हैं और भारत को आत्मनिर्भर विकास की तरफ ले जाने के बजाए निर्भर–विकास की तरफ ले जाएगी। इससे भारत में विकेन्द्रीत व जनोन्मुख अर्थव्यवस्था के प्रादुर्भाव का स्वप्न साकार नहीं हो पाएगा। वर्तमान नीति के माध्यम से भारत का सम्पन्न व सम्भ्रान्त वर्ग विश्व के सम्पन्न व सम्भ्रान्त वर्ग से मिलकर देश के मानवीय व प्राकृतिक साधनों का दोहन स्वयं के लाभ के लिए करेगा। अतः परांजपे के अनुसार इसका डटकर प्रतिरोध किया जाना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1 : औद्योगिक नीति 1991 के कोई दो महत्व बताइये।

.....

.....

.....

प्रश्न 2 : औद्योगिक नीति 1991 की कोई दो सीमाएं बताइये।

.....

.....

.....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.7 सारांश :

जुलाई 1991 से भारत में औद्योगिक नीति में सुधारों के जरिये उद्योंगों में प्रवेश की बाधाओं को दूर किया गया हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के लिये निर्धारित क्षेत्रों की संख्या में कमी की गई हैं, एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यवहार के प्रति दृष्टिकोण को विवेकपूर्ण बनाया गया हैं। विदेशी विनियोग नीति को उदार बनाया गया हैं। मध्यवर्ती व पूंजीगत माल के संबंध में आयात नीति को काफी उदार बनाया गया हैं। प्रादेशिक सन्तुलन लाने के प्रयास किये गये हैं ताकि पिछड़े क्षेत्रों का विकास किया जा सकें एवं रोजगार गहन लघु उद्योग क्षेत्रों में विकास को प्रोत्साहन दिया गया हैं। उपर्युक्त अध्याय में हमनें औद्योगिक नीति 1948, औद्योगिक नीति 1956, औद्योगिक नीति 1980 तथा नई औद्योगिक नीति 1991 का अध्ययन किया हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न

निम्न प्रश्नों के उत्तर 500 शब्दों में दीजिए।

प्रश्न 1 : औद्योगिक नीति 1948 एवं औद्योगिक नीति 1956 की मुख्य विशेषताएं बताइये।

प्रश्न 2 : औद्योगिक नीति 1991 की विस्तृत विवेचना कीजिये।

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.4

(1) चार (4) (2) पंडित जवाहरलाल नेहरू (3) 24 जुलाई 1991 को (4) देखिये 3.4.6

3.6

उत्तर एक (1) भ्रष्टाचार में कमी (2) रोजगार में वृद्धि

उत्तर दो (1) बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा शोषण (2) असमानताओं में कमी

3.10 शब्दावली :

MRTP Act	पुर्नप्रशिक्षण
नवीनीकरण कोष	रूग्ण इकाइयों
वित्तीय पुनर्निमार्ण बोर्ड (BIFR)	सार्वजनिक उपक्रम
प्रादेशिक सन्तुलन	एकाधिकारी एवं प्रतिबन्धात्मक व्यवहार
सम्भ्रान्त वर्ग	नेहरू–मॉडल
सार्वजनिक क्षेत्र	समाजवादी अर्थव्यवस्था
अनुसंधान व विकास	बहुराष्ट्रीय कम्पनी
विदेशी टेक्नोलॉजी	आधुनिकीकरण
राष्ट्रीय नवीनीकरण कोष	पुर्नप्रशिक्षण
छँटनी की व्यवस्था	जिला उद्योग केन्द्र
वृहद चालू उद्योगों	निर्यात प्रोत्साहन
आयात प्रतिस्थापन	प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति

3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

अग्रवाल ए.एन. : भारतीय अर्थव्यवस्था,

दत्त रूद्र एव के.पी.एम. सुन्दर : भारतीय अर्थव्यवस्था, एस. चाँद एण्ड कम्पनी

नाथूराम का एल.एन. : भारतीय अर्थव्यवस्था

Economic Survey : Government of India

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई– 4

उदारीकरण, निजीकरण तथा वैश्वीकरण की नई आर्थिक नीति तथा भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 नवीन आर्थिक नीति की पृष्ठभूमि

4.3 नवीन आर्थिक नीति के प्रमुख तत्व

- 4.3.1 औद्योगिक क्षेत्र में प्रमुख आर्थिक सुधार
- 4.3.2 वित्तीय एवं बैंकिंग क्षेत्र में सुधार
- 4.3.3 पूँजी बाजार में आर्थिक सुधार
- 4.3.4 विदेशी व्यापार क्षेत्र में आर्थिक सुधार
- 4.3.5 राजकोषीय नीति एवं कर क्षेत्र में सुधार
- 4.3.6 परिवहन एवं संचार क्षेत्र में आर्थिक सुधार
- 4.3.7 प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अधिकतम सीमा में वृद्धि

4.4 नवीन आर्थिक नीति की उपलब्धियाँ

4.5 नवीन आर्थिक नीति की कमियाँ

4.6 सारांश

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.8 शब्दावली

4.9 संदर्भ ग्रंथ

4.0 उद्देश्य :– प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप जान पायेंगें कि –

1. नवीन आर्थिक नीति के प्रमुख तत्व क्या हैं तथा उनका भारतीय अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा हैं।
2. औद्योगिक क्षेत्र, वित्तीय एवं बैंकिंग क्षेत्र, पूंजी बाजार क्षेत्र तथा विदेशी व्यापार क्षेत्र आदि में प्रमुख आर्थिक सुधार कौन–कौन से हुए हैं ?
3. नवीन आर्थिक नीति की उपलब्धियाँ क्या हैं ?
4. नवीन आर्थिक नीति की सीमाएँ कौन–कौन सी है ?

4.1 प्रस्तावना :–

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् 19वीं शताब्दी तक अपनाई गई आर्थिक नीतियों से अर्थव्यवस्था में जटिल परिस्थितयाँ पैदा हो गई तथा देश में गम्भीर आर्थिक संकट हो गया, तब वर्ष 1991 में तत्कालीन वित्त मंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने उदारीकरण, निजीकरण तथा वैश्वीकरण की नवीन आर्थिक नीति की घोषणा की। प्रस्तुत अध्याय में नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में हुए आर्थिक सुधारों के भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभावों का विवेचन किया गया हैं, इनमें से कुछ प्रमुख क्षेत्र हैं – औद्योगिक क्षेत्र, वित्तीय एवं बैंकिंग क्षेत्र, पूंजी बाजार क्षेत्र तथा विदेशी व्यापार क्षेत्र आदि। अन्त में नवीन आर्थिक नीति की उपलब्धियों तथा कमियों की व्याख्या की गई हैं।

4.2 नवीन आर्थिक नीति एवं आर्थिक सुधारों की पृष्ठभूमि :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

योजनाबद्ध विकास से उत्पन्न दोषों के परिप्रेक्ष्य में जुलाई, 1991 में नये आर्थिक सुधारों के लागू होने से पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था भारी आर्थिक संकट में फँस गई थी। मुद्रा स्फीति की दर अगस्त, 1991 में 17 प्रतिशत पहुँच गई थी। भारत में विदेशी विनिमय कोष बहुत ही निम्न स्तर 1 अरब डालर तक पहुँच गये थे जिनसे केवल दो सप्ताह के आयातों की व्यवस्था हो सकती थी। भारत में निवेशों का विश्वास डगमगाने से विदेशी पूँजी तथा प्रवासी भारतीयों के निक्षेपों का विदेशों की ओर पलायन होने लगा। मुद्राकोष तथा विश्व बैंक के बढ़ते दबावों से अर्थव्यवस्था में ऐसी जटिल परिस्थितियाँ पैदा हो गई कि भारत को बाध्य होकर आर्थिक सुधारों एवं उदारीकरण की नीति अपनानी पड़ी।

4.3 आर्थिक उदारीकरण एवं आर्थिक सुधारों की नवीन आर्थिक नीति के प्रमुख तत्व एवं भारतीय नियोजन पर प्रभाव :–

जुलाई 1991 के आर्थिक संकट के उबरने के लिये भारतीय अर्थव्यवस्था में जो आर्थिक सुधार, उद्योग, कृषि, विदेशी व्यापार परिवहन एवं संचार आदि क्षेत्रों में किये गये हैं उनकी प्रमुख विशेषताएँ एवं तत्व संक्षेप में इस प्रकार हैं :–

4.3.1 औद्योगिक क्षेत्र में प्रमुख आर्थिक सुधार :–

इस क्षेत्र के प्रमुख सुधार इस प्रकार हैं :–

- औद्योगिक लाइसेन्सिंग केवल 5 उद्योगों तक सीमित :– तीव्र औद्योगिक विकास का मार्ग प्रशस्त करने के लिए नवीन आर्थिक नीति सुधारों में केवल 5 मदों के लिये ही औद्योगिक लाइसेन्स लेना पड़ेगा। इससे उद्योगों की स्थापना में अनावश्यक विलम्ब एवं लाइसेन्स में व्याप्त बुराइयों से मुक्ति मिलेगी।

- सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों की संख्या 17 से घटाकर 3 कर दी इससे नीजि क्षेत्र को औद्योगिक विकास में अधिक सक्रिय भूमिका का अवसर मिला हैं।

- बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को कई उद्योगों में 51 प्रतिशत तक अंश पूँजी की छूट और उसके लिए स्वचालित अनुमोदन (Automatic Approval) की व्यवस्था से उन्हें भारतीय उद्योगों में अपनी नीति निर्धारण का अधिकार मिल गया।

- सार्वजनिक उपक्रमों की अंश पूँजी के विनिवेश की छूट (Disinvestment of Shares of Public Sector Units) से प्राप्त राशि का अधिक लाभकारी उपयोग हो सकेगा।

- निरन्तर घाटे में चलने वाले सार्वजनिक उपक्रमों में बहिर्गमन नीति का अनुसरण :– निरन्तर घाटे में चलने वाले सार्वजनिक उपक्रमों को कर्मचारियों एवं श्रमिकों के वित्तीय भार से मुक्ति दिलाने के लिये उनमें बहिर्गमन नीति (Exit Policy) लागू की गई।

- एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार नीति (MRTP) के सुधार ने ऐसी कम्पनियों की परिसम्पत्ति सीमा समाप्त कर दी हैं और उन्हें आर्थिक विकास के क्षेत्र में आर्थिक छूट देने की नीति अपनाई गई हैं।

- आधारभूत संरचना विकास के लिए निजी क्षेत्र को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिये जाने की नई आर्थिक नीति में व्यवस्था हैं ताकि विद्युत, सड़क, परिवहन, दूर संचार, जहाजरानी एवं बन्दरगाह, हवाई अड्ड़ों एवं वायु परिवहन में अधिकाधिक निजी साहस को अवसर मिलेगा।

- निर्यातोन्मुख औद्योगिक इकाइयों की स्थापना में सुविधाएँ प्रदान की गई हैं ताकि निर्यात उद्योगों की स्थापना में तेजी रहे।

- राज्य सरकारों ने भी औद्योगिक क्षेत्र में कई सुधार एवं सुविधाएँ प्रदान की हैं जो देश के तीव्र औद्योगीकरण का मार्ग प्रशस्त करेगी।

- लघु उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धात्मक क्षमता एवं उत्पादकता में वृद्धि हेतु जहाँ 1996–97 में लघु उद्योगों की संयत्र और मशीनरी में पूँजी सीमा 60 लाख रूपये तथा 75 लाख रूपये से बएाकर 3 करोड़ रूपये तथा अति लघु इकाइयों में पूँजी सीमा 5 लाख रूपये से बढ़ाकर 25 लाख रूपये कर दी थी किन्तु लघु उद्योगों के द्वारा बड़े उद्योगपतियों की घुसपैठ के प्रति रोक के कारण 15 फरवरी, 1999 को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने लघु उद्योगों की पूँजी सीमा 3 करोड़ रूपये से घटाकर 1 करोड़ रूपये कर दी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

- सार्वजनिक क्षेत्र के 9 प्रतिष्ठानों को अधिक स्वायत्तता तथा उन्हें सार्वभौमिकता की वृद्धि।
- तेल की खोज और औद्योगिक पार्कों को आधारभूत संरचना का दर्जा दिया गया।
- पेट्रोल उत्पादों की पाइप लाइनों, अन्वेषण एवं मार्केटिंग में स्वचालित मार्ग से 100 प्रतिशत विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की अनुमति।

4.3.2 वित्तीय एवं बैंकिंग क्षेत्र में सुधार :–

नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत भी आर्थिक उदारीकरण एवं सुधारों का दौर चालू किया हैं जिससे बैंकों एवं वित्तीय संस्थाओं का पूँजीगत ढ़ाँचा सुदृढ़ होगा और उनकी वित्तीय सहायता क्षमता में वृद्धि होगी। प्रमुख सुधार निम्न प्रकार हैं :–

- वित्तीय संस्थाओं के लिए पूँजी पर्याप्तता आदर्श (Capital Adequacy Normes) लागू किया गया हैं।
- राष्ट्रीयकृत बैंकों को अंश पूँजी तथा बोर्ड़ो से पूँजी जुटाने के लिये अधिकार प्रदान किये हैं।
- बैंकिंग क्षेत्र में निजी क्षेत्र के बैंकों तथा विदेशी बैंकों की स्थापना की छूट दी गई हैं। इससे 34 नये निजी बैंक स्थापित हुए हैं और 45 विदेशी बैंकों को भी कार्य करने का मौका मिला हैं। इससे भारतीय बैंकिंग क्षेत्र में स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा तथा कुशलता का मार्ग प्रशस्त होगा।
- बैंकों में वैधानिक तरल कोषानुपात (SLR) तथा नकद कोषानुपात (CRR) में निरन्तर कमी का दौर जारी हैं और वर्तमान में उन्हें घटाकर क्रमशः 25 प्रतिशत तथा 5 प्रतिशत कर दिया हैं।
- उधार की न्यूनतम दरों में कटौती :– नये बैंकिंग सुधारों के अन्तर्गत बैंकों के अवधि ऋणों पर ब्याज की न्यूनतम दरों को 19 प्रतिशत से घटाकर 11.5 प्रतिशत कर दिया हैं।
- कुछ चुनी भारतीय कम्पनियों तथा बैंकों को कुछ शर्तो पर स्वास्थ्य बीमा क्षेत्र में प्रवेश की छूट दी गई हैं।
- बीमा नियमन एवं विकास अधिनियम (IRDA) :– दिसम्बर, 1999 में संसद द्वारा पारित इस अधिनियम से बीमा क्षेत्र में निजी क्षेत्र की भागीदारी तथा घरेलू बीमा कम्पनियों में विदेशी पूँजी की अधिकतम सीमा कुल प्रदत्त पूँजी की 26 प्रतिशत तक निर्धारित की हैं।
- बैंकों तथा वित्तीय संस्थाओं के बकाया वसूली के प्रावधानों को कड़ाई से लागू करने हेतु संशोधन आर्डीनेन्स जारी किया गया हैं।
- बैंकों को अलग–अलग अवधियों के ऋणों के लिये अलग–अलग PLRs की अनुमति दी गई हैं।
- बैंकिंग कम्पनियों में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की सीमा को 49 प्रतिशत से बढ़ाकर वर्ष 2003–04 के बजट में 74 प्रतिशत कर दिया हैं।

4.3.3 पूँजी बाजार में आर्थिक सुधार :–

भारतीय पूँजी बाजार के समुचित एवं पर्याप्त विकास के लिये कई आर्थिक सुधार लागू किये गये हैं जिनमें 1992 में सेबी (SEBI) की स्थापना और उसे पूँजी बाजार को नियंत्रित करने का अधिकार मिल गया हैं। भारतीय कम्पनियों को यूरो इक्विटी अंशों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी बाजारों में प्रवेश की छूट मिल गई। इन सब सुधारों से भारतीय पूँजी बाजार के पर्याप्त विकास एवं संसाधनों में काफी वृद्धि हुई हैं जो आर्थिक विकास और नियोजन का आधार हैं।

4.3.3 विदेशी व्यापार क्षेत्र में आर्थिक सुधार :–

देश के निर्यातों में वृद्धि तथा आवश्यक पूँजीगत सामान के आयात को सुविधाजनक बनाने के लिये कई आर्थिक सुधार लागू किये गये हैं जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण (Globalisation) का मार्ग प्रशस्त हुआ हैं। प्रमुख सुधार इस प्रकार हैं :–

- भारतीय रूपये का 18 प्रतिशत अवमूल्यन जुलाई, 1991 में दो चरणों में किया गया ताकि निर्यात बढ़ाने में मदद मिले और आयात महँगे हो जाएँ जिससे विदेशी व्यापार घाटे में भी कमी आवे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

- पूँजीगत सामान तथा औद्योगकि कच्चे माल के रूप में काम आने वाले सामान के आयात पर प्रतिबन्ध घटाये गये हैं ताकि देश में औद्योगिक विकास का मार्ग प्रशस्त हो सकें।

- व्यापार खाते में रूपये की एकीकृत विनिमय दर प्रणाली, 1993–94 में लागू की गई ताकि हवाला बाजार में विदेशी विनिमय पर प्रीमियम घटे और निर्यात बढ़ें। 1994–95 में इसे चालू खाते में भी लागू कर दिया गया जिससे यात्रा, शिक्षा एवं दवाओं आदि के क्षेत्र में प्रतिबन्ध घटे।

- आयात शुल्कों में निरन्तर कटौती ताकि पूँजीगत सामान एवं औद्योगिक कच्चे माल के सस्ते आयात से उनकी लागत में कमी एवं भारतीय निर्यातों की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति में वृद्धि हो।

- निर्यात नियंत्रणों में काफी उदारता के अन्तर्गत ऋणात्मक सूची की मदों के अतिरिक्त सभी प्रकार की वस्तुओं एवं उत्पादों के निर्यात को छूट दी हैं, इससे निर्यातों में वृद्धि तथा निर्यात उद्योगों को बढ़ावा मिला हैं।

- फेरा के स्थान पर फेमा (Foreign Exchange Management Act) बनाया गया हैं जिससे विदेशी विनिमय बाजार में उदारता प्रदान की गई हैं।

- भारतीय कम्पनियों को AGR/GDR बाजारों से साधन जुटाने की अधिक स्वतंत्रता दी हैं।

- स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र देश के कस्टम क्षेत्र से बाहर माने जावेंगे।

- आयातों पर मात्रात्मक प्रतिबन्धों में छूट और सेवाओं के निर्यात को बढ़ाने के लिये आयात–निर्यात नीति में विशेश व्यवस्था।

- निर्यातों पर से भी मात्रात्मक प्रतिबन्धों की समाप्ति :– भारत सरकार ने 31 मार्च, 2002 को नई पांचवर्षीय निर्यात–आयात नीति (2002–2007) द्वारा निर्यातों पर से भी कुछेक वस्तुओं को छोड़ मात्रात्मक प्रतिबन्ध समाप्त कर दिये। अब 2004–09 की नई निर्यात–आयात नीति लागू की गई हैं।

- एम.आर.टी.पी. एक्ट को समाप्त कर नया प्रतिस्पर्द्धी अधिनियम (Competition Act, 2002) लागू कर दिया हैं।

4.3.4 राजकोषीय नीति एवं कर क्षेत्र में सुधार :–

कर सुधारों के लागू करने से भारत में औद्योगिक निवेशों को प्रोत्साहन, बचतों की प्रेरणा, कर–राजस्व में वृद्धि एवं राजकोषीय घाटे में कमी संभव हुई हैं। इस क्षेत्र के प्रमुख सुधार इस प्रकार हैं :–

- व्यक्तिगत आयकर की छूट की सीमा 1991 के 22 हजार रूपये के कई चरणों में बढ़ाकर व्यक्तियों के लिए अब 1 लाख रूपये महिलाओं के लिए 1,35,000 रूपये तथा वरिष्ठ नागरिको के लिए 1,85,000 रूपये कर दी हैं।

- निगम कर (Corporation) की दर को 57.5 प्रतिशत से घटाकर 30 प्रतिशत कर दिया हैं।

- विदेशी कम्पनियों या उनकी शाखाओं पर आयकर की दर 65 प्रतिशत से घटाकर 35 प्रतिशत कर दी गई और सरचार्ज हटा दिया हैं।

- नवीन आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत आधारभूत संरचना सुविधाओं–हाइवे, पुल, एयरपोर्ट, बन्दरगाह तथा तेज परिवहन साधनों, पिछड़े क्षेत्रों में विद्युत उत्पादन एवं वितरण तथा इलेक्ट्रानिक सामान क्षेत्रों में पूँजी निवेश करने वालों को पाँच वर्ष की कर–छुट्टी की व्यवस्था हैं।

- लाभांश पर कर समाप्त कर दिया था किन्तु 2002–03 के बजट में फिर लाभांश कर प्राप्तकर्ता के हाथ में कर योग्य हो गया। पुनः 2003–04 में समाप्त कर दिया हैं। अब 71 सेवाओं पर सेवा कर लागू हो गया हैं और 2005–06 के बजट में इनसे लगभग 14500 करोड़ आय प्राप्ति का अनुमान था।

- कई क्षेत्रों में आयात शुल्क की 300 प्रतिशत तक की ऊँची दरों को कई चरणों में घटाकर कई मामलों में 40 प्रतिशत कर दिया हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

- उत्पादन कर (Excise Duty) की ऊँची दरों में कटौती एवं कर प्रणाली में सुधार लागू किये गये हैं। करों में मोडवेट (MODVAT) प्रणालल का विस्तार किया गया।
- बिक्री कर की समान न्यूनतम दरें सभी राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों में 1 अप्रैल, 2005 से 21 राज्यों में VAT लागू कर दिया हैं।
- उच्च संरक्षणात्मक कस्टम ड्यूटी को 45 प्रतिशत से घटाकर 30 प्रतिशत कर दिया।
- कर आधार, विस्तार हेतु (One-By-Six) छः में से कोई एक को कई नये शहरों और कस्बों में लागू कर दिया था। 2006–07 के बजट में इसे समाप्त कर दिया हैं।
- कृषि प्रसरण को बढ़ावा देने हेतु कर–छुट्टी (Tax-Holiday) का लाभ दिया गया हैं।
- निर्यात इन्टरनेटमेन्ट उद्योग को भी 80 HHC का लाभ दिया गया हैं।
- गैर कृषि उत्पादों पर आयात शुल्क की उच्चतम सीमा 25 प्रतिशत से घटाकर 20 प्रतिशत कर दिया हैं।

4.3.6 परिवहन एवं संचार क्षेत्र में आर्थिक सुधार :–

इस क्षेत्र में प्रमुख आर्थिक सुधार निम्न हैं :– दूर संचार सेवाओं को निजी क्षेत्र के लिये खोल दिया गया हैं और मूल्य वर्धित सेवाएँ (Value Added Service) निजी क्षेत्र में देने के साथ–साथ उनमें 51 प्रतिशत भागीदारिता की भी अनुमति दे दी हैं। सड़क परिवहन क्षेत्र में सभी राज्यों में पथकर की समाप्ति तथा कई राज्यों में चुँगी समापन, निजी क्षेत्र की फार्मों के हाइवे क्षेत्र में प्रवेश के लिये MRTP प्रावधानों में छूट दे दी गई हैं तथा उन्हें नेशनल हाईवे, पुलों व टनेलों पर फीस तथा शुल्क वसूल करने का अधिकार देने की व्यवस्था हैं।

दूरसंचार क्षेत्र में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की सीमा 49 प्रतिशत से बढ़ाकर 74 प्रतिशत कर दी हैं। शिपिंग इन्टरनेट कोरियर एयरपोर्ट क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश सीमा 74 प्रतिशत से बढ़ाकर 100 प्रतिशत कर दी हैं। एयर ट्रांसपोर्ट घरेलू विमान सेवाओं में निवेश विदेशी प्रत्यक्ष निवेश सीमा 49 प्रतिशत कर दी जबकि अनिवासी भारतीयों के लिये निवेश सीमा 100 प्रतिशत कर दी हैं।

4.3.7 प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अधिकतम सीमा में वृद्धि :– 2004–05 के बजट प्रस्तावों में 8 जुलाई, 2004 को दूर संचार क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश सीमा 49 प्रतिशत से बढ़ाकर 74 प्रतिशत, नागरिक उड्डयन क्षेत्र में 40 प्रतिशत से बढ़ाकर 49 प्रतिशत तथा बीमा क्षेत्र में 26 प्रतिशत से बढ़ाकर 49 प्रतिशत करने की घोषणा की गई हैं। इससे इन क्षेत्रों में विदेशी–प्रत्यक्ष निवेश (FDI) को बढ़ावा मिलेगा।

बोध प्रश्न

प्रश्न 1 : पूरा नाम बताइये।

SEBI

FERA

MRTP ACT

.....

.....

.....

प्रश्न 2 : नवीन आर्थिक नीति में विदेशी व्यापार क्षेत्र में हुए सुधार को बताइये।

.....

.....

.....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रश्न 3 : नवीन आर्थिक सुधारों में औद्योगिक क्षेत्र में हुए परिवर्तन बताइये।

.....

.....

.....

प्रश्न 4. आर्थिक नीति में परिवहन एवं संचार क्षेत्रों में हुए सुधार बताइये।

.....

.....

.....

4.4 आर्थिक सुधारों एवं आर्थिक उदारीकरण की नवीन आर्थिक नीति की सफलता/उपलब्धियाँ :–

नवीन आर्थिक नीति के समर्थकों ने इस नीति की सफलता को तीव्र आर्थिक विकास, निर्यातों में तेजी में वृद्धि, विदेशी पूँजी निवेशों में उत्तरोत्तर वृद्धि, विदेशी विनिमय कोषों में वृद्धि तथा तीव्र औद्योगिक विकास के रूप में परिलक्षित किया हैं जो इस प्रकार हैं :–

1. आर्थिक विकास में तीव्र वृद्धि :–

नवीन आर्थिक नीति से देश के तीव्र आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ हैं। जहाँ 1991–92 में संकटग्रस्त वर्ष में आर्थिक विकास की दर लगभग 0.8 प्रतिशत रह गई थी। वी 1992–93 में 5.1 प्रतिशत पहुँच गई। 1994–95 में यह 6.3 प्रतिशत पहुँच गई हैं। 2003–04 में विकास दर 8.5 प्रतिशत रहने का अनुमान हैं जबकि 2004–05 में घटकर 7.5 प्रतिशत रह गई हैं। किन्तु 2005–06 में बढ़कर 8.4 प्रतिशत हो गई हैं।

2. औद्योगिक विकास दर में वृद्धि (Incerease in Rate of Industrial Growth) :–

आर्थिक सुधारों एवं उदारीकरण से देश के उद्योगों में देशी एवं विदेशी पूँजी निवेशों में वृद्धि, पूँजीगत सामान एवं औद्योगिक कच्चे माल के आयातों में छूट तथा उद्योगों पर नियंत्रणों में कमी से देश में औद्योगिक विकास में तेजी रही हैं जहाँ 1991–92 में गिरकर केवल 0.6 प्रतिशत रह गई थी। आर्थिक सुधारों के लागू होने से 1992–93 में औद्योगिक विकास दर बढ़कर 2.3 प्रतिशत, 1993–94 में 6 प्रतिशत तथा 194–95 में 8.6 प्रतिशत पहुँच गई।

3. भारत में विदेशी पूँजी निवेशों में वृद्धि :–

पिछले 14 वर्षों में भारत में विदेशी पूँजी निवेशों में लगभग 250062 हजार करोड़ रूपये तुल्य प्रस्तावों का अनुमोदन हो चुका हैं और वास्तविक पूँजी प्रवाह लगभग 131385 करोड़ रूपये तुल्य रहा हैं। ये पूँजी निवेश मुख्यतः दूर संचार क्षेत्र (16.5 प्रतिशत) ईंधन क्षेत्र (17.5 प्रतिशत) तक रहे हैं।

4. भारत में निर्यातों में उत्तरोत्तर वृद्धि :–

प्रारम्भिक पाँच वर्षों में भारत के निर्यात में 18 प्रतिशत से 29 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई हैं। जहाँ 1990–91 में भारत में निर्यात लगभग 32.5 हजार करोड़ रूपये थे वहाँ 2004–05 में लगभग 3,61,879 करोड़ रूपये हो गया।

5. विदेशी विनिमय कोषों में तेजी से वृद्धि :–

नवीन आर्थिक सुधारों के लागू होने से निर्यातों में वृद्धि, विदेशी पूँजी निवेशों में वृद्धि, प्रवासी भारतीयों द्वारा निक्षेपों में वृद्धि आदि से देश में विदेशी विनिमय कोष 12 मई, 2006 को बढ़कर 163.755 अरब डालर तक पहुँच गये हैं।

6. राजकोषीय घाटे में कमी :–

सुधारों के बाद राजकोषीय घाटा कम होकर 1991–92 में सकल घरेलू उत्पाद (GDP) का 6.5 प्रतिशत तथा 1992–93 में घटकर 5.7 प्रतिशत ही रह गया।

7. मुद्रा स्फीति दर में कमी :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1991–92 में आर्थिक संकट के दौरान अगस्त में मुद्रा स्फीति की दर 17 प्रतिशत तक पहुँच गई थी वह अब घटकर 4.2 प्रतिशत तक रह गई हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हैं कि आर्थिक सुधारों की नवीन आर्थिक नीति से देश के तीव्र विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ हैं। उत्पादक रोजगार में वृद्धि हुई हैं। निर्यातों में उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ–साथ विदेशी विनिमय कोषों में वृद्धि हुई हैं। मुद्रा स्फीति पर रोक लगी हैं। गरीबी निवारण में मदद मिली हैं।

4.5 आर्थिक सुधारों की नई आर्थिक नीति की आलोचनाएँ :–

आर्थिक सुधारों के आलोचकों ने नई आर्थिक नीति में कई कमियाँ बताई हैं। यह देश के व्यापक हित मे नहीं होकर विदेशी हितों की सुरक्षा की नीति हैं जो सम्पन्न वर्ग को लाभान्वित करने वाली हैं। इस नीति की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं :–

- यह नीति पूँजीवाद तत्वों तथा उपभोक्तावाद की पोषक हैं :– इस नीति में अर्थव्यवस्था को निजी क्षेत्र के लिये पूर्णतः खोल देने से पूँजीवादी तत्व हावी होंगे। समाजवादी समाज की कल्पना निरर्थक लगने लगी हैं। सम्पन्न वर्ग को अधिकाधिक रियायतें देकर उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया जा रहा हैं।

- स्वदेशी कर्ज में निरन्तर वृद्धि का खतरा बढ़ रहा हैं। जहाँ 1990–91 में भारत पर विदेशी कर्ज लगभग 1,61,001 करोड़ रूपये था, वह सितम्बर, 2005 में 5,48,100 करोड़ रूपये (124.33 अरब डालर) लगभग चार गुना हो गया। भारत को विदेशी कर्ज की ऋण सेवाओं का वार्षिक भार लगभग 40 हजार करोड़ रूपये हो गया हैं। यह भुगतान असन्तुलन को और बढ़ायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक का दबाव बढ़ा हैं।

- भारत में बेरोजगारी बढ़ने का भय :– जहाँ भारत में बेरोजगारी की समस्या निरन्तर बढ़ती जा रही हैं, वहाँ उद्योगों में बहिर्गमन की नीति (Exit Policy) से मजदूरों की छंटनी न केवल बेकारी की समस्या को और जटिल बनायेगी वरन् औद्योगिक विवादों से शान्ति भंग कर उत्पादन में गिरावट लायेगी। इस नीति में बेरोजगारी समस्या के निराकरण के लिए कोई व्यवस्था नहीं हैं। संयुक्त मोर्चा की नई सरकार ने भी ''बहिर्गमन नीति'' को मजदूरों के हितों में इसे लागू करने में रूचि नहीं दिखाई।

- बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से देश की सम्प्रभुता को खतरा बढ़ रहा हैं तथा स्वदेशी एवं स्वावलम्बन की भावना को धक्का लगेगा। विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारतीय अर्थव्यवस्था पर अपना वर्चस्व स्थापित करके शोषण करने से भी नहीं हिचकेंगी। उसके लिये राजनैतिक भष्ट्राचार का भी सहारा लिया जा सकता हैं।

- कृषि के लिये नवीन आर्थिक नीति में चुप्पी :– भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान हैं पर फिर भी इस नीति में कृषि के सम्बन्ध में कोई प्रावधान नहीं हैं। कृषि क्षेत्र में उदारीकरण एवं मुक्त व्यापार नीति घातक सिद्ध हो सकती हैं। विश्व व्यापार संगठन (WTO) समझौते से कृषि पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

- विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर कब्जा करने की विकसित राष्ट्रों की नीति प्रभावी रहेगी और विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक विकास को धक्का लगेगा।

- पेटेन्ट अधिकारों का दुरूपयोग होने के साथ–साथ बीमा क्षेत्र को विदेशियों के लिये खोलने से भारतीय कम्पनियों को कट्टर प्रतिस्पर्द्धा से नुकसान होने की सम्भावना रहेगी।

- आर्थिक संकट तथा औद्योगिक मंदीः– दक्षिणी पूर्वी एशिया में आये आर्थिक संकट ने यह स्पष्ट संकेत दिया कि एशियाई देशों को उदारीकरण एवं भूण्मडलीकरण में काफी सतर्कता रखनी चाहिए। आजकल विदेशी उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा के कारण भारत जैसे विकासशील राष्ट्रों के उद्योगों में मंदी का दौर हैं।

- शेयर बाजारों में भारी उतार–चढ़ाव को बल मिला हैं क्योंकि विदेशी निवेशों में भारत में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के पूँजी बाजारों में भारी उतार चढ़ाव को बल मिला हैं। विदेशी निवेशों में घट–बढ़ से शेयर बाजारों में अनिश्चितता बढ़ती जा रही हैं।

इस प्रकार नवीन आर्थिक नीति के दूरगामी दुष्प्रभावों का ध्यान नहीं रखा गया हैं। भारत में बढ़ती बेरोजगारी एवं गरीबी का निराकरण, औद्योगिक शोषण से मुक्ति तथा बढ़ते विदेशी कर्ज को ध्यान में रखते हुए नवीन आर्थिक नीति को सतर्कता से लागू करने की आवश्यकता हैं। मुद्रा बाजार एवं पूँजी बाजारों में निवेशकों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के हितों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए। देश की आत्मनिर्भरता एवं स्वदेशी उद्योगों की रक्षा का प्रयास जारी हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न 1 : नवीन आर्थिक नीति की कोई दो उपलब्धियां बताइये।

.....

.....

.....

प्रश्न 2 : नवीन आर्थिक नीति की कोई दो कमियाँ बताइये।

.....

.....

.....

4.6 सारांश :–

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हैं कि उदारीकरण की नवीन आर्थिक नीति से देश को बहुत लाभ हुआ हैं। अर्थव्यवस्था के लगभग सभी क्षेत्रों में नवीन आर्थिक सुधार लागू किये गये हैं उदाहरर्णाथ औद्योगिक क्षेत्र, सेवा क्षेत्र, अधसरंचना क्षेत्र, विदेशी क्षेत्र, बैंकिंग तथा वित्तीय क्षेत्र तथा पूंजीगत क्षेत्र आदि। उपर्युक्त आर्थिक सुधारों का अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर प्रभावों की विवेचना भी प्रस्तुत अध्याय में की गई हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न :

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिए।

प्रश्न 1. नवीन आर्थिक सुधारों की आवश्यकता बताइये तथा उद्योग, अधसंरचना तथा सेवा क्षेत्र में हुए आर्थिक सुधारों की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2. भारतीय अर्थव्यवस्था पर नवीन आर्थिक सुधारों के प्रभाव की विवेचना कीजिए।

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर :–

4.3

उत्तर 1 तीव्र आर्थिक विकास तथा रोजगार में वृद्धि

4.4

उत्तर 1	MRTP Act	मोनोपोली रेस्ट्रीक्शन एण्ड ट्रेड प्रेक्टिसेज
	2 FIIs	फौरेन इण्डस्ट्रीयल इनवेस्टरर्स
	3 SEBI	सिक्योरिटी एण्ड एक्सचेन्ज बोर्ड ऑफ इण्डिया

उत्तर 2 देखिये 4.4.4 में

उत्तर 3 देखिये 4.4.5 एवं 4.4.6

4.8 **शब्दावली :**

पूंजी बाजार	मात्रात्मक प्रतिबन्ध
अप्रतिबन्धित	एकाधिकारी प्रतिबन्धात्मक
विदेशी प्रत्यक्ष निवेश	मुद्रा स्फीति
विदेशी विनिमय कोष	बीमा नियमन एवं विकास प्राधिकरण
प्रत्यक्ष विदेशी निवेश	भारतीय सुरक्षा एवं विनिमय बोर्ड

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मोनोपोली रेस्ट्रीक्शन एण्ड ट्रेड प्रेक्टिसेज फौरेन इण्डस्ट्रीयल इनवेस्टरर्स

सिक्योरिटी एण्ड एक्सचेन्ज बोर्ड ऑफ इण्डिया

बहिर्गमन नीति अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

विश्व बैंक विदेशी कर्ज

पूँजीवादी तत्व उपभोक्तावाद

पूँजीवाद विदेशी विनिमय कोषों

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अग्रवाल ए.एन. : भारतीय अर्थव्यवस्था

दत्त रूद्र एव ंके.पी.एम. सुन्दरम : भारतीय अर्थव्यवस्था, एस. चाँद एण्ड कम्पनी

नाथूरामका एल.एन. : भारतीय अर्थव्यवस्था

Economic Survey : Government of India

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई 5

विदेशी विनियोग का नियमन एवं भारतीय अर्थव्यवस्था में बढ़ता हुआ विदेशी सहयोग

(Regulation of foreign Investment and Growing Foreign Collaboration in the India Economy)

5.0 **इकाई की रूपरेखा**

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 विदेशी विनियोग की आवश्यकता

5.4 विदेशी विनियोग नीति

5.5 भारतीय अर्थव्यवस्था में बढ़ता हुआ विदेशी विनियोग

5.5.1 विदेशी निवेश स्वीकृतियां तथा वास्तविक अर्न्तप्रवाह

5.5.2 क्षेत्रानुसार विदेशी निवेश अर्न्तप्रवाह की प्रवृत्तियाँ

5.5.3 देशानुसार वास्तविक अर्न्तप्रवाह

5.6 विदेशी विनियोग नीति का मूल्यांकन

5.7 सारांश

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.9 शब्दावली

5.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप जान पायेंगें कि –

1. भारत में विदेशी विनियोग की क्या आवश्यकता हैं ?
2. भारत में विदेशी विनियोग नीति क्या हैं ?
3. भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी विनियोग में किस प्रकार परिवर्तन हुआ हैं ?
4. विदेशी विनियोग नीति की उपलब्धियाँ तथा कमियाँ क्या–क्या हैं ?

5.2 प्रस्तावना

आर्थिक विकास की दिशा में अग्रसर सभी देशों को विदेशी विनियोग पर निर्भर रहना ही पड़ता हैं। विदेशी पूँजी की आर्थिक विकास और औद्योगिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं। केवल विदेशी पूँजी की उपलब्धि से आर्थिक विकास संभव नहीं होता, बल्कि इसके लिए आवश्यक हैं कि देशीय पूँजी संसाधनों में भी लगातार वृद्धि हो। प्रस्तुत अध्याय में विदेशी पूँजी की आवश्यकता समझाने के पश्चात् भारत की विदेशी विनियोग नीति की विवेचना की गई हैं, तत्पश्चात् भारत में वर्ष 1991 से प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की प्रवृत्ति तथा देशानुसार निवेश स्वीकृतियाँ तथा वास्तविक प्रवाह की विवेचना की गई हैं। उदारीकरण के पश्चात् विदेशी निवेशकों के सामने लालकालीन बिछाने के बावजूद भी इस दिशा में बहुत अधिक आशाजनक परिणाम प्राप्त नहीं हुए हैं, इसलिए विदेशी निवेश संबंधी नीतियों का मूल्यांकन आवश्यक हो जाता हैं। प्रस्तुत अध्याय के अन्त में विदेशी निवेश संबंधी नीतियों का मूल्यांकन किया गया हैं।

5.3 विदेशी विनियोग की आवश्यकता :–

भारत जैसे अल्पविकसित देश में पूँजी की कमी रही हैं। विकास की गति तीव्र करने के लिए पूँजी की आवश्यकता में वृद्धि हुई हैं और चूंकि आय की वृद्धि के साथ बचत में तदनुरूप वृद्धि नहीं होती, इसलिए विदेशी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पूँजी इस कमी की पूर्ति कर सकती हैं। केवल विदेशी पूँजी की उपलब्धि से आर्थिक विकास संभव नहीं हो सकता। इसके लिए यह आवश्यक हैं कि विकास की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के साथ–साथ देशीय बचत में वृद्धि हो। संभव हैं कि अपेक्षाकृत विकसित देश अनिश्चितकाल के लिये अनुदान के रूप में साधनों का एक तरफा हस्तान्तरण पसन्द न करें और दूसरी और कम उन्नत देशों को भी विदेशी देनदारियों की संचयी वृद्धि उचित न जान पड़े, यदि किसी अवस्था में विकास कार्य में सफलता प्राप्त करनी हो तो पूँजी की आवश्यकताओं के मुकाबले देशीय बचत बढ़ानी चाहिए ताकि पूँजी का हस्तान्तरण हो सके।

इस प्रकार किसी अल्पविकसित देश के आर्थिक विकास को तीव्र करने में विदेशी पूँजी महत्वपूर्ण योगदान कर सकती हैं। किन्तु अन्ततः इस पूँजी को ब्याज सहित लौटाना पड़ता हैं और यही कारण हैं कि कोई भी देश जो आर्थिक विकास के लिए देशीय साधन जुटा सकता हैं, विदेशी पूँजी पर निर्भर नहीं रहना चाहता। विदेशी पूँजी के आगमन के परिणामस्वरूप विदेशी ऋण का बोझ बढ़ जाता हैं और इस कारण देश की विदेशी मुद्रा की भावी प्राप्ति ही मानों गिरवी रख दी जाती हैं। जिस अल्पविकसित देश का निर्यात कुछ ही वस्तुओं पर निर्भर हो जिसके आयात की माँग की आय–लोच अत्याधिक हो, वह देश बहुत अधिक मात्रा में विदेशी ऋण लेने का साहस नहीं कर सकता।

5.4 विदेशी निवेश नीति :–

1991 की औद्योगिक नीति में विदेशी निवेश को उदार बनाने का निर्णय किया गया। विदेशी निवेश संवर्धन बोर्ड (Foreign Investment Promotion Board) स्थापित किया गया ताकि स्वतः स्वीकृति के अधीन न आने वाले आवेदनों की स्वीकृति की प्रक्रिया त्वरित की जा सकें। 1992–93 के दौरान प्रत्यक्ष विदेशी निवेश ,पोर्टफोलियो निवेश ,अनिवासी भारतीयों द्वारा निवेश को प्रोत्साहित करने के लिये निम्नलिखित उपाय किये गयेः–

- उपभोक्ता वस्तु उद्योगों की अपेक्षा, 51 प्रतिशत इक्विटी तक विदेशी निवेश के लिए पहले से लागू लाभांश सन्तुलन शर्त लागू नहीं होगा।
- कुछ निर्धारित दिशा निर्देशों (Guidelines) के अधीन विदेशी इक्विटी वाली कम्पनियाँ अपनी इक्विटी को 51 प्रतिशत तक बढ़ा सकती हैं। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए भी तेल अन्वेषण, उत्पादन और शोधन तथा गैस के विपणन के क्षेत्र में अनुमति दी गयी।
- अनिवासी भारतीयों और उनके अधिपत्याधीन समुद्रपारीय निगमित निकायों को उच्च प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों में शत प्रतिशत इक्विटी तक निवेश करने की इजाजत दी गई। उन्हें अपनी पूँजी व आय के प्रत्यावर्तन की भी अनुमति होगी। अनिवासी भारतीयों को निर्यात गृहों, व्यापार गृहों, स्टार व्यापार गृहों, रूग्ण उद्योगों, होटलों, निर्यातोन्मुख इकाइयों, अस्पतालों, पर्यटन उद्योगों, वास्तविक जायदाद, आवास और आधारसंरचना ढ़ांचे में शत प्रतिशत तक निवेश की इजाजत दी गई हैं।
- भारत में 13 अप्रैल 1992 को विदेशी निवेशकों के संरक्षण के लिए बहुपक्षीय निवेश गारन्टी एजेन्सी प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किये गये।
- विदेशी मुद्रा विनिमय अधिनियम के उपबन्धों को जनवरी 1993 के एक अध्यादेश द्वारा उदार बनाया गया जिसके परिणामस्वरूप 40 प्रतिशत से अधिक विदेशी इक्विटी वाली कम्पनियों को पूर्णतः स्वामित्व वाली भारतीय कम्पनियों के बराबर समझा जाएगा।
- विदेशी कम्पनियों को 14 मई 1992 से देशी बिक्री के संबंध में अपने ट्रेड मार्क का प्रयोग करने की अनुमति दी गयी।
- जनवरी 1997 में इक्विटी की सीमा विदेशी निवेशकों के लिए बढ़ाकर 74 प्रतिशत और अनिवासी भारतीयों के लिए 100 प्रतिशत कर दी गयी।

अतः सरकार ने विदेशी निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए सभी प्रकार के प्रोत्साहन एवं आकर्षण दिए ताकि विदेशी निवेश बढ़ें। नीति में यह पलटाव नयी औद्योगिक नीति में विदेशी पूँजी के अन्तर्प्रवाह को सुगम बनाने के प्रस्ताव के अनुकूल ही था।

बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 : भारत में विदेशी विनिमय की आवश्यकता बताइये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

.....

.....

.....

प्रश्न 2 : विदेशी निवेश नीति 1991 की कोई दो विशेषताएं बताइये।

.....

.....

.....

5.4 भारतीय अर्थव्यवस्था में बढ़ता हुआ विदेशी सहयोग :–

आयोजन के प्रारम्भिक चरण में विदेशी पूँजी के प्रति राष्ट्रीय नीति ने विदेशी पूँजी की आवश्यकता को तो स्वीकार किया किन्तु इसे प्रभावी स्थान न देने का निर्णय किया गया। परिणामतः विदेशी पूँजी को अपनी इक्विटी 49 प्रतिशत की अधिकतम सीमा के भीतर ही रखने का निर्देश दिया गया और भारतीय सहभागी को अधिकांश भाग रखने की इजाजत दी गयी। अस्सी के दशक के दौरान सरकार ने विदेशी सहयोगों के प्रति अपनी नीति में ढ़ील दी। यह विशेषकर तेल निर्यातक विकासशील देशों के संदर्भ में किया गया और छूट का एक सुनिश्चित पैकेज तैयार किया गया जिसमें तकनालाजी हस्तांतरण (Technology Transfer) के साथ सम्बन्ध कायम किए बिना तेल निर्यातक विकासशील देशों के विनियोक्ताओं को नये उद्यमों में 40 प्रतिशत इक्विटी तक के निवेश की सुनिश्चित क्षेत्रों में इजाजत दी गयी तथा सरकार द्वारा निर्धारित शर्तों के ढ़ांचे के अन्तर्गत अनिवासी भारतीयों को भारतीय औद्योगिक इकाइयों में निर्धारित परियोजना में निवेश की इजाजत दी गयी।

इसके बाद जनवरी 1983 में तकनालाजी नीति वक्तव्य पेश किया गया। इस नीति का उद्देश्य आयातित तकनालाजी प्राप्त करना था और इस बात का विश्वास दिलाना था कि वह अद्यतन तकनालाजी हो और देश की आवश्यकताओं और संसाधनों के लिए उचित हो। लाइसेंस प्रणाली को उदार बनाने के लिए नीति सम्बन्धी बहुत से उपायों की घोषणा की गयी। तकनीकी सहयोगी निगमों को वित्तीय कसौटियों अर्थात् रायल्टी या एक मुश्त भुगतान या दोनों के सम्मिश्रण के आधार पर कार्य करने की इजाजत दी गयी और परिणामतः 1981–90 के दशक के दौरान स्वीकृतियों की संख्या 7,436 के रिकार्ड स्तर पर पहुंच गयी जिसमें 1,274 करोड़ रूपये का कुल निवेश भी अन्तनिर्हित था।

5.5.1 वास्तविक अन्तर्प्रवाह :–

1991 की औद्योगिक नीति की घोषणा के पश्चात् भारत में विदेशी पूँजी के अन्तर्प्रवाह मे तेजी आयी हैं। रिर्जव बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा उपलब्ध कराए गए आंकड़ों के अनुसार 1991–92 और 2005–2006 के दौरान कुल विदेशी निवेश के रूप में 106.3 अरब डालर प्राप्त किए गए जिसमें से 48.8 अरब डालर (45.9 प्रतिशत) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के रूप में थे और शेष 57.5 अरब डालर (54.1 प्रतिशत) पोर्टफोलियो निवेश के रूप में।

1991 से 2003 के दौरान प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (Direct Foreign Investment) के रूप में 2,90,854 करोड़ रूपये के कुल प्रस्तावों को स्वीकृति दी गयी जबकि इसके विरूद्ध पिछले पूरे दशक (1981–90) के दौरान केवल 1,274 करोड़ रूपये के विदेशी निवेश की स्वीकृति दी गयी। इसमें सन्देह नहीं कि इन सब प्रस्तावों को वास्तविक अन्तर्प्रवाहों (Actual inflows) का रूप धारण करने में समय लगता हैं परन्तु तालिका 2 में दिए गए आंकड़ों से पता चलता हैं कि 1997 तक वास्तविक प्रवाह कुल स्वीकृतियों के अनुपात के रूप में नीचे थे, परन्तु इसके पश्चात् परिस्थिति में सुधार हुआ हैं। 2002 के दौरान वास्तविक प्रवाह 21,286 करोड़ रूपये के शिखर स्तर पर पहुंच गये और यह एक सराहनीय उपलब्धि हैं।

1991 से विदेशी प्रत्यक्ष निवेश अर्न्तवाह : तालिका एक में वर्ष 1991 से वर्ष 2008 तक हुए विदेशी प्रत्यक्ष निवेश अर्न्तवाह को प्रदर्शित किया गया हैं।

तालिका एक : विदेशी प्रत्यक्ष निवेश अर्न्तवाह :

क्रम संख्या	वित्तिय वर्ष	विदेशी निवेश अर्न्तवाह	प्रतिशत परिवर्तन
1.	1991-2000	15,483	-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.	2000-01	4,029	-
3.	2001-02	6,130	(+)52 %
4.	2002-03	5,035	(-) 18%
4.	2003-04	4,322	(-) 14%
5.	2004-05	6,051	(+)40%
6.	2005-06	8,961	(+) 28%
7.	2006-07[1]	22,079	(+) 153%
8.	2007-08*	29,893	(+) 35%

स्त्रोत : इन्टरनेट

उपरोक्त सारणी में दिये गये समंकों से स्पष्ट हैं कि विदेशी निवेश अर्न्तवाह में 2004–05 से लगातार वृद्धि हो रही हैं। सबसे अधिक वृद्धि वर्ष 2006–07 में 153 प्रतिशत पायी गई। स्पष्ट हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेश का स्थान लगातार बढ़ता जा रहा हैं।

5.5.2 विदेशी प्रत्यक्ष निवेंश अर्न्तवाह का क्षेत्रानुसार वितरण :

तालिका 2 में वर्ष 2000 से 2008 के मध्य विभिन्न क्षेत्रों में प्रत्यक्ष निवेश अर्न्तवाह दिखाया गया हैं। सेवा क्षेत्र में सबसे अधिक विदेशी निवेश अर्न्तवाह हुआ हैं जो कि 20.87 प्रतिशत हैं।

तालिका दो : विदेशी प्रत्यक्ष निवेंश अर्न्तवाह का क्षेत्रानुसार वितरण :

क्रम संख्या	क्षेत्र	वर्ष 2000 से 2008 तक संचयी अर्न्तवाह (करोड़ रूपये में)	कुल अर्न्तवाह का प्रतिशत (रूपये में)
1.	सेवा क्षेत्र	66,625	20.87
2.	कम्प्यूटर साफ्टवेयर एवं हार्डवेयर	38,142	11.95
3.	दूर संचार	25,501	7.99
4.	निर्माण कार्य	20,657	6.47
5.	आवास एवं वास्तविक क्षेत्र	17,969	5.63
6.	ओटोमोबाईल उद्योग	12,392	3.88
7.	ऊर्जा	11,914	3.73
8.	धात्विक उद्योग	10,662	3.34
9.	पैट्रोलियम एवं नेचुरल गैस	9,131	2.86
10.	केमिकल्स	7,957	2.49

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्त्रोत : इन्टरनेट

5.5.3 देशानुसार निवेश स्वीकृतियां और वास्तविक प्रवाह :–

तालिका तीन में देशानुसार निवेश स्वीकृतियां तथा वास्तविक प्रवाह दिखाया गया हैं। मौरिशस का स्थान सबसे ऊपर हैं और इसके द्वारा वास्तविक प्रवाह स्वीकृतियों का 44 प्रतिशत था। इसके बाद हैं सिंगापुर (7.99 प्रतिशत), नीदरलैण्ड्स, स्विटजरलैण्ड, जर्मनी एवं सिंगापुर हैं। सं. रा. अमेरिका के बारे में स्थिति यह हैं कि वास्तविक प्रवाह स्वीकृतियों का केवल 7.88 प्रतिशत हैं अर्थात् इनमें बहुत बड़ा अन्तर विद्यमान हैं।

तालिका तीन : विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का देशानुसार वितरण

(वर्ष 2000 से 2008 तक)

क्रम संख्या	देश	विदेशी प्रत्यक्ष निवेश अर्न्तवाह में अंश	कुल का प्रतिशत (रूपये में)
1.	मौरिशस	140,425	44.00
2.	सिंगापुर	25,408	7.99
3.	सयुंक्त राज्य अमेरिका	25,147	7.88
4.	यू.के.	22,074	6.92
5.	निदरलैण्ड	15,010	4.7
6.	जापान	10,185	3.19
7.	जर्मनी	8,963	2.81
8.	साईप्रस	6,244	1.96
9.	फ्रांस	4,579	1.43
10.	संयुक्त अरब अमीरात	3,609	1.13

Source: Internet data

तालिका तीन में अप्रैल 2000 से सितम्बर 2008 के दौरान देशानुसार प्रत्यक्ष निवेश अर्न्तवाह दिखाया गया हैं। मौरिशस का स्थान सबसे ऊपर हैं (44 प्रतिशत) इसके उपरान्त सिंगापुर (7.99 प्रतिशत), सुयंक्त राज्य अमेरिका (7.88 प्रतिशत) का स्थान हैं।

बोध प्रश्न :

Q-1 FIPB का पूरा नाम बताइये।

.....

.....

.....

Q-2 वर्ष 2000 से 2008 के बीच किस क्षेत्र में सबसे अधिक विदेशी निवेश अर्न्तवाह हुआ। .....
.....

.....

.....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

Q-3 भारत में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश अर्न्तवाह में किस देश का सबसे अधिक हिस्सा रहा ?

.....

.....

.....

5.6 विदेशी निवेश सम्बन्धी नीतियों का मूल्यांकन :–

उदारीकरण के समर्थकों ने विदेशी सहयोगी निगमों द्वारा अधिकाधिक मात्रा में निवेश की स्वीकृति देने के पक्ष में मुख्यतः ये तर्क दिये हैं – विश्व के प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में भारत के भाग की तुलना जब चीन, ब्राजील, मैक्सिको आदि से की जाती हैं, तो यह पता चलता हैं कि भारत का भाग बहुत ही कम हैं। दूसरे, भारत में तकनालाजी हस्तांतरण तभी किया जा सकता हैं यदि तकनीकी दृष्टि से उन्नत देश बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम द्वारा अधिक प्रत्यक्ष निवेश करें। इन लाभों से तो आलोचक भी इंकार नहीं करते परन्तु वस्तुस्थिति यह हैं कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के कुछ पहलू ऐसे हैं जिनका प्रभाव जनकल्याण एवं राष्ट्रीय प्रभुसत्ता पर गंभीर रूप में पड़ता हैं। इन पहलूओं पर गंभीरता से विचार करना होगा।

विदेशी प्रत्यक्ष निवेश जो विकासशील देशों के लिए 1992 में 51.1 अरब यू.एस. डालर था बढ़कर 2004 में 233.2 अरब डालर हो गया। आंकडों से पता चलता हैं कि विदेशी प्रत्यक्ष निवेश में भारत का भाग जो 1992 में 0.5 प्रतिशत था बढ़ कर 2004 में 2.3 प्रतिशत हो गया। इसके विरूद्ध चीन का भाग जो 1992 में 21.8 प्रतिशत था उन्नत होकर 1995 में 34 प्रतिशत हो गया परन्तु 2004 में गिरकर 26 प्रतिशत हो गया। कुल रूप में चीन का भाग 606 अरब डालर था। भारत का भाग केवल 5.34 अरब डालर था।

कमियाँ :– विदेशी निवेशकों के सामने लालकालीन बिछाने के बावजूद, भारत विदेशी प्रत्यक्ष निवेश से अधिक लाभ प्राप्त नहीं कर पाया हैं।

- विदेशी निवेश का 53 प्रतिशत भाग पोर्टफोलियों निवेश (वित्तीय निवेश) के रूप में हैं जो केवल हिस्सों के सट्टा व्यापार को प्रोत्साहन देता हैं। विदेशी कम्पनियों को हिस्सा बाजार में व्यापार करने देने की स्वीकृति पर आलोचकों ने प्रश्न–चिन्ह लगाया हैं। इससे हिस्सा–बाजार में कृत्रिम तेजी उत्पन्न हुई हैं और 6 सितम्बर 1994 को बाम्बे स्टाक एक्सचेंज का सेवंदनशील सूचकांक 4,510 तक पहंच गया। पहले भी जब हिस्सा बाजार की तेजी का भंडाफोड़ हुआ, तो हिस्सा–बाजार धड़ाम से नीचे गिर गया और लाखों छोटे हिस्सेदार जो इस बाजार में शीघ्र मुनाफा कमाने के उद्देश्य से दाखिल हुए थे, को भारी नुकसान हुआ, परन्तु बड़े–बड़े हिस्सेदारों ने बाजार को अपने पक्ष में घुमा कर करोड़ों रूपये हथिया लिये। प्रतिभूति घोटाले में 5,000 करोड़ रूपये हथियाने का अनुमान हैं। आलोचकों का कहना हैं कि हम भले ही हिस्सा बाजार में तेजी पर अत्यधिक खुशी जाहिर करें परन्तु हम इस बात को ध्यान में नहीं रखते कि क्या हम ज्वालामुखी पर तो बैठे हुए हैं।

- प्रत्यक्ष विदेशी निवेश द्वारा उच्च मध्यम एवं समृद्ध वर्गों की आवश्यकताओं की तृष्टि की जा रही हैं और इस प्रकार इस निवेश का केन्द्र भारतीय अर्थव्यवस्था के 18 करोड़ उपभोक्ता हैं। इस दृष्टि से एक नयी उपभोक्ता संस्कृति पनप रही हैं जिसमें कोला, जैम, आइसक्रीम, तैयार खाद्यों और चिरस्थायी उपभोग वस्तुओं के उत्पादन पर बल दिया जा रहा हैं। परिणामतः मजदूरी वस्तु क्षेत्र की एकदम उपेक्षा की जा रही हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता हैं कि उत्पादन द्वारा जन कल्याण के लाभ की अपेक्षा उच्च वर्गों की तुच्छ आवश्यकताओं की तृष्टि की जा रही हैं।

- भारत में किया गया पोर्ट फोलियों निवेश एक प्रकार की क्षुब्ध मुद्रा (Hot money) हैं जो यदि बाजार से कोई प्रतिकूल संकेत मिलता हैं, तो फौरन पलायन कर सकती हैं। अतः पोर्टफोलियों निवेश को अपने विकास में एक स्थिर कारणतत्व मान लेना भूल होगी।

- प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के भारी अन्तर्प्रवाह से, विशेषकर वित्तीय क्षेत्र में, हमारे विदेशी मुद्रा रिर्जव बढ़ जाएंगे जिनके आधार पर देशीय मुद्रा–संभरण का विस्तार होगा। इस प्रक्रिया में कीमतों की स्फीतिकारी प्रवृत्ति को बल प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त देश में एक बहुत बढ़ गैर–बैंकिंग वित्तीय एवं अन्तर्वती क्षेत्र पनप रहा हैं जिसमें विदेशी वित्तीय कम्पनियां और पारस्परिक निधियां भी शामिल हो सकती हैं। यदि इस क्षेत्र का तेजी से विकास होता हैं जैसा कि भारत में हो रहा हैं, तो इसके परिणामस्वरूप रिर्जव बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा मौद्रिक प्रबन्ध का कोई भी कदम प्रभावहीन बन जाएगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

- बहुराष्ट्रीय निगम भारतीय कम्पनियों में प्रवेश के पश्चात् इनमें अपनी हिस्सा पूंजी बढ़ाती जाती हैं और इस प्रकार वे भारतीय कम्पनियों को निगलकर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेती हैं। इस प्रकार बहुत सी भारतीय कम्पनियों पर बहुराष्ट्रीय निगमों ने अपना कब्जा जमा लिया हैं और निगम क्षेत्र के भारतीयकरण की जो प्रक्रिया जवाहरलाल नेहरू ने आरम्भ की थी पूर्णतया पलट दी गयी हैं। इससे भारतीय नीजि क्षेत्र को भारी झटका मिला हैं। यही कारण हैं कि भारत के बड़ें उद्योगपतियों ने बाम्बे क्लब या अखिल भारतीय विनिर्माता संघ में सरकार की उन भेदभावपूर्ण नीतियों के खिलाफ आवाज उठायी जिनके द्वारा विदेशी पूंजी को देशी पूंजी की कीमत पर आकर्षित किया जा रहा हैं।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता हैं कि जहां बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा पूंजी अन्तर्प्रवाहों की इजाजत दी जानी चाहिए, परन्तु ऐसा भारतीय राष्ट्रीय हितों की कीमत पर करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। अतः सरकार को खुले द्वार की नीति को छोड़कर चयनात्मक नीति अपनानी चाहिए।

5.6 विदेशी विनियोग नीति का मूल्यांकन :–

विदेशी सहायता देश की उत्पादन क्षमता का किस सीमा तक विकास करने में सहायक हो सकती हैं, यह विदेशी सहायता के विवेकपूर्ण उपयोग तथा प्रापक देश के प्रयास और कुछ विनियोज्य साधनों पर निर्भर करता हैं। विदेशी सहायता बड़ें पैमाने पर विकास संभावनाएं भी उत्पन्न करती हैं। उपभोक्ता वस्तुओं के रूप में प्राप्त सहायता के परिणामस्वरूप पूंजी–निर्माण के लिए अन्तर्देशीय साधनों के मोचन में में सहायता मिल सकती हैं। अतः सहायता के प्रभाव का ठीक ठीक अनुमान लगाना कठिन हैं। फलतः हम देश की उत्पादन क्षमता की वृद्धि में विदेशी सहायता के योगदान के महत्व का विवेचन करेंगें।

- **विदेशी सहायता से निवेश का स्तर उन्नत करने में सहायता मिली हैं :–** पहली योजना के आरम्भ में वार्षिक निवेश दर राष्ट्रीय आय का 5 प्रतिशत थी किन्तु यह बढ़कर लगभग 25 प्रतिशत हो गई। निवेश में उक्त वृद्धि के साथ–साथ विदेशी मुद्रा के निवेश में भी वृद्धि करनी पड़ी जो देश के साधनों के सामर्थ्य से बाहर थी। 1972–73 से ही देश विदेशी मुद्रा के भीषण संकट का सामना कर रहा हैं। विदेशी सहायता के अभाव में देश के लिए उक्त संकट से पार हो सकना करीब–करीब असंभव था। किन्तु हाल ही के वर्षों में स्थिति में और सुधार हुआ हैं और 2005–06 विदेशी मुद्रा रिर्जव बढ़ कर 152 अरब डालर हो गए।

- **खाद्य कीमतों को स्थिर करने तथा कच्चे माल के आयात के लिए सहायता का उपयोग :–** प्रयुक्त कुल सहायता में से आधे से कुछ कम सहायता वस्तु या खाद्य के रूप में थी, जिसके अधिकांश भाग का उपयोग खाद्यान्न के आयात के लिए किया गया हैं। 1960–70 के दशक के दौरान, इस आयात में खाद्यान्न कीमतों को स्थिर करने में महत्वपूर्ण सहायता दी हैं और अकाल का सामना करने की क्षमता प्रदान की। सहयता का एक अंश कच्चे माल और अतिरिक्त पुर्जों के आयात के लिए जिनकी देश में कमी थी, प्रयुक्त किया गया हैं। इसके परिणामस्वरूप देश के उत्पादन में वृद्धि हुई हैं।

- **सिंचाई और बिजली क्षमता के विस्तार के लिए सहायता का उपयोग :–** देश की सिंचाई क्षमता का विस्तार करके विदेशी सहायता ने कृषि उत्पादन की वृद्धि में बहुत अधिक योगदान दिया। डेरी और मत्स्यपालन के क्षेत्र में उत्पादन तकनीकों के आधुनीकरण में विदेशी सहायता से लाभ हुआ हैं। विदेशी सहायता ने देश की बिजली क्षमता में भी काफी वृद्धि की हैं। यह सहायता विभिन्न स्त्रोतों से प्राप्त हुई हैं। इसके कारण हमारा देश मशीनों और उपकरणों का आयात कर सकता हैं जिनके प्रयोग से 1950–51 में 23 लाख किलोवाट की स्थापित क्षमता 2004–2005 तक बढ़कर 1,380 लाख किलोवाट हो गई।

- **परिवहन, विशेषकर रेलवे के विकास के लिए सहायता :–** कुल प्रयुक्त सहायता का काफी बड़ा भाग अर्थात् 14 प्रतिशत परिवहन के विकास पर व्यय हुआ जिसमें से अकेले रेलवे पर 12 प्रतिशत भाग व्यय किया गया। इसके कारण प्रारम्भिक वर्षों में रेल्वे परिवहन को पुनःस्थापित करने तथा रेल के डिब्बें में वृद्धि करने और वृद्धित परिवहन इंजनों की मरम्मत आदि में महत्वपूर्ण सहायता मिलती हैं।

- **इस्पात उद्योग के निर्माण के लिये सहायक का उपयोग :–** विदेशी सहायता ने देश में इस्पात जैसे उद्योग की उत्पादन क्षमता का निमार्ण करने का महत्वपूर्ण कार्य किया हैं। निर्माण उद्योग में प्रयुक्त विदेशी सहायता का 80 प्रतिशत से कुछ अधिक भाग इस्पात उद्योग की क्षमता के विस्तार और निर्माण पर व्यय हुआ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

- **तकनीकी साधनों के विकास के लिये सहायता का उपयोग :–** विदेशी निवेश के कारण विशेषज्ञ सेवाओं की व्यवस्था करने भारतीय कर्मचारियों को प्रशिक्षण देना तथा देश में नई शिक्षण तथा प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना में मदद मिली हैं।

हमारी विदेशी सहायता प्राप्त करने के संबंध में बहुत सी कठिनाईयां एवं सीमाएं भी हैं इनमें से मुख्य निम्न हैं :–

- **राजनैतिक दबाव :–** देश के इतिहास में कई ऐसे अवसर आये हैं जब भारत सरकार अपनी आर्थिक एवं राजनैतिक नीतियों में विदेशी दबाव के अधीन निर्णय करती रही हैं। अमरीकी दबाव के अधीन कई निर्णय किये गये। उदाहरणार्थ पूंजी वस्तुओं पर बल देने की अपेक्षा उपभोग वस्तुओं पर बल देना, औद्योगिक विस्तार के लिये गैर–सरकारी क्षेत्र पर अपेक्षाकृत अधिक विश्वास, सरकारी क्षेत्र में प्रस्तावित परियोजनाओं के लिए विदेशी सहायता की मनाही आदि।

- **विदेशी सहायता व अनिश्चितता की समस्या :–**वास्तविक कठिनाई एक अवधि के दौरान प्राप्त होने वाले विदेशी सहायता के स्वरूप और परिणाम की अनिश्चितता से उत्पन्न होती हैं। कुशल आयोजन के मार्ग में यह अनिश्चितता बाधक सिद्ध होती हैं।

- **विदेशी सहायता को उपयोग में लेने की समस्या :–** विकासशील देशों के सामने तीसरी समस्या विदेशी सहायता को उपयोग में लेने की क्षमता से संबंधित हैं। किसी देश की उपयोग क्षमता अनेक तत्वों पर निर्भर करती हैं। सहायता के अनुकूलतम उपयोग के लिये परियोजनाओं का कुशलतापूर्वक क्रियान्वयन आवश्यक हैं।

स्पष्ट हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और इसी प्रकार की दीर्घकालीन पूंजी अर्न्तप्रवाहों पर निर्भर रहना होगा ताकि यह विदेशी दबाव से बची रहे। ऐसा लगता हैं कि विदेशी विनियोग ही अर्थव्यवस्था का मूल आधार हैं।

5.7 सारांश

आर्थिक विकास के लिये अग्रसर सभी देशों को किसी न किसी सीमा तक विदेशी विनियोग पर निर्भर रहना पड़ता हैं । देशीय साधनों को प्रतिमान करने की सीमा, तकनीकी प्रगति की दृष्टि से देश की अर्थव्यवस्था की स्थिति तथा अन्य कई कारक विदेशी विनियोग को प्रभावित करते हैं। फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता की विदेशी पूंजी ने आर्थिक विकास और औद्योगिककरण में महत्वपूर्ण भाग अदा किया हैं। उपुर्यक्त अध्याय में हमने विदेशी विनियोग की आवश्यकता, भारत की विदेशी विनियोग नीति तथा भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेश अर्न्तप्रवाह का अध्ययन किया साथ ही विदेशी विनियोग के लाभ एवं सम्भावित समस्याओं का विवचन किया हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न :

निम्न प्रश्नों के उत्तर 500 शब्दों में दीजिए।

प्रश्न 1. विदेशी विनियोग की आवश्यकता तथा भारत की विदेशी विनियोग नीति 1991 की विवेचना कीजिये।

प्रश्न 2. वर्ष 1991 से 2008 तक भारत में हुए विदेशी निवेश अर्न्तवाह की व्याख्या कीजिए तथा विदेशी विनियोग के लाभ एवं सम्भावित हानियां बताइये।

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.4

उत्तर 1. देखिये 5.3

उत्तर 2. प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिये तेल अन्वेषण, उत्पादन और शोधन तथा गैस के विपणन के क्षेत्र में अनुमति दी गई।

5.6

उत्तर 1. विदेशी विनिमय संवर्द्धन बोर्ड (Foreign Investment Promotion Board)

उत्तर 2. सेवा क्षेत्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्तर 3. मौरिशस

5.9 शब्दावली

डेरी और मत्स्यपालन
खाद्यान्न कीमते
विदेशी विनियोग नीति
देशीय साधन
औद्योगिक विस्तार
बिजली क्षमता
अखिल भारतीय विनिर्माता संघ
सिंचाई और बिजली
विदेशी निवेश अर्न्तवाह
विदेशी पूंजी
विदेशी निवेश
इस्पात उद्योग
भीषण संकट
बहुराष्ट्रीय निगम

5.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

रूद्रदत्त सुन्दरम, भारतीय अर्थव्यवस्था
ए. एन. अग्रवाल, भारतीय अर्थव्यवस्था
इन्टरनेट

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई –6

भारत की निर्यात–आयात (एक्जिम) नीति

(Export Import Policy of India)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 भारत की निर्यात–आयात (एक्जिम) नीति

6.2.1 निर्यात–आयात नीति (1991 से पूर्व)

6.2.2 आयात–निर्यात नीति (1997–2002)

6.2.3 आयात–निर्यात नीति (2001–2002)

6.2.4 निर्यात–आयात नीति (2002–07)

6.2.5 नई विदेश व्यापार नीति (2004–2009)

6.3 सारांश

6.4 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.5 शब्दावली

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देश्य :– प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप –

(i) 1991 से पूर्व की भारत की निर्यात–आयात नीति की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे

(ii) 1991 के बाद की भारत की निर्यात–आयात नीति की प्रमुख विशेषताओं को समझ पायेंगे

(iii)1991 के बाद निर्यात–आयात नीति के सरलीकरण एवं उदारीकरण की दिशा में भारत के प्रयासों की जानकारी एवं औचित्य को समझ पायेंगें।

6.1 प्रस्तावना :–

निर्यात आयात नीति हैं जिसके द्वारा कोई देश अपने निर्यातों एवं आयातों को दिशा प्रदान करता हैं। यह नीति देश के संतुलित एवं तीव्र आर्थिक विकास के लिये महत्वपूर्ण होती हैं। भारत में निर्यात आयात नीति को विकासोन्मुख बनाने के लिये समय–समय पर बदलाव होता रहा हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नियोजन काल के प्रारम्भ के वर्षों में भारत ने आयातों में तेजी से हुई वृद्धि पर नियन्त्रण लगाने के लिये आयात–निर्यात नीति को प्रतिबन्धात्मक बनाये रखा। 1962 में मुदलियार समिति ने यह सुझाव दिया कि औद्योगिक विकास के लिये कच्चे माल एवं मशीनी–हिस्सों आदि के आयात की सुविधा बढ़नी चाहिए और इस सम्बन्ध में उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों को अधिमान देना चाहिए। 1965–66 तक प्रतिबन्धात्मक आयात नीति लागू रही लेकिन इसके पश्चात् 1966 में सरकार ने नई आयात नीति घोषित की और 59 प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों में आयात में उदारता की नीति अपनायी गयी। तीसरी योजना में निर्यात प्रोत्साहन की आवश्यकता को अनुभव करते हुए कुछ उपायों का उल्लेख किया गया जिसमें

(अ) घरेलू उपभोग कम कर निर्यात के लिये वस्तुएं बचाना,

(ब) निर्यात की सापेक्ष लाभकारिता बढ़ाना और

(स) औद्वोगिक लाइसेंस नीति में निर्यात की उन्नति के लिये सुधार करना, प्रमुख हैं।

मुदलियर समिति ने भी इस संदर्भ में कोई महत्वपूर्ण सिफारिशें की जिनमें कच्चे माल की अधिक उपलब्धता, निर्यात से प्राप्तियों पर आयकर की छूट, निर्यात से प्राप्त आय के विरूद्ध आयात लाइसेंस आदि प्रमुख थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1991 के बाद तो भारत की विदेश व्यापार नीति में उदारीकरण एवं सरलीकरण के अनेक कदम उठायें गये। रूपार उदारीकरण इस नीति के पीछे मूल भावना यह थी कि 1995 में स्थापित विश्व व्यापार संगठन के तहत उभर रही अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था को जोड़ने में कोई समस्या न होने पाये। वस्तुतः 1991 में शुरू किये गये इन व्यापक व्यापार सुधार एवं उदारीकरण प्रयासों ने भारतीय निर्यात आयात नीति को बाह्य उन्मुख नीति (Outward oriented policy) बना दिया। इसमें भारतीय उपभोक्ताओं के लिये उपभोग के क्षेत्र में चुनाव का दायरा राष्ट्रीय सीमाओं को लांघकर अन्तर्राष्ट्रीय बन गया हैं अब आवश्यकता इा बात की हैं कि उदारीकरण की इन नीतियों को पूरी सावधानी से लागू किया जावे और देश के उद्योगों को सम्भावित विदेशी प्रहारों से बचाया जावें। यह निर्यात विविधीकरण को प्रोत्साहन देकर किया जा सकता हैं।

6.2 भारत की निर्यात–आयात (एक्जिम) नीति :–

भारत की निर्यात–आयात नीति को स्पष्ट रूप से समझने के लिये आवश्यक हैं कि इसका दो समय अवधियों में अध्ययन किया जावें। पहली 1991 से पूर्व की समय अवधि तथा 1991 के बाद की समय अवधि।

6.2.1 निर्यात–आयात नीति (1991 से पूर्व) :–

अस्सी के दशक तक भारत की निर्यात नीति एवं आयात नीति का अलग–अलग स्वरूप था। निर्यात नीति के सन्दर्भ में पहली अवधि में तीन योजनाओं का काल आता हैं। इस अवधि में निर्यात निराशावादी दृष्टिकोण रहा। इस अवधि में निर्यात क्षेत्र की ओर उदासीनता का रवैया रहा, हालांकि तीसरी योजना में निर्यात बढ़ाने की दिशा में कुछ कदम उठाये गये थे। निर्यात नीति की दूसरी अवधि 1973 से प्रारम्भ हुई। इसका काल एक दशक तक रहा। इस समय में निर्यात प्रोत्साहन की ओर से अनेक कदम उठाये गये। आठवें दशक के उत्तरार्द्ध में निर्यात संवर्द्धन नीति को एक अलग नीति के रूप अपनाया गया। निर्यात नीति की तीसरी अवधि में निर्यात संवर्द्धन के प्रति अधिक सकरात्मक रवैया अपनाया गया। एक ओर तो निर्यात उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिये कई रियायतें व छूटें प्रदान की गई वहीं दूसरी ओर निर्यात नीतियों को औद्योगिक व विकास नीतियों का एक महत्वपूर्ण अंग मान लिया गया। 1991 से पूर्व निर्यात प्रोत्साहन के लिये किये गये कुछ प्रमुख प्रयास निम्नलिखित हैं :–

- आयात–पुर्नपूर्ति के लिये लाइसेंस के अन्तर्गत निर्यातकों को यह सुविधा प्रदान की गई थी कि वे उन आगतों का आयात कर सकते हैं जो देश में उपलब्ध नहीं हैं।
- शुल्क वापसी स्कीम के अन्तर्गत निर्यात वस्तुओं के आगतों पर आयात शुल्क की राशियां वापस करना।
- निर्यातों के लिए नकद क्षतिपूर्ति की सहायता देना इसे निर्यात सब्सिडी भी कहा गया हैं।
- निर्यातकों को ब्याज मुक्त बैंक कर्ज की व्यवस्था।
- निर्यात शुल्कों में कमी करना।
- निर्यात प्रोसेसिंग क्षेत्रों की स्थापना।
- निर्यातों के मुनाफों को आयकर अधिनियम की धारा 80 HHC में छूट दी गई।
- औद्योगिक लाइसेंस नीति कसे ब्रोड–बैण्डिंग की सुविधा देकर काफी उदार बनाया गया हैं।
- कृषकों उत्पादकों एवं निर्यातकों का सक्रिय सहयोग लेने के लिये निर्यात–संवर्द्धन परिषदों का गठन किया गया।

आयात नीति के सन्दर्भ में भारत की विदेशी व्यापार की नीति को देखे तो हम पाते हैं कि नियोजन की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने के बाद 1956–57 से कठोर आयात प्रतिबन्धात्मक नीति की शुरूआत हुई और जैसे–जैसे विदेशी मुद्रा का संकट गम्भीर होता गया सरकार और अधिक वस्तुओं पर आयात प्रतिबन्ध लगाती गई। आयात प्रतिबन्ध की यह नीति पूरे दो दशक तक लागू रही। पहली योजना में आयात नियंत्रण कम थे दूसरी में आयात नियंत्रण बढ़ा दिये गये तथा तीसरी में इसे थोड़ा कम किया गया। 1977–78 से आयात नीति में उदारवाद का नया दौर शुरू हुआ। आयात उदारवाद के क्षेत्र में प्रभावी कदम 1985 में उठाये गये जब आयात–निर्यात नीतियों की घोषणा का क्रम जारी हुआ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अस्सी के दशक तक सरकार की आयात नीति का आयात प्रतिबन्ध तथा आयात प्रतिस्थापन दो बिन्दुओं पर ही ध्यान केन्द्रित था। आयात प्रतिस्थापन के सन्दर्भ आयात नीति ध्यान दे तो स्पष्ट हो जाता हैं कि प्रारम्भ में आयात प्रतिस्थापन मुख्यतः उपभोक्ता वस्तुओं तक सीमित था परन्तु इसके उपरान्त पूंजीगत वस्तुओं के घरेलू उत्पादन पर जोर दिया जाने लगा और अन्ततः आयातित प्रौद्योगिकी के स्थान पर घरेलू प्रौद्योगिकी के विकास पर जोर दिया गया। हालांकि भारत में विदेशी विनिमय के अभाव और अनिश्चित विदेशी सहायता के कारण आयात–प्रतिस्थापन की आवश्यकता लगातार बनी रही परन्तु शीघ्र ही इसकी समस्याएं भी सामने आने लगी। भारत में आयात प्रतिस्थापन काफी महंगा रहा हैं।

विश्व बैंक की वर्ल्ड डवलपमेन्ट रिपोर्ट 1987 में इस नीति के सन्दर्भ में किये गये विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ कि आयात प्रतिस्थापन के स्थान पर निर्यात संवर्द्धन नीति का पालन करना विकासशील देशों के लिये श्रेष्ठकर होता हैं। वर्ष 1988–91 की अवधि के लिये जो त्रिवार्षिक आयात–निर्यात नीति घोषित की गई वह न तो अधिक उदार थी तथा न ही प्रतिबन्धात्मक। इसका प्रमुख उद्देश्य औद्योगिक उत्पादन व निर्यात बढ़ाना तथा कार्यकुशल आयात प्रतिस्थापन को प्रोत्साहन देना रहा। इससे निर्यात संवर्द्धन एवं आयात प्रतिस्थापन दोनों के बीच एक उचित सन्तुलन एवं सामजस्य स्थापित हो सका।

6.2.2 आयात–निर्यात नीति (1997–2002) :–

2001–2002 के लिए 31 मार्च 2001 को घोषित आयात–निर्यात नीति में पुनः संशोधन किये गये। ये संशोधन एवं सुधार उस समय की तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किये गये। वर्ष 1998–99 में देश के निर्यातों की वृद्धि दर पिछले वर्ष की तुलना में ऋणात्मक हो गई थी अर्थात् पिछले वर्ष की तुलना में निर्यात घट गये थे। इसलिये निर्यात संवर्द्धन की दिशा में विशेष प्रयास किये गये।

संशोधित एक्जिम नीति में 2000–01 में निर्यात की वृद्धि का लक्ष्य 20 प्रतिशत रखा गया। चीन की तर्ज पर दो विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZs) स्थापित करने की घोषणा की गई। एक विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZ) पेसितरा (गुजरात) एवं दूसरा विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZ) नानगुनेरी (तमिलनाडु) में खोलने का प्रस्ताव रखा गया। यह भी घोषणा की गई कि सरकार शीघ्र ही वर्तमान में चल रहे निर्यात प्रोसेसिंग क्षेत्रों (EPZs) को विशेष आर्थिक क्षेत्र (SPZ) में बदल देगी। निर्यात प्रोत्साहन स्कीमों को अधिक सरल बनाने के लिये निर्यात प्रोत्साहन पूंजीगत माल की स्कीम को सभी क्षेत्रों व सभी पूंजीगत माल तक फैला दिया गया। निर्यात पूर्व शुल्क पात्रता पास बुक (DEPB) स्कीम समाप्त कर दी गई तथा निर्यात पश्चात की शुल्क पात्रता पास बुक स्कीम को अधिक युक्ति संगत बनाया गया। निर्यातकों को शीघ्र लाइसेन्स की सुविधा मिल सकें इसके लिए इलेक्ट्रोनिक वाणिज्य (e-commerce) को प्रोत्साहन दिया गया। रत्न व जवाहरात, रेशम, चमड़ा, दस्तकारी का माल व गारमेन्ट, दवाईयां आदि वस्तुओं के निर्यात हेतु प्रोत्साहन देने के लिये विशेष उपाय किये गये। 714 टेरिफ लाईनों से मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटा दिये गये।

6.2.3 आयात–निर्यात नीति (2001–2002) :–

2001–2002 के लिए 31 मार्च 2001 को घोषित आयात–निर्यात नीति के लिए आयात उदारीकरण एवं निर्यात संवर्द्धन दोनों पर जोर दिया गया। इस नीति में एक ही झटके में शेष सभी मदों पर से मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटा दिये गये और यह संकेत दिया कि भारतीय उत्पादकों को जब अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादकों की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ेगा। कृषि–निर्यात को बढ़ावा देने हेतु कृषि–आर्थिक क्षेत्र गठित किये गये फर्म उत्पाद का आयात केवल सरकार द्वारा मनोनीत सरकारी एजेन्सियों द्वारा ही किया जावेगा। 715 मदों पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटा लिये गये और इन वस्तुओं को निरंकुश आयात के लिये खोल दिया गया। यदि कोई विदेशी उपक्रम अनुचित व्यापार व्यहार का उपयोग करता हैं तो ठम्पिंग विरोधी शुल्क लगा दिया जावेगा। स्पेशल आर्थिक क्षेत्रों में निवेश बढ़ाने के उपाय सुझाये गये। SEZ's का विकास करने वाले आयकर उत्पाद शुल्क व सीमा शुल्क से छूट दी गई। निर्यात बढ़ाने के लिये राज्यों के सहयोग पर बल दिया गया। उद्योगों को अनुसंधान व विकास के लिए सरकारी सहायता प्रदान करने हेतु बाजार–पहुंच–प्रेरणा–कोष की स्थापना की जावेगी।

6.2.4 निर्यात–आयात नीति (2002–07) :–

31 मार्च 2002 को निर्यात–आयात नीति (2002–07) की घोषणा हुई। यह नीति पांच वर्ष की अवधि के लिए बनाई गई। देश में निर्यात को बढ़ावा देने के लिए इस नीति में भारत को विश्व व्यापार में 2007 तक अपनी हिस्सेदारी 1 प्रतिशत करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। यह नीति मुख्य रूप से निर्यात संवर्द्धन पर केन्द्रित थी। इस नीति के मुख्य बिन्दु निम्न प्रकार हैं :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. कृषिगत क्षेत्र में निर्यात बढ़ाने के लिए 20 कृषिगत निर्यात क्षेत्र स्वीकृत किये गये इसमें भारतीय कृषकों को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रवेश बढ़ेगा। कृषिगत पदार्थों (जैसे गेहूं, चावल, फल, फूल, सब्जियां आदि) के निर्यात के लिए परिवहन सहायता (Transport Subsidy) देने की घोषणा की गई।

2. रफ डायमण्ड (खरड़) के आयात पर से सीमा शुल्क समाप्त कर दिया गया।

3. विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना के साथ–साथ इनके विकास हेतु संविधाएं प्रदान की गई। विशेष आर्थिक क्षेत्रों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धा बनाने के लिए इन क्षेत्रों पर भारतीय बैंकों की विदेशी शाखाएं खोलने की इजाजत दी गई। ये नकद रिर्जव अनुपात व वैधानिक तरलता अनुपात से मुक्त होगी।

4. अग्रिम लाइसेंस के सम्बन्ध में शुल्क छूट अर्हता प्रमाण पत्र (Duty Exemption Entitlement Certificate) स्कीम को समाप्त कर दिया गया। परन्तु शुल्क अर्हता पास बुक स्कीम (Duty Entitlement Pass Book Scheme) को जारी रखा।

5. निर्यात संवर्द्धन पूंजी वस्तु स्कीम के लिए 12 वर्ष की निर्यात–दायित्व अवधि अनिवार्य होगी। जिसमें 5 वर्षों की कर छूट अवधि शामिल हैं।

6. इलेक्ट्रोनिक हार्डवेयर के लिए नई प्रेरणा प्रदान करने हेतु इलेक्ट्रानिक हार्डवेयर टेक्नोलोजी पार्क स्कीम में संशोधन कर सुविधाएं प्रदान की गई EHTP के कोई निर्यात दायित्व नहीं होगा। केवल (Net Foreign Exchange in the Preceding Period (NFEP)) पांच के लिए उनात्मक होना चाहिए।

7. कुटीर एवं लघु उद्योगों के अधिकाधिक माल को निर्यात के लिए जोड़ा गया।

8. दक्षिण अफ्रिका लेटिन अमेरिका देश व सी.आई.एस. को 5 करोड़ रूपये का वार्षिक निर्यात करने पर किसी भी निर्यातक इकाई को निर्यात घराने का स्टेटस प्रदान किया जा सकता हैं।

उपरोक्त बिन्दुओं के विषलेशण से स्पष्ट हो जाता हैं कि नीति में निर्यात बढ़ाने के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाया गया हैं परन्तु अभी भी आधारभूत ढ़ांचे में सुधार, उत्पादन लागत की कमी एवं वस्तुओं की गुणवता में सुधार हेतु आवश्यक कदम उठाने की आवश्यकता हैं।

6.2.5 नई विदेशी व्यापार नीति (2004–2009) :–

31 अगस्त 2004 को नई विदेशी व्यापार नीति (2004–2009) घोषित की गई। पहले यह नीति निर्यात–आयात नीति के नाम से जानी जाती थी। यह यू.पी.ए. सरकार की प्रथम विदेश व्यापार नीति हैं। अगले 5 वर्षों में विश्व के वस्तु बाजार में भारत का अंश दुगना सुस्थिर आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करना, बढ़ते वैश्विक बाजार अवसरों का लाभ उठाना, भारतीय अर्थव्यवस्था को खुली अर्थव्यवस्था की ओर अग्रसर करना, आधारभूत संरचना को मजबूत करना, विश्वास एवं पारदर्शिता का वातावरण बनाना, कार्यविधि को सरल बनाना, कारोबारी लागत को कम करना एवं रोजगार सृजन पर जोर देना इस नीति के मुख्य उद्देश्य हैं। इस नीति में दिये गये कुछ मुख्य बिन्दु निम्न प्रकार हैं :–

1. कृषि क्षेत्र के लिए विशेष कृषि उपज योजना जारी की गई। इस योजना के तहत फलों, फूलों एवं सब्जियों आदि के निर्यात को लेकर मुक्त ऋण प्रदान किया जावेगा जो कि इनके निर्यात का 5 प्रतिशत होगा।

2. स्वर्ण एवं प्लेटिनम को छोड़कर अन्य धातुओं के लिए निर्यात के 2 प्रतिशत मूल्य तक शुल्क मुक्त आयात की छूट देकर रत्न एवं आभूषण क्षेत्र में निर्यात को प्रोत्साहन दिया गया।

3. कृषि के लिए निर्यात–प्रोत्साहन–पूंजीगत माल EPCG स्कीम के तहत पूंजीगत माल का आयात शुल्क मुक्त होगा।

4. एक नया दस्तकारी स्पेशल आर्थिक जोन स्थापित किया जावेगा। हस्तशिल्प एवं हाथकरघा के लिए शुल्क मुक्त आयात को निर्यात के मूल्य का 5 प्रतिशत कर दिया गया। इसके अतिरिक्त चमड़ा उद्योग के लिए शुल्क मुक्त आयात की सीमा बढ़ाकर निर्यात के मूल्य की 3 प्रतिशत कर दी गई।

5. सेवा क्षेत्र में सेवाओं का निर्यात बढ़ाने के लिए भारत में सेवा–प्रद (Served from India) योजना चालू की गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6. एक स्वतंत्र सेवा निर्यात प्रोत्साहन परिषद की स्थापना की जावेगी जो प्रमुख बाजारों में प्रमुख सेवाओं का विस्तार करेगी।

7. स्टार निर्यात घरानों को स्टेटस देने की शर्तों में बदलाव किया गया अब गत तीन वर्षों से 15 करोड़ का निर्यात करने वाले घराने को को एक स्टार 100 करोड़ का निर्यात करने वाले घराने को दो स्टार 500 करोड़ का निर्यात करने पर तीन स्टार 1000 करोड़ का निर्यात करने पर चार स्टार 5000 करोड़ का निर्यात करने पर पांच स्टार की स्टेटस दी जावेगी। स्टार निर्यात घरानों को बहुत से विशेषाधिकार दिये गये। इनके प्रोजेक्टरों को तेजी से स्वीकृत, बैंक गारंटी देने में छूट तथा लक्ष्य–प्लस स्कीम आदि प्रमुख दिये हैं।

8. मुक्त व्यापार व वेयर हाउसिंग जोन स्थापित करने की नई योजना प्रारम्भ की जावेगी। ताकि विदेशी व्यापार सम्बन्धी आधार संरचना का विकास किया जा सकें। इन वेयर हाउसिंग जोन्स में 100 प्रतिशत प्रत्यक्ष निवेश की इजाजत होगी। इसके अतिरिक्त इन क्षेत्रों को विशेष निर्यात क्षेत्र वाले सभी लाभ भी मिलेंगे।

9. पुराने पूंजीगत माल के आयात के लिए इनकी आयु का कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा।

10. निर्यात–उन्मुख इकाईयों द्वारा सेवाओं और वस्तुओं के निर्यात को सेवा कर से मुक्त रखा जावेगा। इन्हें अपनी निर्यात आय को विदेशी मुद्रा अर्जित खातों में रखने की अनुमति होगी।

11. निर्यात कारोबार के लिए इलेक्ट्रोनिक डेटा इन्टरचेंज समयबद्ध रूप से चालू किया जावेगा।

12. देश में जैव प्रौद्योगिक पार्क बनाये जायेंगे।

13. प्रगति मैदान में विश्व स्तर का एक बड़ा कन्वेन्शन सेन्टर बनाया जावेगा।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हैं कि यह नीति विदेश व्यापार को आर्थिक क्रियाओं से जोड़ने का ठोस कदम हैं। यह न केवल निर्यात संवर्द्धन पर ही जोर देती हैं अपितु भारत के निर्यातों को प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति भी प्रदान करती हैं। स्वतंत्र व्यापार एवं भणडारण क्षेत्र की स्थापना द्वारा विदेशी व्यापार क्षेत्र में आधार संरचना उन्न करना भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को आकृष्ट करेगा। पारम्परिक क्षेत्रों जैसे – कृषि, हस्तशिल्प, हथकरघा, चमड़ा और रत्न आभूषणों को निर्यात प्रोत्साहन देने से रोजगार के अवसर बढ़ेंगे।

बोध प्रश्न

प्रश्न 1 : 1991 के पूर्व भारत की निर्यात–आयात नीति कोई दो प्रमुख विशेषताएं बताइये।

.....

.....

.....

प्रश्न 2 : भारत की निर्यात–आयात नीति (1997–2002) की प्रमुख विशेषताएं बतलाइये।

.....

.....

.....

प्रश्न 3 : भारत की निर्यात–आयात नीति (2002–2007) में निर्यात संवर्द्धन हेतु किये गये प्रयासों का वर्णन कीजिये।

.....

.....

.....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रश्न 4 : भारत की आयात एवं निर्यात के सम्बन्ध में विदेश व्यापार नीति (2004–2009) के प्रमुख बिन्दुओं को बतलाइयें।

.....

.....

.....

6.3 सारांश :–

किसी देश की निर्यात–आयात नीति उस देश के निर्यात एवं आयात को सही दिशा प्रदान करने के सम्बन्ध में अपनायें गये दृष्टिकोण को बतलाती हैं। आठवें दशक तक भारत की आयात नीति के दो महत्वपूर्ण पहले थे 1. आयात प्रतिबन्ध तथा 2. निर्यात प्रतिस्थापन।

आयात प्रतिबन्धात्मक नीति की शुरूआत 1956–57 से हुई क्योंकि इस समय देश पर विदेशी मुद्रा का संकट बढ़ गया था। निर्यात प्रतिस्थापन के पीछे मूल भावना यह थी कि विदेशी मुद्रा की बचत की जा सकें तथा आत्म निर्भरता प्राप्त की जा सकें। 1977–78 तक भारत की आयात नीति में आयातों पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में कभी कठोरता तो कभी उदारता की नीति अपनायी गयी। परन्तु इसके बाद आयात–नीति में आयात उदारवाद के नया दौर शुरू हुआ। 1985 में आयातों को उदार बनाने हेतु अनेक प्रभावी कदम उठाये गये और 1991 के बाद तो विदेशी व्यापार को काफी सीमा तक स्वतंत्र नियन्त्रण मुक्त करने पर जोर दिया गया और निर्यात–आयात में इस दिशा में ठोस प्रयास किये जाते रहें।

भारत की निर्यात से सम्बन्धित नीति पर ध्यान दे तो स्पष्ट होता हैं कि 1952 से 1966 तक निर्यात क्षेत्र की ओर उदासीनता का रवैया रहा परन्तु इसके बाद निर्यात प्रोत्साहन हेतु अनेक कदम उठाये गयें 1973 के बाद तो निर्यात प्रोत्साहन को भारत की विदेश व्यापार नीति में उच्च प्राथमिकता दी जाने लगी। निर्यात नीति में निर्यात प्रोत्साहन हेतु न केवल अनेकों छूट प्रदान की गई अपितु इस नीति को औद्योगिक नीति का अंग बना लिया गया। 1991 के उपरान्त तो विदेश व्यापार नीति के सरलीकरण एवं उदारीकरण का नया दौर प्रारम्भ हो गया और निर्यात संवर्द्धन प्रत्येक निर्यात–आयात नीति का प्रमुख उद्देश्य बन गया।

1991 के बाद भारत की भारत की निर्यात–आयात नीति (1992–97) निर्यात–आयात नीति (1997–2002) निर्यात आयात नीति (2002–2007) तथा नई विदेश व्यापार नीति (2004–2009) घोषित हुई। इन सभी नीतियों का मुख्य उद्देश्य भारत में निर्यातों को तेजी से बढ़ाने के साथ–साथ निर्यात एवं आयात को सही दिशा प्रदान करना भी रहा जिससे कि भारतीय अर्थव्यवस्था वैश्वीकरण के दौर में प्रतिस्पर्धात्मक अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में टिक कर आर्थिक विकास के मार्ग पर द्रुतगति से आगे बढ़ सकें। निर्यात–आयात नीति (1992–97) में उदारीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ानें की दिशा में अनेक प्रभावी कदम उठाये गये। निर्यात–आयात नीति (1997–2002) ने एक ओर तो उदारीकरण की इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाया वहीं दूसरी ओर भारतीय कृषि, उद्योग एवं सेवा क्षेत्र में तकनीकी क्षमता बढ़ाने के लिए भी प्रयास किये। निर्यात–आयात नीति (2002–2007) में निर्यात संवर्द्धन पर विशेष रूपा से बल दिया जिससे भारत विश्व व्यापार में अपनी हिस्सेदारी को बढ़ा कर 2007 तक 1 प्रतिशत कर सकें।

नई विदेश व्यापार नीति (2004–2009) जो पूर्व में निर्यात–आयात नीति के नाम से जानी जाती थी का मुख्य उद्देश्य विश्व के वस्तुओं के व्यापार में अगले पांच वर्षों में भारत का हिस्सा दुगना करना रखा गया। इस नीति में निर्यात संवर्द्धन हेतु आधारभूत संरचना पर जोर दिया गया हैं तथा रोजगार सृजन हेतु भी अनेक प्रयास किये गये हैं। हालांकि नीति के उद्देश्य श्रेष्ठ हैं परन्तु इसकी सफलता की मात्रा कार्यनवयन की गुणवता पर निर्भर करती हैं।

6.4 बोध प्रश्नों के उत्तर :–

6.5

उत्तर 1. देखिये 6.2.1

उत्तर 2. देखिये 6.2.2

उत्तर 3. देखिये 6.2.4

उत्तर 4 देखिये 6.2.5

6.5 शब्दावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निर्यात संवर्द्धन (Export Promotion)

वह प्रक्रिया जिसमें पुराने निर्यातकों तथा नये व्यक्तियों को निर्यात में वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता हैं।

मुक्त व्यापार क्षेत्र (Free Trade Zone)

वह क्षेत्र जिसमें विदेशी व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

आयात प्रतिस्थापन (Import Substitution)

वह प्रक्रिया जिसमें विदेश से आयात की जाने वाली वस्तुओं के स्थान पर इनकी कोई निकट स्थानापन्न को देश में ही उत्पादित किया जाता हैं।

परिपोषक आयात (Maintenance Imports)

ऐसा आयात जो देश में स्थापित उत्पादन क्षमता को पूरा प्रयोग करने के लिये किया जाता हैं।

6.6 **सन्दर्भ ग्रन्थ :–**

अग्रवाल ए.एन. : भारतीय अर्थव्यवस्था,

दत्त रूद्र एव ंके.पी.एम. सुन्दर : भारतीय अर्थव्यवस्था, एस. चाँद एण्ड कम्पनी

नाथूराम का एल.एन. : भारतीय अर्थव्यवस्था

Economic Survey : Government of India

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई –7

अवमूल्यन (Devaluation)

7.0 इकाई की रूपरेखा

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3 अवमूल्यन का अर्थ

7.4 अवमूल्यन के उद्देश्य

7.5 अवमूल्यन की सफलता की शर्तें

7.6 अवमूल्यन के दोष

7.7 सारांश

7.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.9 संदर्भ ग्रंथ

7.1 उद्देश्य :– प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप जान पायेंगें कि –

1. अवमूल्यन का अर्थ क्या हैं ?
2. अवमूल्यन के उद्देश्य क्या–क्या हो सकते हैं ?
3. अवमूल्यन की सफलता की शर्ते. क्या हैं ?
4. अवमूल्यन की सीमाएं क्या हैं ?

7.2 प्रस्तावना :–

प्रत्येक देश की विनिमय दर वहां की तथा उसके साथ आर्थिक संबंध रखने वाले देशों की आर्थिक वित्तीय तथा मौद्रिक नीतियों पर निर्भर करती हैं। प्रत्येक देश अपनी मुद्रा के लिए एक उपयुक्त विनिमय दर निर्धारित करता हैं। सरकार द्वारा निर्धारित की गई विनिमय दर स्वतंत्र बाजार की सामान्य दर से ऊँची भी हो सकती हैं और नीची भी। देश की मुद्रा के बाह्य मुल्य को कम करना अवमूल्यन कहलाता हैं। प्रस्तुत अध्याय में अवमूल्यन का अर्थ एवं उद्देश्यों की विवेचना की गई हैं। अवमूल्यन नीति की सफलता की भी कुछ शर्ते हैं जैसे – देश की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का वातावरण आदि होना आवश्यक हैं। अवमूल्यन के कुछ दोष भी हैं जैसे – व्यापार की शर्ते प्रतिकूल होना, आन्तरिक कीमत स्तर में वृद्धि आदि। अवमूल्यन के दोषों का विवेचन भी प्रस्तुत अध्याय में किया गया हैं।

7.3 अवमूल्यन का अर्थ :–

अवमूल्यन से अभिप्राय देश की मुद्रा का बाह्य–मूल्य (अर्थात विदेशी मुद्राओं में मूल्य) एक विचार युक्त नीति के अन्तर्गत जानबूझकर कम कर देना होता हैं। इसके परिणामस्वरूप देश की मुद्रा की क्रय–शक्ति विदेशी मुद्राओं के रूप में कम हो जाती हैं। पॉल ऐनजिंग के अनुसार ''मुद्राओं की अधिकृत समताओं में कमी करना अवमूल्यन हैं।'' सरल शब्दों में, जब कोई देश अपनी मुद्रा के बदले दूसरे देशों की मुद्राएं पहले से कम लेने के लिए तैयार हो जाता हैं, तो उसको मुद्रा का अवमूल्यन कहते हैं।

7.4 अवमूल्यन के उद्देश्य :–

अवमूल्यन देश की अर्थव्यवस्था में आधारभूत असन्तुलन (fundamental disequilibrium) का द्योतक हैं। मुद्रा अवमूल्यन का मुख्य उद्देश्य भुगतान सन्तुलन की दीर्घकालीन प्रतिकूल असाम्यता में सुधार करना होता हैं। अवमूल्यन करने वाले देश की वस्तुएँ विदेशों में सस्ती हो जाती हैं जिससे निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता हैं। दूसरी और आयात महँगे हो जाते हैं और हतोत्साहित होते हैं। निर्यात में वृद्धि तथा आयात में कमी सन्तुलन की मौद्रिक विषमता को दूर करने में सहायक होती हैं। अवमूल्यन का उद्देश्य न केवल व्यापार–सन्तुलन में सुधार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करना होता हैं, अपितु इसके द्वारा विदेशी पूँजी तथा ऋणों को भी आकर्षित करना होता हैं। अवमूल्यन का उद्देश्य देश में आर्थिक विकास, अर्थात् विनियोग व उत्पादन में वृद्धि को भी प्रोत्साहित करना होता हैं। साधारणतया अवमूल्यन इन दशाओं में किया जाता हैं :–

1. जब किसी देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य व बाह्य मूल्य में अन्तर होता हैं अथवा देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य अधिक होता हैं, तो व्यापार–सन्तुलन देश के विपरित होने लगता हैं। मूल्य का अवमूल्यन करके इस स्थिति की सुधारा जा सकता हैं।
2. मुद्रा के बाह्य तथा आन्तरिक मूल्य में कोई अन्य अन्तर न होने पर भी कोई देश अपने निर्यात बढ़ाने तथा आयात कम करने के उद्देश्य से अवमूल्यन कर सकता हैं।
3. मुद्रा–संकुचन की स्थिति में जब देश में माँग की कमी के कारण कीमतें गिरने लगती हैं तो अवमूल्यन के द्वारा देश के माल की विदेशों में माँग बढ़ायी जा सकती हैं, और देश में कीमत स्तर ऊँचा उठाया जा सकता हैं।
4. कुरीहारा के शब्दों में, ''जब कोई देश मुद्रा–संकुचन नहीं करना चाहता और स्थिर विनिमय–दरों के लाभ से भी वंचित नहीं होना चाहता तो वह अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर सकता हैं।
5. जब कोई दूसरा देश अपनी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं का मूल्य गिरा देता हैं अथवा राशिपातन (dumping) की नीति अपनाता हैं तो उसके हानिकारक प्रभाव से बचने हेतु अवमूल्यन करना आवश्यक हो जाता हैं।
6. जब दो देशों के बीच घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध होते हैं तो एक देश द्वारा अवमूल्यन करने पर दूसरा देश भी ऐसा करने के लिए बाध्य हो जाता हैं।
7. विदेशी ऋण प्राप्त करने के उद्देश्य से भी अवमूल्यन का सहारा लिया जा सकता हैं।

बोध प्रश्न :

प्रश्न 1. अवमूल्यन का क्या अर्थ हैं ?

.....

.....

.....

प्रश्न 2. अवमूल्यन के कोई दो उद्देश्य बताइये।

.....

.....

.....

.7.5 अवमूल्यन की सफलता की शर्तें :–

अवमूल्यन कोई ऐसा साधन अथवा नीति नहीं हैं जिससे कि भुगतान–सन्तुलन के घाटे को सदा के लिए समाप्त किया जा सके। अवमूल्यन के अनुकूल प्रभाव अस्थायी होते हैं जो कुछ समय पश्चात् समाप्त हो जाते हैं। साधारणतया अवमूल्यन के कुछ समय बाद ही लागत कीमत संरचनाएँ (cost-price structures) आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही बाजारों में अपने आप को नयी विनिमय–समता के अनुरूप ढ़ाल लेती हैं। इस सन्तुल एवं समायोजन में फिर जैसे ही विषमताएँ उत्पन्न होने लगती हैं, अवमूल्यन का अनुकूल प्रभाव समाप्त हो जाता हैं। सामान्यतः अवमूल्यन के लाभदायक प्रभाव दो अथवा तीन वर्ष तक ही विद्यमान रह पाते हैं। अवमूल्यन के द्वारा उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित शर्तों का पूरा होना आवश्यक हैं :–

1. लागत–कीमत संरचना पर अवमूल्यन की प्रतिक्रिया प्रतिकूल नहीं होनी चाहिए।

यह तो निश्चित हैं कि यदि आन्तरिक अर्थव्यवस्था को अनियन्त्रित छोड़ दिया जाय तो अवमूल्यन के पश्चात् कीमतें तथा लागतें बढ़ने की सम्भावना होगी। यदि अवमूल्यन के उपरान्त कीमतों में वृद्धि होती हैं तो देश के निर्यात में वृद्धि होने की सम्भावना कम हो जाती हैं, आयातों की माँग में भी वांछित मात्रा में कमी नहीं हो पाती और भुगतान–सन्तुलन में घाटे की समस्या अवमूल्यन के पश्चात् भी बनी रहती हैं। अवमूल्यन की सफलता के लिये यह आवश्यक हैं कि अवमूल्यन करने वाले देश में कीमतों व लागतों में, विशेषतया निर्यात उद्योग की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लागत कीमत संरचना में वृद्धि नहीं होनी चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सरकार द्वारा कीमतों को नियन्त्रित करने के प्रत्यक्ष व परोक्ष उपाय अपनाना तथा सट्टेबाजी की क्रियाओं को नियन्त्रित करना आवश्यक होगा।

2. देश की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए।

देश में निर्यात पदार्थों के उत्पादन बढ़ाने की पर्याप्त क्षमता होना आवश्यक हैं। साथ ही यह भी आवश्यक हैं कि इन वस्तुओं की माँग विदेशी बाजारों में की जाये। अवमूल्यन की नीति उन देशों के लिये अधिक प्रभावपूर्ण होती हैं जिनकी अर्थव्यवस्था में उनके निर्यातों का महत्वपूर्ण स्थान हैं, परन्तु विश्व के व्यापार में उनका भाग महत्वपूर्ण नहीं हैं। उनका विदेशी व्यापार स्वयं उनके लिये महत्वपूर्ण होते हुए भी विश्व के लिए महत्वपूर्ण नहीं होता।

3. अवमूल्यन की सफलता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का वातावरण होना आवश्यक हैं। प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय ह्रास की होड़ सभी देशों के लिए हानिकारक होती हैं। हॉम के अनुसार ''यह एक खतरनाक नीति होती हैं, क्योंकि इसका उद्देश्य अपने पड़ौसी को गरीब बनाना होता हैं, अन्त में इससे किसी को लाभ नहीं होता हैं।'' काउथर के शब्दों में, ''अधीमूल्यन एक ऐसा खेत हैं जिसे कोई भी खेल सकता हैं, परन्तु यदि सब राष्ट्र इसे खेलना प्रारम्भ कर दें और विश्व की मुद्राओं में एक होड़ सी लग जाय कि विकास मूल्य कम से कम रखा जा सकता हैं तो इसका परिणाम यह होगा कि सभी मुद्राएँ मूल्यहीन हो जायेंगी।

अवमूल्यन का सफल होना तभी सम्भव हो पाता हैं जबकि अवमूल्यन करने वाले देश से व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाले अन्य देश न तो अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करते हैं और न ही प्रतिकार (retaliation) की भावना से प्रतिरोधी उपाय अपनाते हैं। अवमूल्यन के उपरान्त दूसरे देशों को इस देश के निर्यातों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रतिबन्ध नहीं लगाने चाहिए। दूसरे देशों को अपने निर्यातों की कीमतों में भी कमी नहीं रहनी चाहिए। यदि विदेशी मुद्रा में आयात कीमतों की तुलना में निर्यात कीमतों में अधिक गिरावट हो तो व्यापार–सन्तुलन अवमूल्यन करने वाले देश के लिए प्रतिकूल होने की सम्भावना होगी। स्पष्ट हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अभाव में अवमूल्यन की नीति सफल नहीं हो पायेगी।

4. आयातों और निर्यातों के लिए माँग लोचदार होनी चाहिए।

अवमूल्यन का लाभ केवल उस देश को मिल सकता हैं जिसके द्वारा निर्यात किये गये माल की विदेशी माँग लोचपूर्ण (elastic) हो, और स्वयं उसके आयातों की माँग भी लोचपूर्ण हो। यदि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के निर्यात विनिमय–दर में की गयी कमी से कम अनुपात में बढ़ते हैं, तो अवमूल्यन का प्रभाव ऋणात्मक (negative) कहलाता हैं। इसके विपरित, यदि निर्यात विनिमय–दर में की गयी कमी से अधिक अनुपात में बढ़ते हैं तो अवमूल्यन का प्रभाव धनात्मक (positive) होता हैं।

आयातों व निर्यातों की माँग की लोच के अतिरिक्त अवमूल्यन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक हैं कि आयातों व निर्यातों की पूर्ति लोचपूर्ण हो। निर्यातों की माँग में वृद्धि होने पर यदि निर्यात वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि नहीं होती तो अवमूल्यन की सफलता सन्देहजनक होती हैं। अवमूल्यन के प्रभावों से सम्बन्धित यह धारणा हैं कि भुगतान–सन्तुलन में सुधार के लिए आयातों तथा निर्यातों की माँग की लोच की इकाई से अधिक होनी चाहिए, इस मान्यता पर आधारित हैं कि आयातों तथा निर्यातों की पूर्ति की लोच अनन्त हैं। व्यावहारिक जीवन में पूर्ति की लोच अनन्त नहीं होती। विश्व के व्यापार में बहुत सारी वस्तुएँ तो इस प्रकार की होती हैं कि अल्पावधि में उनकी पूर्ति की लोच बहुत कम अथवा शून्य होती हैं। कृषि पदार्थों तथा खनिज पदार्थों आदि पर यह बात लागू नहीं होती हैं। निर्मित पदार्थों की पूर्ति लोचपूर्ण हो सकती हैं, परन्तु चूँकि इनकी बिक्री पर प्रायः एकाधिकारियों का नियन्त्रण होता हैं इसलिए इनकी पूर्ति की लोच भी कम हो जाती हैं। निर्यातों तथा आयातों की पूर्ति की लोच कम होने पर अवमूल्यन का प्रभाव धनात्मक होता हैं, भले ही आयातों तथा निर्यातों की माँग की लोच इकाई से कम ही क्यों न हो। इस प्रकार आयातों तथा निर्यातों की पूर्ति की लोच कम होने पर अवमूल्यन करने से देश के भुगतान–सन्तुलन में सदा सुधार होता हैं।

बोध प्रश्न :

प्रश्न 1. अवमूल्यन नीति की सफलता की कोई दो शर्ते बताइये।

.....

.....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

.....

प्रश्न 2. आयातों व निर्यातों की मांग की लोच का अवमूल्यन नीति की सफलता पर क्या प्रभाव पड़ता हैं ?

.....

.....

.....

7.6 अवमूल्यन के दोष :–

अवमूल्यन की सफलता से सम्बन्धित सीमाओं एवं शर्तों की उपर्युक्त विवेचना यह स्पष्ट करती हैं कि अवमूल्यन से वांछित परिणामों की प्राप्ति कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत ही सम्भव हो पाती हैं। अवमूल्यन के निम्नलिखित दोष विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :–

1. अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विकासशील देशों का भुगतान–सन्तुलन और भी अधिक प्रतिकूल हो जाने की सम्भावना रहती हैं। अपने विकास सम्बन्धी कार्यों को पूरा करने के लिए आयातों पर निर्भर रहना ही पड़ता हैं। अवमूल्यन करने से आयातों में कमी नहीं होती। निर्यातों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता हैं कि इन देशों के माल (कृषि प्रदार्थ, कच्चे माल तथा खनिज पदार्थ आदि) की विदेशों में माँग बेलोच होती हैं। यह बात सामूहिक रूप से इन देशों के लिये ठीक हो सकती हैं, परन्तु व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक देश अपने निर्यात बढ़ाने के प्रयास करता हैं और इसके लिए विनिमय दर में कमी कर देता हैं। अवमूल्यन के बाद निर्यातों का मूल्य गिर जाता हैं। निर्यात पदार्थों के उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो पाती हैं। विकासशील देशों पर अवमूल्यन का एक अन्य दुष्प्रभाव यह पड़ता हैं कि विदेशी ऋणों का भार बढ़ जाता हैं, क्योंकि विकसित देशों से लिये गये ऋणों का मूल्य प्रायः ऋणदाता देशों की मुद्राओं में व्यक्त किया जाता हैं।

2. अवमूल्यन देश में आन्तरिक कीमत स्तर में वुद्धि करता हैं :– अवमूल्यन के परिणामस्वरूप आयातों की कीमतें देश की मुद्रा के रूप में बढ़ जाती हैं। देश से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की कीमतों पर इस प्रकार का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव तो नहीं पड़ता, परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् इन वस्तुओं की कीमतें भी प्रायः पहले से अधिक हो जाती हैं। आयातित माल की कीमतें बढ़ने से उत्पादन लागत में वृद्धि होती हैं। विदेशों में निर्यात की माँग बढ़ जाने पर देश में इन पदार्थों की पूर्ति कम हो जाती हैं। आयातों में कमी तथा निर्यातों में वृद्धि अवमूल्यन करने वाले देश में स्फीतिकारी प्रवृत्ति उत्पन्न करती हैं।

3. अवमूल्यन राष्ट्रीय आय की मात्रा को भी प्रभावित करता हैं :– यदि अवमूल्यन के कारण व्यापार–सन्तुलन–अनुकूल हो जाय तो अवमूल्यन करने वाले देश की राष्ट्रीय आय कम हो जायेगी। आयात किये गये माल, कच्चे पदार्थों तथा मशीनों आदि की लागत में वृद्धि विनियोग को हतोत्साहित कर कर सकती हैं। अवमूल्यन से निर्यात की माँग बढ़ती हैं परन्तु इससे लाभ तभी होगा जब अवमूल्यन करने वाले देश के निर्यात पदार्थों का उत्पादन लोचपूर्ण हो। अर्द्ध–विकसित देश में उत्पादन आसानी से नहीं बढ़ाया जा सकता, इसलिए अवमूल्यन के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने की सम्भावना नहीं होगी।

4. अवमूल्यन के कारण व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो सकती हैं :– श्रीमती जॉन रॉबिन्सन के अनुसार अवमूल्यन करने वाले देश के लिए व्यापार की शेर्तों के प्रतिकूल होने का मुख्य कारण यह हैं कि अधिकतर देश कुछ विशेष वस्तुओं का ही निर्यात करते हैं, जिनकी माँग की लोच अपेक्षाकृत कम होती हैं। इसके विपरित वे विभिन्न देशों से अनेक प्रकार की वस्तुओं का आयात करते हैं जिनकी पूर्ति की लोच अपेक्षाकृत अधिक होती हैं। अर्द्ध–विकसित देशों के लिए तो यह बात पूर्णतया सत्य हैं।

5. प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यनों की होड़ (Competitive exchange depreciation) की स्थिति उत्पन्न होने पर किसी भी देश को लाभ नहीं होता। अस्थिरता के वातावरण में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आकार कम हो जाता हैं, और अनेक प्रकार के प्रतिकूल आर्थिक प्रभाव उत्पन्न होते हैं।

6. संरचनात्मक असमायोजन (structural maladustment) के प्रभाव में भुगतान–सन्तुलन में घाटे की स्थिति का उपचार अवमूल्यन द्वारा नहीं किया जा सकता। भुगतान–सन्तुलन में असाम्यता के कारण घरेलू तथा विदेशी कीमत–स्तरों में अन्तर होने पर इसका उपचार अवमूल्यन द्वारा किया जा सकता हैं परन्तु यदि असाम्यता संरचनात्मक कुसमंजन का परिणाम होती हैं तो अवमूल्यन स्थिति में सुधार करने के बजाय इसे और अधिक बिगाड़ देता हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7. अवमूल्यन अर्थव्यवस्था की दुर्बलता का प्रतीक हैं। अवमूल्यन की नीति अपनाने पर मुद्रा में स्थिरता के प्रति विश्वास गिर जाता हैं। पूँजी का विदेशों की ओर प्रवाह बढ़ जाता हैं और अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

8. अवमूल्यन के उद्देश्य अन्य उपायों के द्वारा अधिक प्रभावपूर्ण ढ़ंग से प्राप्त किये जा सकते हैं। यदि भुगतान–सन्तुलन की स्थिति में ही सुधार करना हैं तो उसके लिए अवमूल्यन ही एक मात्र उपाय नहीं हैं। प्रशुल्क नीति तथा कोटा प्रणाली के द्वारा आयात नियन्त्रित किये जा सकते हैं। उचित प्रकार की रियायतें तथा अनुदान देकर निर्यात बढ़ाये जा सकते हैं। विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनायी जा सकती हैं।

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हैं कि अवमूल्यन कोई ऐसा उपाय नहीं हैं जिसका उपयोग बिना सोचे समझे कर लिया जाय। सामान्यतः इसका उपयोग तभी करना चाहिए जब अन्य उपायों का प्रयोग कर लिया गया हैं इौर उनमें सफलता विनिमय दर के अनुपयुक्त समायोजन के कारण नहीं मिल पायी हैं। अवमूल्यन के साथ–साथ यह भी आवश्यक हैं कि सरकार द्वारा ऐसे उपाय अपनाये जाये जिनमें अर्थव्यवस्था को अवमूल्यन के सम्भावित दुष्परिणामों से बचाया जा सके और आन्तरिक सन्तुलन का समायेाजन इस प्रकार किया जा सकें कि अवमूल्यन के प्रष्प्रभावों के उपचार के लिए दोबारा अवमूल्यन करने की आवश्यकता न पड़े।

बोध प्रश्न :

प्रश्न 1. अवमूल्यन नीति के कोई दो दोष बताइये।

.....

.....

.....

प्रश्न 2. 'प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन' से आप क्या समझते हैं ?

.....

.....

.....

7.7 सारांश :–

स्पष्ट हैं कि जब सरकार मुद्रा की इकाई की विनिमय दर सामान्य दर से नीची निर्धारित करती हैं तो वह अवमूल्यन कहलाता हैं। उपर्युक्त अध्याय में हमने अवमूल्यन का अर्थ, अवमूल्यन के उद्देश्य, अवमूल्यन की सफलता की शर्तों तथा दोषों का विवेचन किया। संक्षेप में यह कहा जा सकता हैं कि किसी भी देश के प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन के सुधार के लिए अवमूल्यन का उपयोग केवल तभी करना चाहिए जब अन्य उपायों का प्रयोग कर लिया गया हैं तथा उनमें सफलता विनिमय दर के अनुपर्युक्त समायोजन के कारण नहीं मिल पाई हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न

निम्न प्रश्नों के उत्तर 500 शब्दों में दीजिए।

प्रश्न 1. अवमूल्यन से आपका क्या तात्पर्य हैं ? अवमूल्यन के उद्देश्य बताइये।

प्रश्न 2. अवमूल्यन नीति की सफलता की शर्ते तथा दोषों की विवेचना कीजिए।

7.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.4

उत्तर 1. अवमूल्यन का अर्थ हैं किसी भी देश द्वारा अपनी मुद्रा का अधिकारिक मूल्य विदेशी मुद्रा के संदर्भ में कम करना।

उत्तर 2. (1) निर्यातों में वृद्धि।

(2) आयातों में कमी।

7.5

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उत्तर 1. (1) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

(2) देश की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान।

उत्तर 2. अवमूल्यन नीति के फलस्वरूप निर्यात सस्ते हो जाते हैं तथा आयात महँगे हो जाते हैं। विदेशी माँग लोचदार होने पर ही आयात महँगे होने पर आयातों की माँग कम होगी तथा निर्यात सस्ते होने पर निर्यातों की मांग में वृद्धि होगी तथी अवमूल्यन नीति सफल हो पायेगी।

7.6

उत्तर (1) आन्तरिक कीमत स्तर में वृद्धि (2) भुगतान संतुलन अधिक प्रतिकूल

(2) एक देश द्वारा अवमूल्यन नीति अपनाने पर दूसरे देश द्वारा भी प्रतिस्पर्द्धा में अपने देश की मुद्रा का अवमूल्यन करना।

7.9 शब्दावली :–

विदेशी माँग	विदेशी व्यापार
अवमूल्यन	प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन
अर्थव्यवस्था	संरचनात्मक असमायोजन
स्फीतिकारी	ऋणदाता
पूर्ति की लोच	स्फीतिकारी अर्थव्यवस्था
ऋणदाता	प्रतिकार

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ :

एच.एल. आहुजा, समष्टि अर्थशास्त्र

एम.एल सेठ, समष्टि अर्थशास्त्र

लक्ष्मीनारायण नाथूराम, समष्टि अर्थशास्त्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई 8

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना

(Eleventh Five Year Plan)

8.0 इकाई की रूपरेखा

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना

8.4 ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के मुख्य मुद्दे

8.5 ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना की समीक्षा

8.6 सारांश

8.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.8 शब्दावली

8.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

8.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप जान पायेंगें कि –

1. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा क्या हैं ?
2. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के मुख्य मुद्दे क्या हैं ?
3. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य कहां तक ठीक हैं ?

8.2 प्रस्तावना

योजना आयोग ने जनवरी 2006 में ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के दिशा निर्देश पत्र की रूपरेखा प्रस्तुत की। दिशा निर्देश पत्र का शीर्षक ''तीव्र और अधिक समावेशी विकास की ओर'' रखा गया हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के मुख्य मुद्दों व लक्ष्यों की विवेचना करेंगें। इस योजना में तीव्र विकास की रणनीति पर बल दिया गया। इसके अनुसार तीव्र विकास हमारी रणनीति के लिये दो कारणों से अनिवार्य हैं। पहला केवल तेजी से विकसित हो रही अर्थव्यवस्था में यह आशा की जा सकती हैं कि हम अपनी जनसंख्या के अधिकतर भाग की आय बढ़ा सकेंगे ताकि जीवन स्तर में सामान्य उन्नति हो सके। दूसरे तेज विकास इसलिए भी अनिवार्य हैं ताकि बुनियादी सेवाएं (Basic Services) उपलब्ध करायी जा सके।

8.3 ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना :–

योजना आयोग ने प्रस्ताव किया हैं कि ''आर्थिक विकास की वृद्धि दर बढ़ा कर ग्यारहवीं योजना में 9 प्रतिशत के इर्द गिर्द की जा सकती हैं, यदि उचित नीतियां तय कर ली जाए। जनसंख्या की वृद्धि दर 1.5 प्रतिशत होने के साथ, जी.डी.पी. की 9 प्रतिशत वृद्धि द्वारा वास्तविक प्रति व्यक्ति आय 10 वर्षों में दुगुनी की जा सकती हैं। जी.डी.पी. की 9 प्रतिशत समग्र वृद्धिदर के साथ, कृषि के विकास की दर 4 प्रतिशत निश्चित की गयी हैं, उद्योग की 10.5 प्रतिशत और सेवाओं की 9.9 प्रतिशत। योजना में यह अनुमान लगाया गया हैं कि 9 प्रतिशत की वृद्धिदर निवेश की 35.1 प्रतिशत दर के साथ प्राप्त की जा सकती हैं। अतः पूँजी उत्पाद अनुपात 3.9 कल्पित किया गया हैं। निवेश दर को 35.1 प्रतिशत तक बढ़ाने के लिए, देशीय बचत दर को उन्नत करके 32.3 प्रतिशत करना होगा। अतः विदेशी निवेश से 2.8 प्रतिशत साधन प्राप्त किये जायेंगें। चालू खाते पर घाटा (Current Account Deficit) जी.डी.पी. का 2.8 प्रतिशत हो जाएगा।

8.4 ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के मुख्य मुद्दे :–

(1) शिक्षा :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

- प्राथमिक स्कूलों में पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों की दरों को 2003–04 में 52.2 प्रतिशत थी घटा कर 2011–12 तक 20 प्रतिशत करना।
- सात वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों की साक्षरता दर को 85 प्रतिशत या इससे अधिक करना।
- उच्च शिक्षा के लिये प्रासंगिक आयु वर्ग के युवकों के अनुपात को वर्तमान 10 प्रतिशत से बढ़ाकर 11वीं योजना के अन्त तक 15 प्रतिशत करना।

(2) स्वास्थ्य :–

- प्रति 1000 जीवित जन्मों पर शिशु मृत्युदर को 28 और मातृ मृत्युदर को 1 के स्तर पर लाना।
- सकल प्रजनन को 2.1 तक कम करना।
- 2009 तक सभी को पीने का पानी उपलब्ध कराना।
- 0–3 वर्ष के आयुवर्ग के बच्चों में कुपोषण के वर्तमान स्तर को आधा करना।
- स्त्रियों एवं लड़कियों में रक्तक्षीणता (Anaemia) को 11वीं योजना के अन्त तक 50 प्रतिशत कम करना।

(3) आधार संरचना :–

- सभी ग्रामों और गरीबी रेखा के नीचे परिवारों को 2009 तक बिजली का कनेक्शन उपलब्ध कराना और योजना के अन्त तक 24 घण्टे बिजली मुहैया करना।
- 1000 से अधिक जनसंख्या को (पहाड़ी और जनजाति क्षेत्रों में 500 से अधिक आबादी वाले) बारहमासी स्थानों की सड़कों से 2009 तक जोड़ना और सभी महत्वपूर्ण निकास–स्थानों के 2015 तक जुड़ाव को सुनिश्चित करना।
- नवम्बर 2007 तक सभी गांवों को टेलिफोन से जोड़ना और सभी गांवों को 2012 तक ब्राडबैंड सम्पर्क की व्यवस्था करना।
- 2012 तक सभी को वासभूमि (Homestead sites) उपलब्ध कराना और ग्रामीण–गरीबों के लिये आवास निर्माण की गति को तेज करना ताकि 2016–17 तक सभी गरीबों को मकान उपलब्ध कराए जा सकें।

कृषि वृद्धिदर :– कृषि की वृद्धि–दर को त्वरित कर सकल देशीय उत्पाद के 4 प्रतिशत तक ले जाना। इस हेतु भूमि सुधार, कृषि विस्तार प्रणाली, दीर्घकालीन कृषि ऋण, वाटर शेड विकास, कृषि उपज विपणन आदि में सुधार करना होगा।

औद्योगिक वृद्धि को 10 प्रतिशत का लक्ष्य :– 11वीं योजना में जी.डी.पी. की औसत वृद्धि दर को 9 प्रतिशत तक ले जाने के लिये आवश्यक हैं कि उद्योग की वृद्धि दर 10.5 प्रतिशत और विनिर्माण (Manufacturing) 12 प्रतिशत की जाएं। इसके लिऐ औद्योगिक क्षेत्र में निवेश में भारी वृद्धि करनी होगी और इसके साथ–साथ तकनालाजीय उन्नयन और आधुनिकीकरण द्वारा कौशल के वे स्तर प्राप्त करने होंगे जिनसे बढ़ते हुए प्रतिद्वन्द्वी विश्व में जीवित रहा जा सकें।

आधार संरचना विकास :– आधार संरचना का अभाव आर्थिक विकास पर एक मुख्य सीमाबन्धन हैं और इसका समाधान प्राथमिकता के आधार पर केन्द्र एवं राज्यों दोनों को करना होगा। ग्रामीण आधार संरचना पर कार्य करना उतना ही महत्वपूर्ण हैं जितना शहरी आधार संरचना पर।

भारत निर्माण :– भारत निर्माण एक समयबद्ध कार्ययोजना हैं जिसके आधीन 4 वर्षों की अवधि (2005–09) में ग्रामीण आधार संरचना का विकास किया जाएगा। इस प्रोग्राम के मुख्य लक्ष्य इस प्रकार हैं :–

सिंचाई : 100 लाख हैक्टेयर भूमि के लिए अतिरिक्त सिंचाई क्षमता कायम करना।

ग्रामीण सड़के : 1000 से अधिक जनसंख्या वाले सभी आवास स्थानों (66,802) और पहाड़ी इलाकों 500 से अधिक जनसंख्या वाले आवास–स्थानों को बारहमासी सड़कों से जोड़ना।

ग्रामीण आवास : ग्रामीण गरीबों के लिये 60 लाख मकान तैयार करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ग्रामीण जलापूर्ति : ऐसे सभी आवास स्थानों को जो अभी तक पीने योग्य पानी से वंचित (55,067) हैं और जिन स्थानों में पानी की गुणवता पर दुष्प्रभाव पड़ा हैं, को पीने योग्य पानी मुर्हया करना।

ग्रामीण बिजलीकरण :– गैर–बिजली प्राप्त 1,25,000 गांवों को बिजली उपलब्ध कराना और गरीबी रेखा के नीचे 2.3 करोड़ परिवारों के बिजली मुहैया करना।

ग्रामीण टेलीफोनी : शेष सभी ग्रामों (66,822) में सार्वजनिक टेलिफोन का प्रबन्ध करना।

रोजगार (Employment) :

11वीं योजना में श्रमशक्ति में 6.5 करोड़ की वृद्धि का अनुमान हैं। यदि इसमें अवशिष्ट बेरोजगार व्यक्तियों की 3.5 करोड़ संख्या को जोड़ लिया जाए तो योजना काल में बेरोजगारों की कुल संख्या 10 करोड़ हो जाएगी। योजना में रोजगार के 6.5 करोड़ अवसर कायम किये जायेंगे। अतः 11वीं योजना के अन्त तक बेरोजगारों की संख्या 3.5 करोड़ होगी जोकि योजना के आरम्भ में थी। रोजगार में प्रत्याशित वृद्धि प्राप्त करने के लिये गैर–कृषि रोजगार बढ़ाने का सारा भार असंगठित क्षेत्र को सहन करना होगा।

क्षेत्रीय विभाजन : समृद्ध और गरीब राज्यों के बीच समग्र जी.डी.पी. और प्रति व्यक्ति जी.डी.पी. की वृद्धिदरों में अन्तर बढ़ता जा रहा हैं। इसके कारण क्षेत्रीय विभाजन उत्पन्न हो गया हैं। क्षेत्रीय असंतुलन की समस्या, जो विभिन्न राज्यों और किसी राज्य के भीतर विद्यमान हैं के समाधान के लिए सरकार ने पिछड़ें क्षेत्रों के लिए अनुदान कोष स्थापित किया हैं जो इससे सम्बद्ध प्रोग्रामों के लिए वित्त उपलब्ध कराएगा।

बोध प्रश्न :

प्रश्न 1. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना का कार्य काल बताइए ।

.....

.....

.....

प्रश्न 2. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर ,कृषि उत्पाद की वृद्धि दर , औद्योगिक क्षेत्र उत्पाद की वृद्धि दर का लक्ष्य बताइए ।

.....

.....

.....

8.5 ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना की समीक्षा :–

ग्यारहवीं योजना के दिशा निर्देश पत्र में अपने उद्देश्य के तौर पर ''तीव्र और अधिक समावेशी विकास'' (Towards Faster and More Inclusive Growth) की कल्पना की गयी हैं। यह एक अभिनन्दनीय परिवर्तन हैं जो कि 1991 में आरम्भ किये गये आर्थिक सुधारों के बाद किया जा रहा हैं। प्रश्न उठता हैं कि क्या दिशानिर्देश पत्र में उन चिन्ताओं की ओर ध्यान देने की सोच विद्यमान हैं जिनका उपचार करने का निर्णय इसमें लिया गया।

1. खाद्य सुरक्षा, कीमत आलम्बन प्रणाली (Price Support System) को मजबूत करना, कृषि वस्तुओं के लिए कीमत स्थरीकरण निधि (Price Stabilisation fund) कायम करना, फसल बीमा का सर्वव्यापीकरण करना, कृषि वस्तुओं के सब्सिडी प्राप्त आयोतों के विरूद्ध किसानों का संरक्षण और भू–सुधार।
2. इसके अतिरिक्त इसकी चालू खाते पर घाटे को बढ़ाने की नीति पर प्रश्नचिन्ह लगाया जा सकता हैं। ग्याहरवीं योजना द्वारा परिकलित वित्तीय ढ़ाचें का बिल्कुल जिक्र ही नहीं किया गया हैं।
3. इसने शिक्षा एवं स्वास्थ्य के लिये सामाजिक आधा संरचना की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया और इनके लिए आवश्यक साधन उपलब्ध कराने का आश्वासन नहीं दिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. सकल देशीय उत्पाद में 9.0 प्रतिशत की उच्च वृद्धिदर किस हद तक गरीबी एवं बेरोजगारी की समाप्ति में मदद कर सकेगी, इसके लिए सन्तोषजनक तस्वीर पेश नहीं की गई।

ग्यारहवीं योजना के दौरान अर्थव्यवस्था की समग्र वृद्धि दर को बढ़ा कर 9 प्रतिशत तक ले जाने का लक्ष्य रखा गया हैं। इसकी प्राप्ति के लिये कृषि वृद्धि दर को जो दसवीं योजना के दौरान 1.7 प्रतिशत से बढ़ा कर लगभग 4 प्रतिशत करना होगा और उद्योगों की वृद्धि दर को बढ़ा कर 10.5 प्रतिशत एवं सेवा क्षेत्र की वृद्धि दर को 9.9 प्रतिशत करना होगा। यह बात याद रखने योग्य हैं कि दसवीं योजना के दौरान उद्योगों की वृद्धि दर 8 प्रतिशत और सेवाओं की वृद्धि दर 8.9 प्रतिशत रहने का संकेत मिलता हैं। जाहिर हैं कि 11वीं योजना में उद्योगों एवं सेवाओं की वृद्धिदर को दुगुना करना चाहती हैं ताकि 9.0 प्रतिशत की समग्र वृद्धि दर का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकें। इस हद तक यह रणनीति यह संकेत देती हैं कि समावेशी विकास की अवधारणा 11वीं योजना के ढ़ांचे का अंग हैं।

परन्तु समावेशी विकास तभी वास्तविक रूप धारण कर सकता हैं यदि गरीबी में तीव्र कमी होने के साथ–साथ 11वीं योजना के दौरान बेरोजगारी में भी तीव्र कमी व्यक्त हो। दिशा निर्देश पत्र का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से पता चलता हैं कि आयोजकों की इस संबंध में राजनैतिक इच्छा शक्ति बहुत कमजोर हैं।

ग्यारहवीं योजना का दिशा निर्देश पत्र रोजगार अवसरों पर कार्यदल की रिपोर्ट (2001) का नये रूप में प्रस्तुतीकरण हैं जिसके अध्यक्ष डॉ. मोटेक सिंह आहलूवालिया थे, जो तब योजना आयोग के सदस्य थे और अब योजना आयोग के उपाध्यक्ष हैं। कार्यदल के मुख्य सुझाव थे :

कृषि क्षेत्र में निजी क्षेत्र के निवेश को बढ़ावा देना,

समन्वित कृषि–कामप्लैक्सों (Integrated agriculture complexs) और फूड पार्कों (Food parks) के विकास के लिये निगम क्षेत्र का प्रयोग करना,

पतित एवं व्यर्थ भूमियों के विकास के लिए कृषि–कम्पनियों को ठेके देना, खाद्य संसाधन उद्योगों (Food processing industries) के लिये बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का सहारा लेना, निर्माण, फुटकर व्यापार, सड़क निर्माण आदि में बड़ी फर्मों का प्रयोग कराना।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता हैं कि रोजगार जनन की पूरी जिम्मेदारी निगम क्षेत्र को सौंप दी जानी चाहिए। इस प्रक्रिया को सुविधाजनक बनाने के लिये अगले चार वर्षों में लघु उद्योगों का पूर्ण अनारक्षण (Dereservation) और औद्योगिक विवाद कानून में संशोधन कर श्रम अधिनियमों में सुधार करना चाहिए ताकि नियोजकों को श्रमिकों को नौकरी पर रखने और उन्हें बर्खास्त करने का बेरोक टोक अधिकार प्राप्त हो सकें।

इस रिपोर्ट को श्रम विरोधी समझा गया और नीति–निर्धारकों ने यह बात स्वीकार की कि इसकी अधिकतर सिफारिशें रोजगार को सीमित करने वाली हैं, न कि इसका विस्तार करने वाली।

11वीं योजना में छोटे स्तर के उद्यमों में पूर्ण अनारक्षण (Dereservation) करने की सिफारिश की हैं और इस प्रकार 326 मदों पर उपलब्ध आरक्षण भी समाप्त कर दिया जाएगा। यह श्रम विधान में सुधार का राग अलाप रही हैं जबकि इसने यह बात स्वीकार कर ली हैं कि संगठित क्षेत्र से अतिरिक्त रोजगार जनन की कोई उम्मीद नहीं।

'दिशानिर्देश पत्र में ग्रामीण आधारसंरचना कायम करने का भारी कार्यक्रम रखा गया हैं, परन्तु यह बड़ी अजीब बात हैं इसमें सैकड़ों स्कूलों में शैचालय एवं पेयजल की सुविधाएं बनाने का जिक्र नहीं, जिनकी लगभग सभी राज्यों को आवश्यकता हैं। न ही इसमें प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों या अस्पतालों के निर्माण का कोई प्रोग्राम पेश किया गया हैं।'' इस बात के अनेक प्रमाण मौजूद हैं कि भौतिक पूंजी के साथ मानवीय पूंजी के विकास से आर्थिक विकास त्वरित होता हैं।

चालू खाते पर घाटा बढ़ाने की नीति पर प्रश्नचिन्ह लगाया जा सकता हैं। देश को सकारात्मक व्यापार–शेष की नीति अपनानी होगी या इतने व्यापार घाटे को कायम करने की इजाजत देनी होगी जिसकी क्षतिपूर्ति अदृश्य मदों के अतिरेक से की जा सके। परन्तु निर्यात क्षेत्र में हमारी सफलता से अतिप्रोत्साहित होकर, हम आयात क्षेत्र पर ब्रेक लगाने से कतराते रहे हैं और चेतावनी संकेतकों की अनदेखी करते रहे हैं। पिछले चार वर्षों के दौरान परिस्थिति लगातार बिगढ़ती जा रही हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बोध प्रश्न :

प्रश्न 1. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में कृषि में सुधार हेतु क्या प्रयास प्रस्तावित है ?

.....

.....

.....

प्रश्न 1. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना की समीक्षा कीजिए ।

.....

.....

.....

8.6 सारांश :–

स्पष्ट हैं कि ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में शिक्षा, स्वास्थ्य, आधार संरचना, रोजगार, ग्रामीण विकास, कृषि विकास आदि लगभग सभी मुद्दों पर विचार किया गया हैं जिसकी व्याख्या प्रस्तुत अध्याय में की गई हैं। सकल देशीय उत्पाद में 9 प्रतिशत की वृद्धि दर, कृषि विकास की 4 प्रतिशत वृद्धि तथा निवेश एवं बचत क्षेत्र में क्रमशः 35.1 प्रतिशत तथा 32.3 प्रतिशत की वृद्धि दर प्राप्त करना चुनौतीपूर्ण लक्ष्य हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न

निम्न प्रश्नों के उत्तर 500 शब्दों में दीजिए।

प्रश्न 1. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के मुख्य मुद्दे बताइए ।

प्रश्न 2. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना की विस्तार से विवेचना कीजिए।

8.7 बोध प्रश्नों के उत्तर :

8.4

उत्तर : (1) 2007–2008 – 2011–2012

उत्तर : (2) सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर 9 प्रतिशत

कृषि उत्पाद की वृद्धि दर 4 प्रतिशत

औद्योगिक क्षेत्र उत्पाद की वृद्धि दर 10 प्रतिशत

8.5

उत्तर : (1) खाद्य सुरक्षा, कीमत आलम्बन प्रणाली को मजबूत करना तथा भू–सुधार आदि।

उत्तर (2) देखिये 8.5

8.7 शब्दावली :

बुनियादी सेवाएं

आर्थिक विकास

समग्र वृद्धिदर

चालू खाते पर घाटा

ग्रामीण आधारसंरचना

समन्वित कृषि–कामप्लैक्सों

योजना आयोग

प्रति व्यक्ति आय

पूँजी उत्पाद अनुपात

सकल घरेलू उत्पाद

फूड पार्कों

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ :

रूद्रदत्त सुन्दरम, भारतीय अर्थव्यवस्था

ए. एन. अग्रवाल, भारतीय अर्थव्यवस्था

इन्टरनेट

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

खण्ड–द

(Section-D)

व्यवसाय का सामाजिक–सांस्कृतिक वावातरण

(Socio-cultural Environment of Business)

व्यवसाय का सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण, सम्पूर्ण व्यावसायिक वातावरण का ही अभिन्न हिस्सा है। समाज व संस्कृति व्यवसाय का आधार माने जाते हैं। सामाजिक घटकों व मूल्यों का उल्लंघन करके कोई भी व्यावसायिक उपक्रम अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख सकता। समाज तथा संस्कृति ही व्यवसाय के समक्ष लक्ष्य, उद्देश्य व अभिलाषाएं रखते हैं। व्यावसायिक निर्णयों पर समाज की मान्यताओं, मूल्यों, विश्वासों तथा जीवन शैलियों का गहरा प्रभाव पड़ता है। उपभोक्तावाद एवं सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधाराओं ने व्यवसाय को उपभोक्ता व समाज अभिमुखी बना दिया है।

रेनकी एवं शॉल (Renkey and Shawl) के अनुसार – व्यवसाय, समाज व संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध, निर्धरता व प्रभावों के बारे में ठीक ही कहा है कि व्यवसायी को निरन्तर मानवीय आशाओं, भय, आकांक्षाओं, पसन्द, नापसन्द, प्राथमिकताओं व विचारों के संसार में रह कर कार्य करना होता है। वह इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता, उसे मानव समाज, इसकी संस्कृति, इसकी मूल्य प्रणालियों तथा इसके सामाजिक प्रारूपों का सम्मान करना ही होता है।" व्यवसाय, समाज तथा संस्कृति एक दूसरे में अन्तर्व्याप्त है।

सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य, समाज तथा संस्कृति की देन है। समाज में रहते हुए, व्यवसाय में कार्यरत एक व्यावसायिक उपक्रम को सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों को समझना आवश्यक हो जाता है। ऐसा करना उपक्रम ही व्यावसायिक सफलता के लिए जरूरी हे और इसलिए भी कि वह समाज का ही एक अंग है, उसने भी संस्कृति से अनेक संस्कार ग्रहण किये हैं तथा समाज और संकृति की सेवा करना, उसका कर्त्तव्य तथा दायित्व हो जाता है। यह भी सच है कि सामाजिक मूल्यों का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से न होकर सम्पूर्ण समाज से होता है। अतः ये सभी व्यवसायों के व्यवहारों को प्रभावित करते हें और उन्हें एक विशेष दिशा में तथा विशेष ढंग से व्यवहार करने के लिए प्रेरित तथा बाध्य करते हें। वर्तमान में कोई भी व्वसाय सामाजिक मूल्यों की अनदेखी करके अपने व्यवसाय को प्रतिष्ठा के स्थान पर नहीं पहुँचा सकता। आधुनिक समय में जो भी व्यवसायी सामाजिक मूल्यों के प्रति सजग रहा है, उसकी गरिमा में वृद्धि हुई है। सामाजिक मूल्यों में समय–समय परपरिवर्तन भी होते रहते हैं। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तनों के कारण ही पिछले कुछ दशकों में नयी सामाजिक मान्यताओं की स्थापना हुई है, जिनका व्यावसायिक दर्शन के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। नयी मान्यताओं में से कुछ प्रमुख मान्यताएं निम्नलिखित हैं–

1. व्यवसाय में यह विश्वास बढ़ा है कि कार्य की इच्छा व क्षमता रखने वाले व्यक्तियों के लिए समाज में हमेशा 'अवसर' उपलब्ध रहते हैं।
2. व्यवसाय के प्रति सद्भावना एवं विश्वास में पहले की अपेक्षा वृद्धि हुई है।
3. व्यवसाय में प्रतिस्पर्धा की भावना का विकास हुआ है।
4. जाति, धर्म और सम्प्रदाय से अलग हट कर व्यक्ति के प्रति आदर–भावना में वृद्धि हुई है।
5. व्यक्तियों के पद व घरानों से सम्बन्ध की बजाय उनके कार्यों, योग्यताओं व व्यवहार का सम्मान होने लगा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6. विज्ञान एवं तकनीक तथा तर्कसंगत बातों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है।
7. शिक्षण, प्रशिक्षण तथा ज्ञानार्जन के प्रति रूचि एवं अभिरूचि में अभिवृद्धि हुई है।
8. कार्य के नये ढंग, विधि, प्रविधि तथा तकनीक विकसित करने के लिए परिवर्तन, प्रयोग एवं शोध का महत्व बढ़ा है।
9. उच्च जीवन स्तर–यापन में विश्वास के फलस्वरूप नयी सामाजिक संरचना ने व्यवसाय की कार्य पद्धतियों व प्रणालियों में गहन परिवर्तन किये हैं।

सामाजिक मूल्यों को भांति सांस्कृतिक मूल्य भी वयवसाय को नया आकार व स्वरूप प्रदान करते हैं। सांस्कृतिक मूल्य, सामाजिक संरचना तथा समाज के विभिन्न पक्षों पर भी पूरा असर डालते हैं। सांस्कृतिक मूल्यों की झलक व्यवसाय के सोच, दृष्टिकोण, विचारधाराओं तथा मान्यताओं एवं उसके द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। सांस्कृतिक मूल्य ही मानसिक क्रान्ति, मानसिक विकास तथा मानसिकता को संवारने में सहायक होते हैं। सांस्कृतिक मूल्य, व्यवसाय को मूल्य एवं आदर्श प्रदान करते हैं तथा विभिन्न छोटी–छोटी कड़ियों के माध्यम से समाज को, व्यवसाय को समाज से, अतीत को वर्तमान से आर्थिक पक्ष को सेवा पक्ष से यंत्रीकृत जीवन को मानवीय सम्बन्धों व मानवीय मूल्यों से जोड़े रखने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। व्यवसाय का आचरण, क्रियाएं, आदते, कार्य शैली, भविष्य के प्रति आशा आदि जैसे पहलू सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित होते हैं। आधुनिक समय की तेज आर्थिक दौड़ में भी व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में उचित एवं अनुचित का निर्धारण सांस्कृतिक मूल्यों तथा आधारों पर ही होता है। प्रत्येक संस्कृति में सामाजिक प्रतिमान स्थापित रहते हैं इन सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप व्यवहार को उचित तथा प्रतिकूल व्यवहार को अनुचित ठहराया जा सकता है। सांस्कृतिक मूल्य ही व्यवसाय में नैतिकता, सदाचार, उचित, अनुचित, न्यासिता तथा समाज के प्रति उत्तरदायित्व का बोध प्रदान करते है।

फार्मर एवं रिचमैन ने सामाजिक–सांस्कृतिक घटकों में इस बात को महत्वपूर्ण माना है कि समाज का व्यवसाय के प्रति दृष्टिकोण क्या है? समाज की व्यवसाय के बारे में किस तरह की मान्यताएं हैं? इन विद्वानों ने दृष्टिकोण क्या है? समाज की व्यवसाय के बारे में किस तरह की मान्यताएं हैं? इन विद्वानों ने दृष्टिकोण के रूप में सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों को अभिव्यक्त किया है। इनके विचार में समाज में व्यवसाय के प्रति निम्नलिखित महत्वपूर्ण दृष्टिकोण हो सकते हैं–

(i) प्रबन्ध, व्यवसाय तथा उद्यमशीलता के प्रति समाज का दृष्टिकोण।

(ii) सत्ता, अधिकारए शक्ति एवं अधीनस्थों के प्रति दृष्टिकोण ।

(iii) श्रम–प्रबन्ध, पूंजी–प्रबन्ध आदि समूहों के बीच सहयोग की सीमा।

(iv) उपलब्धि, कार्य करने तथा दायित्व ग्रहण करने आदि के प्रति दृष्टिकोण।

(v) वर्ग संरचना, वैयक्तिक गतिशीलता, सन्दर्भ समूहों के प्रति दृष्टिकोण।

(vi) धन, भौतिक लाभों, उपयोगिताओं व सम्पत्ति के प्रति दृष्टिकोण।

(vii) परिवर्तनों, जोखिमों, साहस आदि के प्रति दृष्टिकोण।

जहाँ तक सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों की बात है, समाज और संस्कृतिज एक–दूसरे में अन्तर्व्याप्त दिखती है। सामाजिक मूल्य, मूल रूप से सांस्कृतिक अवधाराओं तथा संस्कारों के प्रभाव से सृजित होते हैं। इसी तरह संस्कृति एवं संस्कारों का पोषण एवं संरक्षण सामाजिक संरचना में ही अन्तर्निहित हैं। समाज के मुख्य अंग–परिवार, सामाजिक संस्थाएं, व्यक्ति, समूह, जाति, धर्म, सम्प्रदाय विभिन्न वर्ग आदि पीढ़ी दर पीढ़ी संस्कृति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का हस्तान्तरण करते हैं, समाज को एक नयी दिशा देते हैं भूली विसरी धरोहर की याद दिलते हैं, आस्थाएं जागृत करते हैं तथा एक नयी सांस्कृतिक शक्ति का सम्प्रेषण एवं संचरण करते हैं।

सामाजिक वातवरण (Social Environment)

सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण का एक महत्त्वपूर्ण भाग सामाजिक वातावरण है। सामाजिक वातावरण के द्वारा ही किसी देश में सामाजिक परिवर्तन या नियोजित परिवर्तन सम्भव होते है। सामाजिक वातावरण के अत्यन्त व्यापक आयाम हैं। अध्ययन की उपयोगिता की दृष्टि से इसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक वातावरण में मुख्यतः निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है–

1. समाज में जाति एवं वर्ग व्यवस्था।
2. परिवार की संरचना एवं भूमिका।
3. समाज में संस्थाओं का योगदान
4. सामाजिक संरचना एवं समूह।
5. सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका।
6. समाज में धर्म तथा इसके प्रभाव।

व्यवसाय के लिए समाज और सामाजिक संरचना तथा उनके प्रमुख घटकों को समझना आवश्यक होता है। इसी के द्वारा व्यवसाय को सामाजिक प्रवृत्तियों, शक्तियों व प्रभावी कारकों की जानकारी सम्भव होती है जिससे व्यावसायिक निर्णयन अधिक प्रभावशाली हो सकते हैं। समाज, सामाजिक संरचनाएं, संस्थाएं आदि भिन्न –भिन्न देशों में पृथक–पृथक होते हैं। इनमें सार्वभौमिक एकरूपता मिल पाना कठिन होता है।

समाज में संस्थाएं (Society and Institutions)

सामाज व देश में अनेक सामाजिक संस्थाएं होती हैं। एक सामाजिक संस्था समाज की ऐसी संरचना है जिसे मुख्यतः सुस्थापित प्रणालियों के द्वारा लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संगठित किया जाता है। किसी देश में पायी जाने वाली विभिन्न संस्थाओं को मुख्यतः निम्नलितिखत श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है–

1. सामाजिक संस्थाएं (Social Institutions)
2. आर्थिक संस्थाएं (Economic Institutions)
3. राजनीतिक संस्थाएं (Political Institution)
4. धार्मिक संस्थाएं (Religious Institutions)
5. शैक्षणिक संस्थाएं (Educational Institutions)
6. मनोरंजनात्मक संस्थाएं (Recreational Institutions)
7. सांस्कृतिक संस्थाएं (Cultural Institutions)

समाज में विद्यमान संस्थाएं समाज के कल्याण एवं एक नयी सामाजिक संरचना में योगदान के लिए निम्नलिखित कार्य करती है–

1. मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति एवं इससे सम्बन्धित कार्य को दिशा प्रदान करती है।
2. व्यक्तियों के कार्य को सरल बनाती है।
3. व्यक्तियों के व्यवहारों में अनुरूपता या समानता उत्पन्न करने में योगदान देती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. परिवार और जाति नामक संस्थाएं हजारों वर्षों से अनेक रूपों में अपने सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित कर रही है।
5. संस्थाएं सांस्कृतिक को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है। परिवार संस्था ही बच्चों को समाज की परम्पराएं, प्रथाओं आचार्य व्यवहार, खानपान धर्म, रीति–रिवाजों, मान्यताओं आदि से परिचित कराती है।
6. संस्था व्यक्ति को स्थित पद प्रदान करने और उसे सम्बन्धित कार्य (भूमिका) का निर्धारण करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है।
7. संस्थाएं सामाजिक परिवर्तन में सहायक होती हैं।
8. संस्थाएं सामाजिक समस्याओं तथा जटिलताओं को सुलझाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती है।

समाजिक व्यवस्थाएं (Social Systems)

मैल्विन ट्यूमिन के अनुसार– सामाजिक स्तरीकरण परिणामिक है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन जीने के अवसर एवं शैली स्तरीकरण के स्वरूपों के आधार पर भिन्न भिन्न होते हैं। किसी व्यक्ति को कितनी शक्ति, सम्पत्ति एवं मानसिक संतोष प्राप्त होगा यह समाज में उसके स्तर पर निर्भर है। विभिन्न स्तरों में मृत्युदर लम्बी आयु शारीरिक एवं मानसिक रोग संतानों की संख्या वैवाहिक संघर्ष तलाक पृथक्ता आदि की मात्रा में भिन्नता पायी जाती है। एक व्यक्ति की किस प्रकार के मकान एवं पड़ोस में रहेगा। किस प्रकार के मनोरंजन के साधन अपनायेगा। माता –पिता से उसके सम्बन्ध कैसे होंगे। किस प्रकार की शिक्षा एवं पुस्तकों का प्रयोग करेगा उसके सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर करेगा।

सामाजिक व्यवस्था को निम्नलिखित रूपों में वर्णित किया जा सकता है–

१. जाति प्रथा (Caste System)

जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्मजात होती है, प्रत्येक जाति का एक नाम और एक व्यवसाय होता है। एक जाति के लोगों का एक वंशानुगत पेशा होता है और एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते है। इस प्रकार प्रत्येक जाति की एक जीवन शैली होती है।वर्तमान समय में जाति व अनेक परिवर्तन हुए हैं। और उसका परम्परागत स्वरूप विघटित हुआ है। जाति व्यवस्था के रूपरूप में परिवर्तन या इसको निर्बल बनाने वाले कारक इस प्रकार हैं–

1. पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता
2. औद्योगीकरण एवं नगरीकरण
3. धन का बढ़ता महत्व
4. स्वतंत्रता आन्दोलन व प्रजातंत्र की स्थापना
5. यातायात व संचार के साधनों में उन्नति
6. अस्पृश्यता का धीरे –धीरे उन्मूलन
7. स्त्री शिक्षा का विस्तार व स्त्री को समाज में उच्च स्थान।
8. संयुक्त परिवारों का विघटन।

इन कारणों के परिणामस्वरूप जाति व्यवस्था की संरचना एवं कार्यों में अनेक परिवर्तन आये हैं और जाति में निम्नांकित नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ है।

1. ब्राह्मणों के स्थिति में गिरावट।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. जातीय व स्तरीकरण में परिवर्तन–प्रत्येक जाति इस बात को जानती है कि कौन–कौन सी जातियां उससे ऊंची एवं नीची है। किन्तु वर्तमान में कुछ ऐसे परिवर्तन आये हैं कि निम्न जातियां अपनी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक स्थिति में सुधार करके जाति स्तरीकरण व ऊंचा उठने का प्रयास कर रही है। पहले जाति ही व्यक्ति का समाज में स्थान निर्धारित करती थी। किन्तु अब गुण, योग्यता, शिक्षा, सम्पत्ति एवं राजनीति शक्ति के आधार पर सामाजिक स्थिति निश्चित होने लगी है।
3. पेशे के चुनाव में स्वतंत्रता।
4. भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्धों में परिवर्तन।
5. व्यक्ति के महत्व को आंकने का आधार अब किसी जाति विशेष में जन्म लेना नहीं है।
6. वर्तमान में जाति के विवार सम्बन्धित नियंत्रण शिथिल हुए हैं अब अन्तर्जातीय विवाह विलम्ब विवाह, विवाह विच्छेछ एवं पुनर्विवाह आम तौर से होने लगे हैं।
7. अस्पृश्य जातियों के अधिकारों में वृद्धि हुयी है।
8. जातियों के पारम्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन आया है।

२. वर्ग व्यवस्था (Class System)

वर्तमान में हमारे देश में जाति–प्रथा दिनों दिन कमजोर होती जा रही है और उसके स्थान पर वर्ग व्यवस्था का विकास हो रहा है। आज हमें प्रशासक वर्ग, कृषक वर्ग मजदूर वर्ग व्यापारिक वर्ग, पूंजीपति वर्ग, अध्यापक वर्ग, बुद्धि जीवी वर्ग, नौकरशाही वर्ग आदि के रूप में अनेक वर्ग दिखायी देते हैं। विश्व में कोई भी समाज ऐसा नहीं है जहां वर्गों की विद्यमानता न हो। भारतवर्ष में वर्गो के बनने में निम्नलिखित प्रमुख आधारों को महत्वपूर्ण माना जाता हैं–

1. सम्पत्ति, धन और आय।
2. परिवार और नातेदारी।
3. निवास की स्थिति तथा अवधि।
4. व्यवसाय की प्रकृति।
5. शिक्षा, प्रशिक्षण एवं पेशेवर शिक्षा।
6. विभिन्न धर्म एवं सम्प्रदाय।

वर्ग आर्थिक तथा सामाजिक संस्कृतिक पर निर्मित होते हैं। **बीसेन्ज एवं बीसेन्ज** ने व्यक्ति के मकान का प्रकार, पड़ोस एवं आय के स्रोत को भी वर्ग निर्धारण में महत्वपूर्ण माना जाता है। आधुनिक समाजों में विलासिता की वस्तुओं का उपयोग, रेडियो, टी.वी.,फ्रिज, कार, कम्प्यूटर, मकान आदि का साबित भी व्यक्ति की वर्ग स्थिति निर्धारित करते हैं। प्रत्येक वर्ग की एक अपनी खान पान रहन–सहन सामाजिक प्रस्थिति (Status) एवं विशिष्ट सांस्कृतिक एवं जीवन शैली होती है जो दूसरे वर्गों से भिन्न होती है। हमारे देश में जिस प्रकार के वर्ग पाये जाते हैं उनकी सामान्य विशेषताएं इस प्रकार है–

1. सामज में पायी जाने वाली भिन्नताओं तथा इनकी विशिष्टताओं के आधार पर समाज स्वतः ही अनेक वर्गों में विभाजित हो जाता है।
2. सामान्यतः एक वर्ग के लोगों को जीवन के कुछ विशिष्टि अवसर एवं सुविधाएं सामान्य रूप से प्राप्त होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. समाज में वर्गों की एक श्रेणी होती है जिसमें कुछ वर्ग ऊपर कुछ वर्ग मध्यम तथा कुछ वर्ग निम्नतम स्थान पर होते हैं।
4. एक वर्ग के लोगों की सामाजिक परिस्थिति एक समान होती है।
5. प्रत्येक वर्ग के लोगों में वर्ग चेतना तथा ऊंच–नीच की भावना पायी जाती है।
6. वर्ग व्यवस्था में खुलापन होता है तथा जन्म का कोई महत्व नहीं होता।
7. प्रत्येक सामाजिक वर्ग में कई उपवर्ग भी पाये जाते हैं।
8. एक वर्ग के लोगों का जीवन जीने का तरीका लगभग समान होता है।
9. ग्रामीण और शहरी भारत में भी अलग–अलग तरह के वर्ग हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में मालिक, जमींदार, साहूकार वर्ग, किसान वर्ग, तथा मजदूर अथवा भूमिहीन श्रमिकवर्ग प्रमुख हैं। जबकि शहरी क्षेत्रों में उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, श्रमिक वर्ग, वुद्धिजीवी वर्ग, शासक वर्ग नौकरशाही वर्ग, पूंजीपति वर्ग तथा व्यापारिक वर्ग प्रमुख हैं।

३. पारिवारिक व्यवस्था (Family System)

मनुष्य की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक आधारभूत एवं सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। संस्कृति के सभी स्तरों में चाहे उन्हें उन्नत कहा जाय या निम्न, किसी न किसी प्रकार का पारिवारिक संगठन अनिवार्यतः पाया जाता है। परिवार, एक समूह, एक संघ तथा एक संस्था के रूप में समाज में विद्यमान है। मानव समाज के विकास के साथ–साथ परिवार के भी अनेक रूप अस्तित्व में आये है। प्रत्येक स्थान की भौगोलिक, आर्थिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों ने भिन्न–भिन्न प्रकार की परिवार व्यवस्था को जन्म दिया है। मुख्य रूप से केन्द्रीय या नाभिक परिवार, संयुक्त परिवार तथा विस्तुत परिवारों की विद्यमानता समाज में रही है। नाभिक परिवार पश्चिमी अवधारणा एवं इसके प्रभाव का परिणाम है, जबकि हमारे देश की संस्कृति एवं प्राचीन व्यवस्थाओं के अनुरूप संयुक्त तथा विस्तृत परिवार मुख्य माने जाते हैं। परम्परागत भारतीय संयुक्त परिवार में अनेक परिवर्तन हुए हैं और यह एक संक्रमण काल से गुजर रहा है। विस्तृत परिवार का प्रायः लोप हो चुका है, तथा अब केन्द्रीय या नाभिक परिवार अधिक संख्या में पनपने लगे हैं। नवीन परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार में होने वाले परिवर्तनों को कुछ विद्वानों ने 'पारिवारिक विघटन' माना है तो कुछ इसे स्वरूप परिवर्तन ही कहते हैं। संयुक्त परिवारों को विघटित या इसे परिवर्तित करने वाले घटकों में औद्योगीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति एवं विचारधारा का प्रभाव, विभिन्न कानूनों का प्रभाव, स्वार्थी मनोवृत्ति में वृद्धि, पारिवारिक झगड़े, जनसंख्या वृद्धि, महिला आन्दोलन, यातायात व संचार के साधनों में वृद्धि, सामाजिक सुरक्षा के नवीन उपाय तथा लोगों की आधुनिक सम्पन्नता वाली शैली आदि उल्लेखनीय है।

एक संयुक्त परिवार में तीन या तीन से अधिक पीढ़ियों के सदस्य साथ–साथ एक ही घर में निवास करते हैं, उनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है, वे एक ही रसोई का बना भोजन काम में लेते हैं, सामूहिक पूजा में भाग लेते हैं और परस्पर किसी नातेदारी व्यवस्था में सम्बन्धित होते हैं। हिन्दुओं में और प्रमुखतया गांवों में अभी तक संयुक्त परिवार का प्रचलन अधिक है।

केन्द्रीय या नाभिक परिवार आधुनिक औद्योगिक समाजों की प्रमुख विशेषता है। औद्योगीकरा तथा नगरीकरण के बढ़ने से ऐसे परिवारों की संख्या बढ़ी है। आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार तथा भौतिकवादी एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के विकास ने एकाकी परिवारों को बढ़ाने में विशेष योग दिया है। आज व्यक्ति नाते–रिश्तेदारों की दृष्टि से विशेष न सोच कर अपनी पत्नी व बच्चों के दृष्टिकोण से ही सोचता है। यही कारण है कि संयुक्त परिवार में रहने वाले बहुत से लोग भी आज एकाकी या नाभिक परिवार स्थापित करने की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दृष्टि से सोचते हैं। केन्द्रीय या नाभिक परिवार, परिवार का सबसे छोटा रूप है जो एक पुरुष, स्त्री तथा उसके आश्रित बच्चों से मिलकर बना होता है। बच्चे भी ऐसे परिवार में अविवाहित रहने तक ही रहते हैं। विवार के बाद वे अपना स्वयं का नाभिक परिवार बना लेते हैं।

४. सामाजिक समूह व्यवस्था (Social Group System)

सामाजिक समूह व्यवस्था में अनेक इकाइयों जैसे परिवार, संघ, प्रतिमानित सम्बन्धों, मूल्यों, पदों तथा अन्य संस्थाओं में मिल कर व्यवस्थाएं बनाती है। ये सभी इकाइयां परस्पर व्यवस्थित रूप से सम्बन्धित होती है और अपने–अपने स्थान पर अपेक्षतया स्थित होती है। सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् समूहों, समितियों तथा संस्थाओं के प्रकार एवं इन सबके संकुल जिनसे कि समाज का निर्माण होता है, से सम्बन्धित होता है।

५. धर्म व्यवस्था (Religion System)

हमारा देश एक विशाल जनसंख्या और काफी विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र वाला देश है। इस देश के निवासी विभिनन धर्मों के अनुयायी है। भारतीय समाज में हिन्दू, जैन, सिख, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई तथा पारसी धर्म के मानने वाले लोग पाये जाते हैं। देश की कुल जनसंख्या में 82.63 प्रतिशत व्यक्ति हिन्दू धर्म को माने वाले हैं जबकि 11.36 प्रतिशत इस्लाम धर्म को, 2.43 प्रतिशत ईसाई धर्म को, 1.96 प्रतिशत सिख धर्म को, 0.71 प्रतिशत बौद्ध धर्म को 0.48 प्रतिशत जैन धर्म को तथा 0.43 प्रतिशत व्यक्ति पारती एवं अन्य धर्मों को मानने वाले हैं। भारत जैसे धर्म–प्राण देश में तो धर्म का विशेष महत्व रहा है। धर्म के आधार पर ही समाज व्यवस्था, सामाजिक संस्थाओं एवं समस्त मानव जीवन को व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया है। मानव की सम्पूर्ण क्रियाओं का केन्द्र धर्म माना गया है। एक हिन्दू से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने जीवन में चार पुरुषार्थों (धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष) की पूर्ति करें। इनमें धर्म को ही सर्वोपरि स्थान दिया है।

धर्म भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग है जो सदियों से भारतीय समाज में कभी न सूखने वाली धरा के रूप में निरन्तर प्रवाहित होता रहा है। धर्म व्यक्तियों के लिए कुछ कर्त्तव्य, आदेश व निषेध निर्धारित करता है, जिनका पालन अलौकि शक्ति एवं ईश्वर के भय के कारण किया जाता है। एक ही धर्म के अनुयायियों के व्यवहारों में समानता के कारण एक सुदृढ़ संगठन की स्थापना होती है। धर्म के द्वारा सामाजिक आचरण के तरीकों को निर्धारित किया जाता है। व्यक्तियों द्वारा नियमों एवं कर्त्तव्यों के पालन से समाज में नियन्त्रण बना रहता है। धर्म ने केवल समाज को ही संगठिन नहीं रखा बल्कि व्यक्तित्व को भी संगठिन रखा है तथा इसके विकास में सहायक रहा है। धर्म में पवित्र वस्तुओं की विद्यमानता और पवित्र संस्कारों में भाग लेना व्यक्ति को सुख ही प्रदान नहीं करता बल्कि उसके विश्वास को भी दृढ़ बनाता है। मनुष्य अपने जीवन में अपने प्रकार की निर्बलता, अनिश्चितता, असुरक्षा और अभाव महसूस करता है। ऐसे समय में धर्म मानव की एक बहुत बड़ी शक्ति बन जाता है। धर्म ही एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो व्यक्ति को अपने आप को परिस्थितियों से अनुकूलन करने में सहायता देता है। दुर्खेम का मत है कि धर्म उन सभी लोगों कोएकता के सूत्र में पिरोता है जो इसमें विश्वास करते हैं। धर्म सामाजिक कल्याण एवं मूल्यों को महत्वपूर्ण स्थान देकर सामाजिक एकीकरण में वृद्धि करता है। धर्म के द्वारा सामाजिक नियमों एवं नैतिकता की पुष्टि सम्भव होती है। धर्म के द्वारा ही भारतीय संस्कृति की रक्षा होती हे। संसार में कई संस्कृतियों एवं सभ्यताओं ने जन्म लिया और लृप्त हो गयीं। किन्तु आज भी भरतीय संस्कृति अजर–अमर है। इसका श्रेय यहां के प्रमुख धर्म––हिन्दू धर्म' को ही है। हिन्दू धर्म ने ही अपने अनुयायियों को पुरुषार्थी बनाया, उन्हें निष्काम कर्म की प्रेरणा दी, दूसरों के हित व कल्याण तथा दया सहानुभूति, सहिष्णुता एवं सेवा भाव जैसे मानवीय गुणों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति अपनी निरन्तरता बनाये रख सकी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सांस्कृतिक वातवरण (Cultural Environment)

संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा से लिया गया है। संस्कृत और संस्कृति दोनों ही शब्द 'संस्कार' से बने हैं। संस्कार का अर्थ कुछ कृत्यों (rituals) की पूर्ति करना। एक हिन्दू जन्म से ही अनेक प्रकार के संस्कारों का निर्वाह करता है जिनमें उसे विभिन्न प्रकार की भूमिकाएं निभानी पड़ती है।। संस्कृति का अथ विभिन्न संस्कारों के द्वारा सामाजिक जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति हैं यह परिमार्जन की एक प्रक्रिया है। संस्कारों को सम्पन्न करके की मानव एक श्रेष्ठ सामाजिक प्राणी बनता है।

संस्कृति मानव की श्रेष्ठतम धरोहर है, जिसकी सहायता से यह पीढ़ी–दर–पीढ़ी आगे बढ़ता जा रहा है। बिना संस्कृति के मानव समाज का निर्माण सम्भव नहीं हैं। संस्कृति जीवन की सम्पूर्ण विधि है तथा मानसिक, सामाजिक एवं भैतिक साधन है, जिससे कि जीवन की सम्पूर्ण विधि बनी हुयी है।

ई. डब्ल्यू टेलर कहते हैं कि "संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा एवं ऐसी ही अन्य क्षमताओं एवं आदतों का समावेश है जो मनुष्य द्वारा समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त की जाती है।" वे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि संस्कृति सामाजिक–विरासत है, समाज द्वारा मानव को दिया हुआ एक अमूल्य उपहार है। इस सामाजिक विरासत को हम भौतिक और अभौतिक या मूर्त व अमूर्त भागों में बांट सकते हैं।

आर. पिडिंगटन के अनुसार "संस्कृति उन भौतिक एवं बौद्धिक साधनों और कारणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।"

लिंटन कहते हैं कि "सस्कृति ज्ञान, धारणाएं एवं प्राकृतिक व्यवहार के प्रतिमानों का योग है, जिसके सभी भागीदार होते हैं तथा जो हस्तान्तरित की जाती है।"

संस्कृति मनुष्य को अपने माता–पिता द्वारा उसी प्रकार वंशानुक्रमण में प्राप्त नहीं होती जिस प्रकार से शरीर रचना प्राप्त होती है। संस्कृति मानव के सीखे हुए व्यवहार–प्रतिमानों का योग है। एक मनुष्य जिस समाज में पैदा होता है, उसी संस्कृति को धीरे–धीरे सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है। एक मनुष्य का पालन पोषण किसी सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। संस्कृति में प्रचलित रीति–रिवाजों, धर्म, दर्शन, कला, संगीत, विज्ञान, प्रथाओं व व्यवहारों की छाप व्यक्ति के व्यक्तिव पर पड़ती है। ऊपरी तौर पर हमें विभिन्न संस्कृतियों में भिन्नता दिखायी देती है। लेकिन यदि हम गहराई से देखें तो अन्ततः उनमें पर्याप्त समानताएं पायी जाती है। सभी समाजों में हमे धर्म, परिवार, विवाह, नातेदारी, प्रभाएं, जनरीतियां आदि देखने को मिलती हैं, चाहे इनके बाहरी आवरण में अन्तर ही क्यों न हो। प्रत्येक संस्कृति में कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो सभी संस्कृतियों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं।

सारांश में हम कह सकते हैं कि संस्कृति मानव द्वारा निर्मित भौतिक एवं अभौतिक सभी तत्वों को सम्मिलित करते हैं। मानव ही एक ऐसा प्राणी हैं जो संस्कृति का धनी है। संस्कृति विहीन मानव पशु समान है। संस्कृति ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण करती है, उसके व्यवहार को निर्देशित एवं नियन्त्रित करती है तथा व्यवसाय को आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करती है। समाज में व्यक्तियों का व्यवहार संस्कृति का प्रतिबिम्ब माना जाता है। संस्कृति के प्रमुख तत्व सामाजिक प्रतिमानों–जनरीतियां या लोग रीतियां लोकाचार व रूढ़ियां, प्रथाएं, परम्पराएं, कानून, फैशन एवं धुन आदि तथा लोगों की पसन्द या नापसन्द, वरीयताएं, रूचि, आदर्श, विश्वास व मान्यताएं व ज्ञान आदि का सामाजिक जीवन व व्यवहार पर प्रतिपल प्रभाव पड़ता रहता है। जीवन के प्रति आराम व सुविधा का दृष्टिकोण भौतिक वस्तुओं का अधिकतम उपभोग का नजरिया तथा उच्च जीवन–स्तर जीने की अभिलाषा भौतिकवादी संस्कृति है। समाज में यह दृष्टिकोण व्यवसाय में उत्पादन वृद्धि, विविधता व नये

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परिवर्तन लाने के लिए उद्दीपन का कार्य करता है। सामाजिक उपभोग का प्रारूप व प्रवृति, लोगो का जीवन–स्तर, जीवन ढंग, क्रय विक्रय, सम्पत्ति निर्माण, लाभ, पूंजी विनियोग आदि के बारे में प्रचलित धारणाओं पर विचार करना तथा निर्णय करते समय इन्हें ध्यान में रखना व्यवसाय के लिए सदैव उपयोगी रहता है।

सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य (Socio-Cultural Values)

व्यवसाय के लिये यह आवश्यक है कि वह व्यावसायिक वातावरण के अध्ययन के साथ–साथ, व्यावसायिक वातवरण के ही एक अभिन्न अंग–सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण को समझे और अपने व्यावसायिक निर्णयों को इन पर आधारित रखें। किसी भी देश के सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण से अलग हट जाने का अर्थ है उस देश के लोगों से और फिर अपने ही व्यवसाय से अलग हट जाना। सामाजिक वातावरण में सामाजिक संरचना, सामाजिक संस्थाएं तथा धर्म ऐसे आधारभूत स्तम्भ हैं जो कि व्यवसाय को हर कदम पर आगे बढ़ने में सहायक होते हैं।

व्यावसायकि निर्णयों को प्रभावित करने में सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों तथा प्रतिमानों का बहुत बड़ा हाथ होता है। सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य ऐसे मानक के रूप में होते हैं जिनके द्वारा हम किसी व्यवहार, वस्तु, भावना, लक्ष्य एवं साधन को उचित एवं अनुचित, अच्छा या बुरा तथा सही या गलत ठहराते हैं। मूल्य एक प्रकार से सामाजिक माप है, जिसके आधार पर किसी वस्तु का मूल्यांकन किया जाता है। इन मूल्यों को मनुष्य सामाजीकरण की क्रिया द्वारा ही सीखता है और आन्तरीकृत करता है, तथा उन्हीं के अनुरूप आचरण करने की सोचता है।

डॉ. राधाकमल मुखर्जी का मत है कि यदि कोई समाज अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है तो उसे व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्यों की नियमित रूप से पूर्ति करनी चाहिए।

एच.एम. जांनसन के अनुसार– "मूल्य को एक धारणा या मानक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और जिसके द्वारा वस्तुओं की एक साथ तुलना की जाती है और वे एक–दूसरे के सन्दर्भ में स्वीकार या अस्वीकार की जाती है। वांछित या अवांछित, अच्छी या बुरी, अधिक या कम उचित मानी जाती है।" जानसन का मत है कि मूल्यों के द्वारा ही सभी प्रकार की वस्तु, भावना, विचार, क्रिया, गुण, पदार्थ, व्यक्ति, समूह, लक्ष्य एवं साधन आदि का मूल्यांकन किया जाता है।

एस.एफ. जे. बुड्स के अनुसार–"सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य वे सामान्य सिद्धान्त हैं जो दिन–प्रतिदिन के जीवन में व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। ये मानव व्यवहार को दिशा प्रदान करने के साथ–साथ अपने आप में आदर्श एवं उद्देश्य भी हैं। सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य में केवल यही नहीं देखा जाता कि क्या होना चाहिए, बल्कि यह भी कि क्या सही है एवं क्या गलत है।"

सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों की विशेषताएं (Characteristics of Social-Cultural Values) :

सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. **सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य सामूहिक होते हैं–** मूल्यों का किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध नहीं होता वरन् ये सारे समाज व समूह की धरोहर होते हैं। इनका निर्माण किसी एक व्यक्ति के द्वारा नहीं किया जाता बल्कि ये सामूहिक अन्तः क्रिया की उपज एवं परिणाम होते हैं।
2. **सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य समूह सामाजिक मानक हैं–** मानक का तात्पर्य है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु या व्यवहार को मापते हें। सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य भी मानक हैं जिनके द्वारा हम हिकसी वस्तु

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यवहार, लक्ष्य, साधन, गुण आदि को अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित, वांछित या अवांछित ठहराते हैं। इन्हें हम उच्च–स्तरीय मानदण्ड कह सकते हैं।

3. **सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य समाज द्वारा स्वीकार किये जाते हैं–** समूह एवं समाज के सभी लोगों में इन मूल्यों के बारे में एकमतता पायी जाती हे। वे सभी उन्हें स्वीकार करते हैं और मान्यता प्रदान करते हैं। अतः जब भी सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों का उल्लंघन होता है तो समूह द्वारा तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है।

4. **सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य भावनाओं से जुड़े होते हैं–** मूल्यों के साथ लोगों की भावनाएं जुड़ी हुई रहती हैं। यही कारण है कि वे व्यक्तिगत हितों को तिलांजलि देकर भी इनकी रक्षा करते हैं। देश–भक्ति के मूल्यों की रक्षा के लिए ही लोग युद्ध में अपना बलिदान देते हैं। स्वतन्त्रता के मूल्यों की रक्षा के लिए भारतीयों ने हंसते–हंसते अपने प्राणों को न्यौछावर कर दिया, सीने पर गोलियां झेली और जेल के सींखचों में बन्द हुए तथा घोर यातनाएं सहन की।

5. **सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य गतिशील होते हैं–** सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य हमेशाा एक समान नहीं होते। समय और परिस्थितियों के साथ इनमें परिवर्तन आता रहता है। मूल्यों का उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं की पूति करना है, अतः जब समाज की आवश्यकताएं बदलती हैं, तो ये मूल्य भी परिवर्तित होते हैं।

6. **सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य भिन्नताएं लिये होते हैं–** प्रत्येक समाज एवं संस्कृति के अपने मूल्य होते हैं जो दूसरे समाज और संस्कृति के मूल्यों से भिन्न होते हैं। भारतीय समाज व संस्कृति एवं पश्चिमी समाजों व संस्कृतियों के मूल्य में भिन्नता पायी जाती है। हम पदों प्रथा, जाति अन्तर्विवाह, सतीप्रथा, विधवा विवाह–निषेध आदि प्रथाओं को उचित मानते हैं, किन्तु पश्चिमी समाजों में इन्हें उचित नहीं माना जाता। इसी प्रकार से सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों में भिन्नता पायी जाती है। परिवार, विवाह, जाति, शिक्षा, व्यापार, खेल–कूद, मनोरंजन आदि सभी से सम्बन्धित मूल्यों में भिन्नता पायी जाती है।

7. **सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य सामाजिक कल्याण व आवश्यकताओं के लिए महत्वपूर्ण–** सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य समूह के कल्याण एवं आवश्यकताओं की पूति के लिए आवश्यक है। इनके अनुरूप आचरण करने पर ही समूह में संगठन, एकमतता व एकरूपता बनी रहती है। इनके अभाव में सामाजिक सम्बन्धों में समानता लाना कठिन है।

सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य का प्रभाव (Sociao-Cultural Values affect Social & Business Life) :

मनुष्य की आधारभूत इच्छाओं तथा आवश्यकताओं की संन्तुष्टि करने में मूल्यों का महत्वपूर्ण हाथ होता है। सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य समाज में एकता, संगठन व नियन्त्रण बनाये रखते हैं। सामाजिक व व्यावसायिक जीवन को सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य निम्नांकित ढंग से प्रभावित करते हैं–

1. **भौतिक संस्कृति का महत्व बढ़ाते हैं–** भौतिक संस्कृति के कुछ तत्व समाज के कुछ लोगों या समूहों के लिए चाहे इतने अधिक महत्वपूर्ण न भी हों किन्तु उनके पीछे सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य कार्यरत रहते हैं। अतः लोग उन वस्तुओं को रखने में रूचि रखते हैं। उदाहरण के लिए टेलीविजन, कार, टेलीफोन कुछ व्यक्तियों के लिए अधिक उपयोग न होने पर भी वे उन्हें इसलिए रखना चाहते हैं कि इनसे उन लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है, क्योंकि सामाजिक मूल्य इन वस्तुओं को उपयोगी एवं प्रतिष्ठा सूचक मानते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. **समाज में एकरूपता उत्पन्न करते हैं–** सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य, सामाजिक सम्बन्धों एवं व्यवहारों में एकरूपता उत्पन्न करते हैं। सभी व्यक्ति समाज में प्रचलित मूल्यों के अनुसार ही आचरण करते हैं। इसके परिणामस्वरूप सभी के व्यवहारों में समानता उत्पन्न होती है।

3. **व्यक्ति के व्यवहार एवं प्रगति के लिए महत्वपूर्ण–** सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों का व्यक्तिगत जीवन से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य सारे समूह एवं समाज की देन होते हैं। सामाजीकरण द्वारा व्यक्ति इन मूल्यों को आत्मसात करता है और अपने व्यवहार, आचरण एवं जीवन को उनके अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है। इसके परिणामस्वरूप वह सामाजिक परिस्थितियों से सरलता से अनुकूलन कर लेता है। व्यक्ति का समूह के साथ एकीकरण, व्यक्ति की सुरक्षा एवं समाजिक प्रगति दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

4. **सामाजिक भूमिकाओं का निर्देशन–**सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य यह तय करते हैं कि एक व्यक्ति किसी विशिष्ट प्रस्थिति में किस प्रकार की भूमिका निभायेगा। समाज उससे किस प्रकार का आचरण करने की अपेक्षा करता है। स्थान व काल के अनुसार भूमिकाओं में भिन्नता पायी जाती है। भारत में पति–पत्नी की भूमिका अमेरिका व इंग्लैण्ड में पति–पत्नी की भूमिका से इसलिए भिन्न हैं कि इन देशें की मूल्य व्यवस्था में अन्तर है।

5. **सामाजिक संगठन व एकीकरण में सहायक–** सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य समाज में एक विशिष्ट प्रकार के स्वीकृत एवं प्रतिमानित व्यवहारों को जन्म देते हैं। समूह के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे इन प्रतिमानित व्यवहारों के अनुरूप आचारण करें। समान आदर्शों, व्यवहारों एवं मूल्यों को स्वीकार करने के कारण आत्मीयता एवं सामुदायिक भावना का विकास होता है।

6. **सामाजिक क्षमता का मूल्यांकन–** सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा ही समाज के व्यक्ति यह जानने में समर्थ होते हैं कि दूसरे लोगों की दृष्टि में उनका क्या स्थान है? वे संस्तरण में कहाँ स्थित है? समूह एवं व्यक्ति की क्षमता का मूल्यांकन सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर ही किया जाता है।

7. **सामाजिक नियन्त्रण में सहायक–** सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य सामाजिक नियन्त्रण के सशक्त साधन हैं। ये व्यक्ति एवं समूह पर एक निश्चित प्रकार का व्यवहार करने या न करने के लिए दबाव डालते हैं। समाज द्वारा मूल्यों के विपरीत आचरण करने वालों के लिए दण्ड तथा मूल्यों के अनुरूप आचरण करने वालों की प्रशंसा व सराहना की जाती है।

8. **बदलते हुए समय में परिवर्तित मूल्यों को अपनाना–** सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य समय व परिस्थिति के साथ यदि परिवर्तित नहीं होते हैं या समाज के लोगों की आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक होते हैं, तो लोगों द्वारा ऐसे मूल्यों का खण्डन एवं त्याग करना प्रारम्भ हो जाता है और समयानुकूल नये मूल्यों को अपनाने लगते हैं। भारतीय समाज में प्रचलित बाल–विवाह, सतीप्रथा, पर्दा प्रथा, जागीर–प्रथा, अस्पृश्यता आदि से सम्बन्धित पुराने रूढ़िवादी मूल्य वर्तमान परिस्थितियों से मेल नहीं खाते, अतः व्यक्तियों ने धीरे–धीरे इन मूल्यों का त्याग किया है तथा नये मूल्यों का अपनाया है।

9. **मानव आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक–** सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि ये मानव के शारीरिक, सामाजिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही समय–समय पर अनेक आविष्कार होते रहे हैं। और वे समाज तथा संस्कृतिके अंग बनते गये हैं। समाज और संस्कृति ही वह तय करते हैं कि मानव आपनी अनन्त आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार से करेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

10. **मानवीय मूल्य व आदर्शों के स्रोत–** प्रत्येक समाज व संस्कृति में मानव व्यवहार एवं आचरण से सम्बन्धित कुछ मूल्य एवं आदर्श होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति इन मूल्यों एवं आदर्शों के अनुरूप ही समाज में व्यवहार करता है। आदर्शों एवं मूल्यों की अवहेलना करने पर व्यक्ति को सामाजिक विरस्कार का सामना करना पड़ता है।

11. **सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं–** प्रत्येक मनुष्य किसी व किसी समाज व संस्कृति में जन्म लेता है। उसका पालन–पोषण वहां के सामाजिक–सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति के अभौतिक तत्वों जैसे प्रथाओं, रीति–रिवाजों, धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान आदि को ग्रहण करता है और अपने व्यक्तित्व में उनको आत्मसात करता है। व्यक्तियों में भिन्नता समाज एवं संस्कृति में भिन्नता के कारण ही होती है।

सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य की व्यवहार या अवस्थाएं (Sociao-Cultural Values Attitudes) :

सामाजिक अवस्थाओं के आधार पर हम किसी मानवीय व्यवहार को उचित या अनुचित ठहराते हैं। मनुष्य में मूलरूप सेवे सभी प्रवृत्तियां पायी जाती हैं जो पशुओं में होती है। किन्तु पशुओं का व्यवहार केवल शारीरिक आवश्यकताओं से प्रभावित होता है, जबकि मनुष्य का व्यवहार अंशतः शारीरिक व अंशतः सांस्कृतिक व्यवस्था द्वारा प्रभावित होता है। सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाये रखने के लिए ही मनुष्य ने अनेक प्रथाओं, रीति–रिवाजों, परिपाटियों, रूढ़ियों एवं कानून आदि की रचना की है। यदि हम सामाजिक जीवन पर दृष्टि डालें तो पायेंगे कि सामाजिक सम्बन्धों में आश्चर्यजनक व्यवस्था एवं स्थिरता पायी जाती है। परिवार के सदस्यों, कारखाने के कर्मचारियों, किसी संगठन के पदाधिकारियों द्वारा कुछ निश्चित कर्त्तव्यों, दायित्वों के बीच एक व्यवस्था देखने को मिलती है।वे एक–दूसरे के प्रति सामान्यतः मनमाना व निरंकुश आचरण नहीं करते। सामाजिक अवस्था जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पाये जाते हैं इनकी संख्या अनगिनत है, इनकी सूची बनाना भी कठिन है। खाने–पीने, उठने–बैठने, नृत्य करने, हंसने, रोने, सोने, गाने लिखने, बोलने, स्वागत करने, सत्कार करने, बिदा करने आदि सभी से सम्बन्धित सामाजिक अवस्थाएं पायी जाती हैं। ये हमारे व्यवहार के पथ–प्रदर्शक है। व्यवसाय को इन्हें समझने की बहुत आवश्यकता है। व्यवसाय को यह भी जानना आवश्यक है कि लोग किस प्रकार का सामाजिक आचरण करते हैं और किन–किन सामाजिक मूल्यों व अवस्थाओं से बंधे हुए हैं।

किंग्सले डेविस ने सामाजिक अवस्थाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया है–जन रीतियाँ, रूढ़ियाँ, कानून, संस्थाएं, प्रथाएं, नैतिकता और धर्म, परिपाटी, शिष्टाचार, फैशन तथा धुन। इनके प्रभावों को जानने के लिए कुछ प्रमुख प्रकार के अवस्थाओं का विवेचन किया जा रहा है।

जनरीतियाँ अथवा लोकरीतियाँ (Folkways) – समाज में मान्यता प्राप्त अथवा स्वीकृत व्यवहार की प्रणालियाँ हैं। ये दैनिक जीवन के व्यवहार के वे प्रतिमान हैं जो अनियोजित अथवा बिना किसी तार्किक विचार के ही सामान्यतः समूह में अचेतन रूप में उत्पन्न हो जाते हैं जनरीतियाँ या लोकरीतियाँ हमें सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण में रहने की कला सिखलाती है। सभी युगों तथा संस्कृति की सभी अवस्थाओं में मनुष्यों के सम्पूर्ण जीवन पर प्रारम्भिक नियन्त्रण जनरीतियों के एक विशाल समूह से होता रहता है। बार–बार दोहराने के कारण जनरीतियाँ हमारे कार्य करने और विचार करने की आदत बन जाती हैं तथा वे हमारे मानसिक जीवन की अकथनीय सीमाओं का निर्माण करती हैं। जनरीतियों में केवल ऊपरी सतह में ही परिवर्तन होते हैं। ये अपेक्षाकृत स्थायी इसलिए रहती हैं कि इनका हस्तान्तरण पीढ़ी–दर–पीढ़ी होता रहता है। अनेक जनरीतियों को मनुष्य बचपन से ही अपनाने लगता है व सीखता रहता है और वे इसी तरह व्यवहार का स्थायी भाग बन जाती है। दैनिक जीवन में हम हजारों तरह की जनरीतियों का पालन करते हैं। खाने–पीने, नहाने, सोने, उठने–बैठने, अभिवादन करने, वस्त्र पहनने आदि के लिए प्रत्येक समाज में जनरीतियाँ प्रचलित हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लोकाचार एवं रूढ़ियां (Mores)– मानव व्यवहार के वे अवस्था हैं जिन्हें समूह कल्याणकारी समझता है तथा इनका उल्लंघन करना समाज का अपमान करना समझा जाता है। ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते रहते हैं, जिन्हें बिना किसी विचार या तर्क के स्वीकार कर लिया जाता है। लोकाचार के प्रमुख उदाहरणों में एक विवाह प्रथा, सती प्रथा, पतिव्रता, पति सेवा, मातृ–पितृ सेवा, बाल–विवाह, विधवा विवाह निषेध, सम्पत्ति उत्तराधिकार के नियम, पत्नी का पति के प्रति वफादार होना आदि उल्लेखनीय हैं। इनका पालन समूह के हित में माना जाता है और उल्लंघन करने पर तीव्र प्रतिक्रियाएं होती हैं।

प्रथाएं (Customs)–ये भी अनौपचारिक सामाजिक प्रतिमान हैं। जब जनरीतियों को पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित किया जाता है तो वे प्रथाएं बन जाती हैं। प्रथाएं हमारे संस्कृति की धरोहर मानी जाती हैं, उनमें तर्क का होना आवश्यक नहीं है। प्रथाएं ऐसाी जनरीतियां हैं जो एक पीढ़ी तक निरन्तर प्रचलन में रहते हुए अनौपचारिक मान्यता प्राप्त कर लेती हैं। पिता की आज्ञा का पालन करना, अपनी ही जाति में विवाह करना, मृत्युभोज, खुशी के अवसरों पर आयोजित प्रीतिभोज, बाल–विवाह, दहेज आदि अनेक प्रथाएं हमारे समाज में प्रचलित हैं।

परम्परा (Tradition)– यह मनुष्य को विरासत में मिलती हैं। व्यक्ति के जीवनयापन के लिए अनेक भौतिक व अभौतिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। यह सब उसे समाज द्वारा प्रदत्त सामाजिक विरासत के रूप में मिलता है। घड़ी, पेन, रेडियों, टेलीवीजन, पंखा, वस्त्र आदि हजारों प्रकार की वस्तुएं भौतिक विरासत हैं जबकि धर्म, विचार, दर्शन, प्रथाएं, नियम, रीति–रिवाज आदि अभौतिक सामाजिक विरासत है।

फैशन तथा धुन (Fashion and Fad) – ये समाज में निरन्तर बने रहते हैं। इन्हें समझने व इनका विश्लेषण करना व्यवसाय के लिए जरूरी है। मनुष्य नवीनता एवं भिन्नता के लिए परिवर्तन चाहता है। वह प्रचीन आदर्शों का अन्धानुकरण करता हुआ भी नवीनता व परिवर्तन का प्रेमी हैं जनरीतियाँ, लोकाचार, प्रथा, परम्परा, नैतिकता, परिपाटी एवं शिष्टाचार में अपेक्षाकृत स्थायित्व पाया जाता है जबकि फैशन पूर्णतः अस्थायी प्रकृति के होते हैं। जब प्रथाओं का पतन होता है तब फैशल का अधिक प्रचलन होता है। औद्योगीकरण की वृद्धि के साथ–साथ फैशन का प्रचलन भी बढ़ा है। फैशन व्यक्ति की रूचि को पोषित करता है। फैशन के साथ चलने में आदमी अपने आपको जागरूक व आधुनिक महसूस करता है। फैशन के साथ चलने में आदमी अपने आपको जागरूक व आधुनिक महसूस करता है। धुन भी फैशन ही है पर वह फैशन से भी अधिक तीव्रता को व्यक्त करती है। जब कोई भी नया डिजायन निकलता है तो पहले कुछ ही लोग उसे अपनाते हैं और इसे ही धुन कहते हैं। यदि इसे अधिक लोग अपनाने लग जाते हैं तो यह फैशन कहलाने लगता है। धुन, फैशन की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील, आडम्बरपूर्ण, अतार्किक तथा अस्थायी होती है।

व्यवसाय का सामाजिक उत्तरदायित्व (Social Responsibilities of Business):

सामाजिक स्तर पर व्यवसाय का संचालित रहना, लाभ, पूंजी की उपलब्धि एवं श्रम की प्राप्ति समाज पर ही निर्भर है। आज व्यवसय में नियोजित पूंजी अंशधारियों, बैंक, निगम एवं सरकार की है। लाभ का विभाजन एवं हानि की जोखिम के भागीदार सब हैं। अतः आज का व्यवसाय किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं हैं बल्कि समाज की सम्पत्ति समझी जाती है। आज समाज के सहयोग के अभाव में कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी भी व्यावसायिक संगठन का निर्माण नहीं कर सकता। व्यवसाय समाज में समाज के लिए तथा समाज के व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। आधुनिक समाज भी व्यवसाय पर अत्यधिक निर्भर है तथा यह निर्भरता इतनी अधिक बढ़ती जा रही है कि व्यावसायिक गतिविधियों में थोड़ी सी रूकावट भी समाज को अत्यधिक कठिनाइयों में उलझा देती है। समाज की भी व्यवसाय के अभाव में निस्सहाय सी स्थिति हो जाती है। आज आवश्यकता की छोटी से छोटी वस्तु के लिए व्यवसायी पर ही निर्भरता है। आवास, भोजन, वस्त्र आदि की आवयश्यकताएं व्यवसायियों के माध्यम से पूरी की जाती है। व्यवसाय से ही समाज में रोजगार प्राप्त होता है, समाज का जीवनस्तर ऊंचा होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यवसाय और समाज एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यवहार के सामाजिक उत्तरदायित्व की प्रमुख विशेषताएं (Characteristics of Social Responsobilities of Business)

व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

1. **व्यावसायिक प्रतिष्ठानों से सम्बन्धित** – व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा व्यावसाययिक प्रतिष्ठाानों से सम्बन्धित है। ऐसे प्रतिष्ठान जो कि व्यावसायिक क्रियाएं नहीं करते जैसे–धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक प्रतिष्ठान, वे इस विचारधारा के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं है। व्यावसायिक प्रतिष्ठान का तात्पर्य उनसे हैं जो वस्तुओं व सेवाओं के क्रय–विक्रय, उत्पादन व वितरण का कार्य करते हैं और समाज की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने का निरन्तर प्रयास करते हैं।

2. **निजी व सार्वजनिक दोनों व्यावसायिक संगठनों पर लागू होती है**– व्यवसाय के सामाजिक उत्तदायित्वों को निजी और सार्वजनिक दोनों ही प्रकार के व्यावसायिक संगठनों के द्वारा पूरा करना चाहिए।

3. **व्यक्तिगत एवं सामाजिक हितों में सामंजस्य**– व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करते समय व्यवसायी को अपने व्यक्तिगत हित और सामाजिक दोनों को ध्यान में रखना आवश्यक है। दोनों में संतुलन की स्थिति ही लाभप्रद है। किसी भी पक्ष के हित की अवहेलना से उस व्यवसायी का अस्तित्व संकट में आ सकता है।

4. **सामाजिक उत्तरदायित्व द्विमार्गी क्रिया है**– व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने का दायित्व जितना व्यवसायी का है उतना ही समाज का व्यवसाय के प्रति भी है। यदि समाज व्यवसाय की उपेक्षा करता है तो व्यवसाय भी समाज की उपेक्षा करना प्रारम्भ कर देगा। यह स्थिति दोनों के हितों के लिए हानिकारक है।

5. **प्रन्यास सिद्धान्त का पुष्टिकरण**– प्रन्यास सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक हितों को मान्यता प्रदान करना आवश्यक होता है। व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा के अन्तर्गत प्रदान करना आवश्यक है। वह समाज के विभिन्न साधनों का उपयोग अपने व्यवसाय के संचालन में करता है अतः उसे समाज के विभिनन वर्गों के हितों को मान्यता प्रदान करते हुए ही अपना कार्य करना चाहिए। यह सिद्धान्त स्वर्गीय महात्मा गांधी की देन है।

6. **सामाजिक उत्तरदायित्व** –,क सतत् क्रिया– व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व पूर्ण करने की क्रिया तब तक निरन्तर चलती रहती है जब तक कि व्यवसाय का अस्तित्व रहता है। यह ऐसी क्रिया नहीं है जिसे एक बार पूरा करने के पश्चात पुनः करने की आवश्यकता ही न पड़े।

7. **व्यावसायिक विकास के लिए आवश्यक**– व्यवसायी द्वारा सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह से व्यवसाय का विकास होता है तथा निरन्तर सफलता प्राप्त होती रहती है। किसी भी व्यवसायी द्वारा सामाजिक उत्तरदायित्वों की अवहेलना से समाज में असंतोष व्याप्त होगा तथा वह व्यवसाय सफलतापूर्वक नहीं संचालित हो सकता।

8. **सामाजिक उत्तरदायित्व का क्षेत्र व्यापक है**–व्यावसायिक सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह से व्यवसाय का विकास होता है तथा निरन्तर सफलता प्राप्त होती रहती है। किसी भी व्यवसयी द्वारा सामाजिक उत्तरदायित्वों की अवहेलना से समाज में असंतोष व्याप्त होगा तथा वह व्यवसाय सफलतापूर्वक नहीं संचालित हो सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

9. **नवीन सामाजिक व आर्थिक मूल्यों की स्थापना–** सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा समाज में नये आदर्श तथा नये मूल्य स्थापित करती है। जैसे–व्यावसायिक नैतिकता, विकेन्द्रीकरण, आर्थिक सत्ता का न्यायपूर्ण वितरण, श्रेष्ठ जीवन के प्रति श्रद्धा आदि।

10. **सामाजिक शक्ति प्राप्त करने का साधन–** सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह से व्यवसाय की सामाजिक सत्ता में वृद्धि हो जाती है तथा व्यवसय सामाजिक परिवर्तनों की सफलतापूर्वक ला सकता है। कीथ डेविस के अनुसार, "यदि व्यवसायी सामाजिक उत्तरदायित्वों की अवहेलना करता है तो उसकी सामाजिक शक्ति कम हो जाती है।

11. **नीतिशास्त्र से गहरा सम्बन्ध–** सामाजिक दायित्वों का निर्वाह एक नीतिगत आचरण है अर्थात यह व्यवसाय के नैतिक मापदण्डों से जुड़ा हुआ है। यह दायित्व–भावना निजी नैतिकता एवं लोग नैतिकता के बीच की दूरी को समाप्त करती है। व्यवसाय अपने व्यवहारों में उच्च नैतिकता की ओर बढ़ता है।

12. **विधिकरण के दायरे सेपरे एक नैसर्गिक भावना–** सामाजिक उत्तरदायित्व को भावना व्यवसायी में नैसर्गिक रूप से उत्पन्न होती है, इसे कानूनों के दायरे में बांध पाना असम्भव है। वस्तुतः यह दायित्व निर्वाह पूर्ण रूप से स्वचेतना, स्वैच्छिक, स्वीकार्यता, अन्तःसम्बन्धों के बोध पर निर्भर करता है।

व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्वों का क्षेत्र (Scope of Social Responsibilities of Business)

व्यवसाय के संचालन एवं सफलता में समाज के अनेक वर्गों का योगदान होता है। उन सभी वर्गों के प्रति व्यवसाय के भी कुछ उत्तरदायित्व होते हैं। निम्नलिखित वर्गों के प्रति व्यवसाय के दायित्वों का विस्तृत वर्णन निम्नलिखित है–

१. **स्वयं के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Self)** – व्यवसायी ने जिस उद्देश्य और लक्ष्य प्राप्ति के लिए व्यवसाय प्रारम्भ किया है उसे पूरा करने हेतु निरन्तर प्रयास करते रहना उसका प्रथम दायित्व है। डोनाल्ड के. डेविड का यह कथन उपयुक्त है कि "व्यवसाय का कुशलतापूर्वक संचालन करना व्यवसायी का प्रथम दायित्व है।" यदि कोई व्यवसायी अपने स्वयं के प्रति दायित्व की अवहेलना करता है तो उससे यह आशा भी नहीं की जाती है कि वह समाज के अन्य विभिन्न वर्गों के प्रति उत्तरदायित्व को पूरा करने का प्रयास करेगा। संक्षेप में व्यवसायी के स्वयं के प्रति निम्नलिखित उत्तरदायित्व हैं–

1. **व्यवसाय का कुशल संचालन–** व्यवसायी कुछ उद्देश्यों व लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु व्यवसाय प्रारम्भ करता है। इनकी प्राप्ति तभी संभव है जबकि व्यवसाय का कुशलता से संचालन किया जाये। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी योग्यता और चातुर्य का पूर्ण योगदान व्यवसाय में करे। कुशल संचालन तभी सम्भव है जबकि व्यवसाय में लगे हुए विभिन्न साधनों का सर्वोत्तम उपयोग कर सकने की क्षमता व्यवसायी में हो।

2. **जनहित को प्राथमिकता प्रदान करना–** व्यवसायी का दायित्व है कि वह स्वयं के हित के साथ–साथ जनहित को प्राथमिकता प्रदान करे। आधुनिक युग में जनहित की अवहेलना कने वाला व्यवसायी अपने अस्तित्व को स्वयं ही समाप्त करने की भूल करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. **उपयुक्त बाजारों में प्रवेश करना–** व्यवसायी का यह उत्तरदायित्व है कि वह अपनी वस्तु का विक्रय व वितरण किसी एक ही क्षेत्र की सीमा में ही न बांधे रखे, बल्कि निरन्तर उसका यह प्रयास होना चाहिए कि वह देश में तथा विश्व के अनेक नवीन बाजारों में अपनी वस्तु के विक्रय के लिए प्रयत्नशील हो। नवीन बाजारों में प्रवेश से ही अधिक बिक्री, अधिक लाभ तथा राष्ट्र की ख्याति में वृद्धि होती है।

4. **एकाधिकार की भावना न आने देना–** व्यवसाय के विकास के साथ व्यवसायी में एकाधिकार स्थापित करने की भावना बढ़ती जाती है। यह भावना अथवा प्रवृत्ति सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा के बिल्कुल विपरीत हे। प्रत्येक व्यवसायी में अधिकाधिक लाभार्जन करने की भावनाही एकाधिकर के दोष का मूल कारण होता है, अतः यदि अधिकतम लाभ प्राप्ति की इच्छा पर व्यवसायी रोक लगाने में समर्थ हो सकता है तो एकाधिकार की प्रवृत्ति स्वतः रुक जाना सम्भव है।

5. **व्यवसाय की ख्याति को कायम रखना–** प्रत्येक व्यवसायी का यह उत्तरदायित्व है कि अपने व्यवसाय की ख्याति की निरन्तर वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहे। व्यवसाय की ख्याति वस्तुओं के गुण, किस्म पर यथेष्ठ रूप से निरन्तर ध्यान देने से होती है लेकिन व्यवसायी अपनी नैतिकता, परिश्रम व चरित्र से भी व्यवसाय की ख्याति वृद्धि में विशेष योगदान देता है। व्यवसायी के इन्हीं गुणों से उपभोक्ता प्रभावित होते हैं।

6. **व्यवसाय में लाभ की स्थिति बनाये रखना–**व्यवसाय लाभ के लिए किया जाता है। यह सोचना गलत है कि लाभ और सामाजिक दायित्व एक दूसरे के विरोधी हैं। लाभ व्यवसाय के अस्तित्व व विकास के लिए आवश्यक है। व्यवसायी का लक्ष्य उचित लाभ पर व्यवसाय को संचालित करना होना चाहिए।

7. **स्वस्थ प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन देना–** स्वस्थ प्रतिस्पर्धा जन–समुदाय, व्यवसाय और राष्ट्र के लिए हितकारी होती है। इससे व्यवसय का विकास होता है, रोजगार के साधनों में वृद्धि होती है तथा समाज को सस्ती व अच्छी वस्तुएं व सेवाएं उपलब्ध होती हैं। अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित करे।

8. **व्यवसाय की क्षमता का विस्तार–** व्यवसायी का स्वयं के प्रति यह उत्तरदायित्व है कि अपने द्वारा संचालित व्यवसाय का विस्तार निरन्तर करता रहे। विस्तार की एक सीमा अवश्य होती है लेकिन वह प्रत्येक व्यवसाय के लिए उपलब्ध मानवीय व भौतिक साधनों द्वारा निर्धारित होती है। व्यवसायी के लिए उपयुक्त है कि वह अपने व्यवसाय के विकास का आदर्श आकार तय करे।

9. **अनुसन्धाान को प्रोत्साहित करना–**व्यवसाय के क्षेत्र में अनुसन्धान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। व्यवसाय का विकास व राष्ट्र की समृद्धि काफी सीमा तक व्यावसायिक क्षेत्र के अनुसन्धान पर निर्भर होती हैं इससे वस्तुओं व सेवाओं में निरन्तर सुधार होता रहता है। व्यवसायी का यह सामाजिक उत्तरदायित्व है कि स्वयं द्वारा उत्पादित व अन्य वस्तुओं व सेवाओं में अनुसन्धान द्वारा उनकी किस्म, उपयोगिता व मात्रा में वृद्धि करता रहे।

10. **सुरक्षित कोषों का निर्माण–** व्यवसायी का अपने व्यवसाय के प्रति यह दायित्व है कि वह भविष्य की अनिश्चितताओं और संयन्त्र आदि के पुनर्स्थापन हेतु निश्चित मात्रा में लाभ के एक हिस्से को सुरक्षित कोष में जमा करके जिससे व्यवसाय को मन्दी तथा अन्य संकट के समय सुरक्षा प्रदान की जा सके। इन कोषों का निर्माण आधुनिक युग में सामान्यतः प्रत्येक व्यवसायी करता है लेकिन इसे दायित्व मानते हुए उचित मात्रा में निर्मित करना वांछनीय है।

11. **विनियोग पर उचित प्रत्यय–** व्यवसाय ने जो पूंजी अपनी संस्था में विनियोजित की है, उसका सदुपयोग करते हुये उचित प्रतिफिल अर्जित किया जाना चाहिये। इस हेतु व्यवसायी द्वारा उचित लाभ कमाया जाना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12. **आधनिकीकरण एवं यन्त्रीकरण–** प्रत्येक व्यवसायी का अपने प्रति यह प्राथमिक दायित्व है कि अपनी संस्था में आधुनिक यन्त्रों उपकरणों व मशीनों को स्थान दे। साथ ही, इस प्रतिस्पर्धी वातावरण में संस्था को आधुनिक बनाये रखे, तथा नवीन कार्य पद्धतियों, प्रतिक्रियाओं को अपनाये।

२. **स्वामियों के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Owners)** – व्यवसाय के स्वरूप के अनुसार, संस्था के साझेदार अथवा अंशधारी उसके स्वामी हो सकते हैं। आधुनिक युग में बड़ी विशालकाय संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियों की स्थापना से स्वामी और व्यवसायी में पृथक्ता पायी जाती है। अतः स्वामियों के प्रति उत्तरदायित्व विशेषतः कम्पनी व्यवसाय में महत्वपूर्ण बन जाता है जहाँ स्वामियों की संख्या अधिक होती है और अंशधारी का निजी और प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्यवसाय से नहीं होता है। दूर–दूर तक फैले हुए अंशधारी अपने धन के विनियोग पर अधिक से अधिक लाभांश प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं। स्वामियों के प्रति व्यवसायी के उत्तरदायित्वों का वर्णन निम्नलिखित है–

१. **विनियोग पर उचित प्रतिफल–** संयुक्त स्कन्ध कम्पनी विधान के अन्तर्गत रजिस्टर्ड कम्पनी का यह उत्तरदायित्व है कि वह अंशधारियों द्वारा विनियोजित पूंजी पर उचित लाभांश प्रदान करें तथा अंश पूंजी का मूल्य ह्रास न होने दें। इसी प्रकार साझेदारी एवं एकाकी व्यापारी संगठन के अन्तर्गत भी प्रबन्धकों का यह दायित्व है कि नियोजित पूंजी पर विनियोजिकों को उचित प्रतिफल निरन्तर प्राप्त होता रहे।

२. **स्वामियों की पूंजी की सुरक्षा–** व्यवसायी का यह प्रमुख उत्तरदायित्व है कि वह स्वामियों द्वारा लगायी गयी पूंजी की पूर्ण सुरक्षा करने का प्रयास निरन्तर करता रहे। विनियोजक अपनी पूंजी सद्विश्वास में तथा इस आश्वस्ता के साथ विनियोजित करते हैं। कि एक ट्रस्टी की तरह उनकी पूंजी व्यवसायी के पास सुरक्षित रहेगी। व्यवसायी को उनके इस विश्वास को निरन्तर बनाये रखना चाहिए। पूंजी की सुरक्षा से नवीन विनियोजक अपनी बचायी गयी पूंजी के विनियोजन के लिए प्रोत्साहित होते हैं। व्यवसाय का विकास होता है तथा देश में रोजगार के साधनों में वृद्धि होती है।

३. **व्यवसायिक संस्था की सूचनाओं से अवगत कराना–** व्यवसायी का यह दायित्व है कि संस्था की प्रत्येक गति–विधि से स्वामी को समय–समय पर अवगत कराता रहे इसके लिए समाचार पत्रों के प्रकाशन प्रगति रिपोर्ट तथा सभाओं का आयोजन किया जा सकता है। यद्यपि इन सब के लिए संयुक्त स्कन्ध पूंजी कम्पनी के लिए वैधानिक नियम बने हुए हैं लेकिन एकल व्यवसाय व साझेदारी संस्थाओं में भी इस उत्तरदायित्व को उचित प्रकार से निभाया जाना चाहिए।

४. **लाभांश का समयानुसार भुगतान करना–** लाभ अर्जन और लाभांश घोषित करना मात्र ही पर्याप्त नहीं है बल्कि उचित व निश्चित समय में उसका भुगतान करना भी प्रमुख दायित्व है। समय पर भुगतान न होने से पूंजी विनियोजक उदानसीनता का रूख संस्था के प्रति अपनाने लगते हैं।

५. **उचित व्यवहार करना**–व्यवसायी का यह महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है कि अपने स्वामियों के प्रति उचित आदर व सम्मान प्रदर्शित करे उसके प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार कदापि उचित नहीं हैं। यद्यपि वे पूंजी विनियोजित की जाने वाली संस्था में सक्रिय रूप से कर्मचारियों की भांति योगदान नहीं दे रहे हैं लेकिन जिस पूंजी का विनियोजन कर रहे हैं उसे उन्होंने भी परिश्रम से प्राप्त किया था। पूर्वाधिकार अंशधारियों और साधारण अंशधारियों के साथ किये जाने वाले व्यवहार में कोई भेद–भाव नहीं किया जाना चाहिए।

६. **अंशों को अंश बाजार मे सूचीबद्ध कराना–** अंश बाजार में अंश सूचीबद्ध किये जाने पर ही समाचार पत्रों में उनका दैनिक मूल्य प्रकाशित होता है इसी के माध्यम से अंशधारी अपने अंश के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्रय–विक्रय मूल्य की जानकारी प्राप्त करता है। अतः कम्पनी संचालकों का यह दायित्व है कि वह अंश विक्रय के पश्चात शीघ्रातिशीघ्र उन्हें अंश बाजार में सूचीबद्ध करा दें।

७. अन्य दायित्व–

(i) अंशधारियों को इच्छित प्रलेखों की (सशुल्क या निःशुल्क) प्रतिलिपियां प्रदान करना।

(ii) अंशधारियों से सम्बन्धित विभिन्न सूचनाएं प्रसारित करना।

(iii) नवीन अंश निर्गमित करते समय पुराने अंशधारियों को क्रय में प्राथमिकता देना।

(iv) व्यवसाय के स्वामियों के पूंजी का विनियोग पूर्व निर्धारित लक्ष्यों में ही करना।

(v) स्वामियों को संस्था की प्रगति की सूचना देना।

(vi) स्वामियों के निर्देशों का पालन करना।

३. ऋणदाताओं के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Creditors)

व्यवसाय के विकास के लिए अथवा आर्थिक संकट के समय ऋणों की आवश्यकता होती है। ऋणों की प्राप्ति जन–निक्षेप, बैंक से ऋण अथवा सम्पत्ति की प्रतिभूति पर हो सकती है। व्यवसायी के इन ऋणदाताओं के प्रति भी दायित्व होते हैं जिनका वर्णन निम्नलिखित हैं–

1. **ऋण राशि का सदुपयोग करना–** व्यवसाय का दायित्व है कि ऋणों से प्राप्त राशि का प्रयोग अच्छे कार्यों के लिए ही करें। इनके प्रयोग में किसी प्रकार की अमितव्ययिता नहीं होनी चाहिए।
2. **ब्याज व मूल धनराशि का निश्चित समय पर भुगतान–** व्यवसाय का दायित्व है कि ब्याज की राशि निश्चित अवधि तक निरन्तर देता रहे। मूल राशि का भुगतान भी व्यवसयी द्वारा निर्धारित अवधि पर कर दिया जाना चाहिए अन्यथा अवधि बढ़ाने हेतु ऋणदाता की पूर्व स्वीकृत प्राप्त कर लेनी चाहिए। इससे व्यवसायी की ख्याति में वृद्धि होती है तथा ऋणदाता निश्चित अवधि के पश्चात अपनी राशि प्राप्ति के लिए आश्वस्त रहता है।
3. **गोपनीयता रखना–** व्यवसायी का दायित्व है कि वह ऋणदाता का नाम तथा उसके द्वारा दी गयी राशि के विषय में बिना उसकी स्वीकृति प्राप्त किये किसी अन्य पक्ष को कोई जानकारी नहीं दें।

4. अन्य दायित्व–

(i) ऋणदाताओं को समय –समय पर उनके द्वारा मांगी गयी सूचनाएं प्रदान करना।

(ii) ऋणदाताओं की प्रतिष्ठा में वृद्धि का प्रयास करना।

(iii) ऋणदाताओं से मधुर सम्बन्ध बनाये रखना।

(iv) उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त करना।

(v) व्यवसायिक नैतिकता का पालन करना।

४. निक्षेपकर्ताओं के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Depositors)

कई कम्पनियों में जनता की बचत को स्वीकार करने व इस पर ब्याज देने की सुविधाएं दे रखी हैं। निक्षेपकर्ताओं के प्रति व्यवसाय के निम्नलिखित सामाजिक दायित्व हैं–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. **जमा धन की सुरक्षा–** जोखिम पूर्ण परियोजनाओं में जमा धन का विनियोग नहीं किया जाना चाहिए। जमाओं को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखने की नीति अपनायी जानी चाहिए।

2. **ब्याज का नियमित भुगतान–** जमाकर्ताओं को ऊंची ब्याजदर पर भुगतान किया जाना चाहिए। ब्याज की रकम निर्धारित रूप से खाते में जमा की जा सकती है।

3. **धन निकलवाने की सुविधा–** जमाकर्ताओं को यह सुविधा रहनी चाहिए कि वे अपने धन को सरलता से जब चाहें निकलवा सकें।

4. **विशेष सुविधाएं–** निक्षेपकर्ताओं के लिए उचित ब्याज व धन निकासी की सुविधा के अतिरिक्त अन्य आकर्षण वाली योजनाएं भी बनायी जानी चाहिए।

५. कर्मचारियों के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Employees)

अमेरिका की जनरल फोर्ड कारपोरेशन के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री फ्रान्सिस (Francis, Ex-President, General Food Corporation of U.S.A.) के शब्द कर्मचारियों के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण है "आप एक व्यक्ति समय खरीद सकते हैं उसकी शारीरिक उपस्थिति खरीद सकते हैं निश्चित मात्रा में मानव की स्नायु गति खरीद सकते हैं लेकिन व्यक्ति का उत्साह उसकी स्वामिभक्ति, उसकी आत्मा निष्ठा, तथा भावना नहीं खरीद सकते। कर्मचारियों के प्रति व्यवसायी का दृष्टिकोण उपेक्षापूर्ण कदापि नहीं होना चाहिए। वे केवल कर्मचारी मात्र नहीं हैं। बल्कि पूंजी निर्माण उनका सक्रिय योगदान होता है। कर्मचारी किसी संस्था की अमूल्य धरोहर है। यदि किसी संस्था के कर्मचारी कुशल हैं और वे अपना पूर्ण योगदान संस्था के हितों के लिए करते हैं तो वह संस्था न्यूनतम लागत पर अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सकती है। संस्था की सफलता कर्मचारी पर निर्भर करती है।

कर्मचारियों व श्रमिकों के प्रति व्यवसायी के निम्नलिखित उत्तरदायित्व हैं–

1. **कार्य के अनुसार उचित पारिश्रमिक देना–** कर्मचारी को पारिश्रमिक कितना मिलना चाहिए यह प्रश्न आज भी अनिर्णीत है। अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार कलकत्ता में आवश्यकता पर आधारित वेतन दिये जाने पर विशेष बल दिया जाता है। जबकि कुछ का मत कार्यानुसार पारिश्रमिक दिये जाने के पक्ष में हैं। व्यवसायी का यह दायित्व है कि कर्मचारी को उसके कार्य के बदले दोनों ही मतों में सामंजस्य स्थापित करते हुए उचित पारिश्रमिक प्रदान करें। इससे कर्मचारियों को उचित जीवन यापन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने में सुविधा हो सकेगी।

2. **कार्य के समय दुर्घटनाग्रस्त होने पर क्षतिपूर्ति–** व्यवसायी का दायित्व है कि वह कर्मचारी को कार्य करते समय दुर्घटनाग्रास्त होने पर उसकी उचित क्षतिपूर्ति करे यद्यपि इस सम्बन्ध में वैधानिक नियम बने हुए हैं लेकिन उनकी अवहेलना न करके उनका उचित रूप से पालन करना चाहिए।

3. **लाभ का उचित भाग देना–** व्यवसायी का यह दायित्व है कि वह कर्मचारी को भी लाभ में भागीदारी प्रदान करे। भागीदारी कितनी हो इस सम्बन्ध में कर्मचारी प्रतिनिधियों से परामर्श करके उचित हल निकालना सदैव लाभकारी होता है। इससे कर्मचारी व श्रमिक अपने–आप में संस्था का स्वामी होने का आभास करते हैं तथा उनमें संस्था के प्रति अधिक निष्ठा व कर्तव्य भावना जागृत होती है।

4. **कर्मचारी संगठन का सम्मान–** व्यवसायी का यह दायित्व है कि वह विधिवत् गठित कर्मचारी संगठन को मान्यता प्रदान करे उनके न्यायसंगत ट्रेड यूनियन अधिकारों का आद करें तथा उनकी कार्य प्रणाली में किसी प्रकार की कोई बाधा उत्पन्न न करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. **अच्छी कार्य–दशाएं उपलब्ध करना–** व्यवसायी का यह सामाजिक उत्तरदायित्व का एक अंग है कि वह कर्मचारियों के कार्य करने के स्थान पर समुचित शुद्ध वायु, प्रकाश तथा तापक्रम की व्यवस्था प्रदान करें। इसके अतिरिक्त उन्हें मनोरंजन, विश्राम, कैण्टीन तथा पीने के पानी की व्यवस्था भी करनी चाहिए। इन सब सुविधाओं से केवल कर्मचारी ही लाभान्वित नहीं होते हैं बल्कि इससे तो उनकी कार्यक्षमता व कार्यकुशलता में वृद्धि होती है उसके अप्रत्यक्ष रूप से वास्तविक लाभ व्यवसायी व संस्था को भी प्राप्त होता है।

6. **कर्मचारी पदोन्नति के अवसर प्रदान करना–** कर्मचारियों को उनकी योग्यता, संस्था में कार्य अवधि एवं अनुभव के आधार पर उचित रूप से पदोनति के अवसर प्रदान किया जाना व्यवसायी का दायित्व है। पदोन्नति प्राप्ति की सम्भावना कर्मचारियों को श्रेष्ठ कार्य करने हेतु प्रेरित करती है तथा संस्था के प्रति अपनत्व की भावना पनपाती है।

7. **कर्मचारियों की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का ध्यान रखना–** प्रत्येक कर्मचारी अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा को आपात नहीं पहुंचने देता है। मानवोचित व्यवहार भी यही है कि प्रत्येक व्यक्ति के सम्मान की रक्षा की जाय। कर्मचारी अपने अधिकारियों व नियोजक के आदेशानुसार संस्था में कार्य करता है। लेकिन इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि वह गुलाम है उसे खरीद लिया गया है। आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति सजग है। व्यवसायी का यह उत्तरदायित्व है कि वह कर्मचारी के साथ मानवीय व्यवहार करे तथा उसे उचित सम्मान प्रदान करें।

8. **प्रबन्ध में हिस्सा प्रदान करना–** व्यावसायिक वस्तुओं के उत्पादन व निर्माण में सर्वाधिक योगदान कर्मचारियों व श्रमिकों का होता है। लेकिन संस्था की नीति, लक्ष्य, उद्देश्य तथा प्रबन्धकीय कार्यों में इनसे परामर्श न किया जाना कदापि न्योचित व तर्क–संगत नहीं माना जा सकता। व्यवसायी का यह दायित्व है कि वह प्रबन्ध के विभिन्न स्तरों पर कर्मचारी व श्रमिक प्रतिनिधियों को सम्मिलित करे तथा उनके विचारों, सुझावों पर विचार करके उन्हें कार्यरूप प्रदान करने का प्रयास किया जावे।

9. **कर्मचारी प्रशिक्षण व विकास कार्यक्रम बनाना–** आधुनिक युग में दिन–प्रतिदिन नवीन तकनीकों तथ कार्य करने के वैज्ञानिक तरीकों का आविष्कार किया जाता है। प्रगतिशील व्यवसायी का यह दायित्व है कि वह नवीन तकनीकों की जानकारी प्रदान करने हेतु कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करे। इससे कर्मचारियों का विकास होगा तथा संस्था को कुशल प्रशिक्षित कर्मचारियों से अपना उत्पादन बढ़ाने में अपव्यय रोकने में तथा लाभ वृद्धि में सहायता प्राप्त होगी।

10. **अन्य–** उपर्युक्त वर्णित सामाजिक उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त अन्य दायित्व इस प्रकार है–

(i) कर्मचारियों की नौकरी को स्थायी करना।

(ii) निष्पक्ष भर्ती व चयन क्रिया को अपनाना।

(iii) उपयोगी सुझाव देने हेतु कर्मचारी को प्रोत्साहित करना

(iv) कर्मचारी मनोबल को बढ़ावा देना

(v) कार्य की प्रशंसा करना

(vi) व्यवसाय के कार्यक्रमों, नीतियों, लक्ष्यों आदि की शीघ्र व उचित सूचना देने की व्यवस्था करना।

(vii) आचार–संहिता का निर्माण करना।

(viii) सरकार द्वारा बनाये गये श्रम सम्बन्धी विभिन्न नियमों का पालन करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ix) कर्मचारी सेवा शर्तों का निर्माण व उनका पालन करना तथा

(x) मधुर औद्योगिक सम्बन्ध स्थापित करना।

६. ग्राहकों के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Customers)

व्यवसायी का सबसे अधिक सम्पर्क ग्राहक से रहता है। आज जो भी व्यवसायी अपना व्यवसाय प्रारम्भ करता है तो सर्वप्रथम उसके मस्तिष्क में यही बात उत्पन्न होती है कि वह ग्राहकों की कितनी सेवा करेगा तथा कितना लाभ प्राप्त करेगा। आधुनिक बाजार ग्राहकोन्मुखी है, इसलिए बाजार में वही वस्तु बेची जा सकती है जो ग्राहकों की रूचि के अनुकूल हो तथा ग्राहक को सन्तुष्टि प्रदान कर सकती हों इसलिए व्यावसायिक जगत में यह मानाा जाता है कि "ग्राहक बाजार का राजा होता है।" ग्राहक हमेशा सही होता हैं व्यवसायी को स्पष्ट रूप से विदित है क वह ग्राहक की सेवा करके ही लाभ प्राप्त कर सकता है अर्थात अपने व्यवसाय को ठीक प्रकार चला सकता है अन्यथा नहीं। इसलिए कहा जाता है कि एक व्यवसायी का प्रथम उद्देश्य सेवा व सहायक उद्देश्य लाभ होना चाहिए।

७. पूर्तिकर्ताओं के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Suppliers)

व्यवसायी का पूर्तिकर्ताओं के प्रति भी दायित्व है जो व्यवसाय के लिए कच्चे माल, कार्यालय सामग्री, उपकरण, यन्त्र आदि की पूर्ति करते है जिससे व्यवसाय का कार्य सुचारू रूप से संचालित होने में सहायता प्राप्त होती है। व्यवसायी का यह दायित्व है कि वह माल पूर्तिकर्ताओं को उनके माल का न्यायोचित मूल्य प्रदान करें। पूर्तिकर्ताओं को उचित समयपर भुगतान करना चाहिए। व्यवसायी को माल की किस्म तथा नवीनताओं की जानकारी हेतु प्रोत्साहित करना चाहिए। व्यवसायी को पूर्तिकर्ताओं में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा बनाये रखना जरूरी होता है जिससे उसकी पूर्ति एवं किस्म का सुधार समय–समय पर होता रहे।

८. पेशेवर संस्थाओं के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Professional Institutions)

आधुनिक युग व्यावसायिक संस्थाओं का प्रबन्ध एवं संचालन पेशेवर विशेषज्ञों की सेवाओं के आधार पर होता है। पेशेवर संस्थाएं जैसे (Institute of Chartered Accountants of India), भारतीय कम्पनी सचिव संस्थान, प्रबन्ध–संस्थान (Management Institues), Institute of Cost and Works Accountants of India आदि व्यवसाय के लिए अनेक प्रकार की सेवायें एवं संसाधन प्रदान करती हैं। फलस्वरूप इन पेशेवर संस्थाओं के प्रति व्यवसाय के निम्नलिखित उत्तरदायित्व हैं–

1. पेशेवर संस्थाओं की सदस्यता स्वीकार करना।
2. पेशेवर संस्थाओं द्वारा आयोजित सभाओं गोष्ठियों एवं सम्मेलनों में भाग लेना व मूल्यवान विचार प्रस्तुत करना।
3. पेशेवर संस्थाओं से शिक्षा प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले अभ्यर्थियों से रोजगार में प्राथमिकता प्रदान करना।
4. पेशेवर संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पत्र–पत्रिकाओं व साहित्य को मंगवाना एवं उनमें अपने लेख आदि लिखना।
5. पेशेवर संस्थाओं को आर्थिक सहायता एवं अनुदान प्रदान करना।
6. पेशेवर संस्थाओं के अनुसन्धान, शोध–परियोजनाओं आदि में भागीदारी प्रदान करना व अन्य सहयोग देना।
7. इन संस्थाओं में निर्मित आचार संहिताओं का पालन करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8. इन संस्थाओं के साथ शैक्षणिक व व्यावसायिक समन्वय बनाये रखना।

9. इन संस्थाओं के डिप्लोमा व उपाधियों को प्राप्त करने के लिए अपने कार्यरत कर्मचारियों को अनुमति प्रदान करना।

९. अन्य व्यावसायिक संस्थाओं के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Other Business Institutions)

स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का व्यावसायिक क्षेत्र में होना राष्ट्र और समाज के हित में होता है लेकिन इसके विपरीत अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा व्यवसाय के लिए तो घातक होती ही है इससे समाज और राष्ट्र का कभी अहित होता है इसलिए व्यवसायियों का दायित्व है कि वे समान व्यवसाय करने वाली संस्थाओं के साथ अहित कर प्रतिस्पर्धा न करें। समान व्यवसाय में संलग्न व्यवसायियों को अपने सम्बन्ध बनाये रखने हेतु एक दूसरे के प्रति दायित्वों को पूरा करना चाहिए।

१०. स्थानीय समुदाय के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Local Community)

स्थानीय समुदाय से तात्पर्य उस स्थान के व्यक्तियों से है जहां पर उद्योग अथवा व्यवसाय स्थापित है। व्यवसायी समुदाय का अभिन्न अंग होता है। अतः समुदाय के प्रति भी इसके दायित्व होते हैं। आधुनिक युग में समुदाय यह मांग करता है कि उद्योगपति रोजगार देने में स्थानीय व्यक्तियों को प्राथमिकता प्रदान करें। व्यवसाय में कारखानो से निकलने वाला धुआं आदि स्थानीय बस्तियों में पहुंचता है तो इससे स्थानीय जनता के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव होगा तथा वातावरण को प्रदूषण से बचाना चाहिए। व्यवसायी को अपने सामर्थ्य व साधनों के अनुसार शिक्षा, खेलकूद तथा सांस्कृतिक गतिविधियों के प्रोत्साहन में भी महत्वपूर्ण योगदान देना चाहिए। उद्योग की स्थापना करके समुदाय को रोजगार में प्राथमिकता देना चाहिए।

११. सरकार के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards Government)

प्रत्येक राष्ट्रीय देश के व्यवसाय के विकास और विस्तार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती है। राष्ट्रीय एवं सामाजिक हितों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए व्यवसायिक और आर्थिक क्षेत्र में सरकार का हस्तक्षेप भी आवश्यक होता है यह हस्तक्षेप प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में हो सकता है। सरकार द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना तथा व्यापारिक कार्य करना प्रत्यक्ष हस्तक्षेप है। निजी क्षेत्र को विकसित करने हेतु बाह्य प्रतिस्पर्धा से संरक्षण प्रदान करने हेतु जब सरकार द्वारा नियम व विधान बनाये जाते हैं तब यह अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप होता है। आधुनिक युग में सरकार द्वारा देश में शांति व व्यवस्था बनाये रखने के लिए राष्ट्रीय आय में वृद्धि के लिए तथा जन समुदाय की प्रमुख आवश्यकता पूर्ति हेतु प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से व्यावसायकि क्रियाओं में हस्तक्षेप करती है। व्यवसाय को भी सरकार की नीतियों के अनुकूल कार्य करते हुए सरकार के प्रति अपने दायित्वों को यथा संभव पूरा करना चाहिए।

१२. विश्व-समाज के प्रति दायित्व (Responsibilities Towards World Society)

व्यवसाय की सीमायें राष्ट्रीय स्तर तक न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गयी हैं। एक देश में होने वाले व्यवसायिक प्रगति इसमें सहायक हो सकती है। एक विकसित देश का यह कर्तव्य है कि वह व्यावसायिक क्षेत्र में नये –नये उद्योग स्थापित करे। अतः आधुनिक युग में व्यावसायी का दायित्व अपने देश के निवासियों के विभिन्न वर्गों के साथ–साथ अन्य राष्ट्र के कर्मचारियों उपभोक्ताओं तथा अन्य संस्थाओं के प्रति भी प्रमुख प्रति भी है। प्रमुख रूप से व्यवसायी के निम्नलिखित दायित्व है–

(i) मित्र राष्ट्रों के व्यवसायियों को सहयोग प्रदान करना।

(ii) उचित मूल्यों पर वस्तु व सेवाओं का क्रय–विक्रय करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(iii) अविकसित व अर्द्धविकसित राष्ट्रों में व्यवसाय व उद्योग की स्थापना करना व विकास करना।

(iv) विदेशी व्यवसायियों से स्वस्थ प्रतिस्पर्धा बनाये रखना।

(v) व्यावसायिक क्षेत्र की नवीन तकनीकी जानकारियों का आदान–प्रदान करना।

(vi) व्यावसायिक व राजनैतिक रूप से सम्बन्धित राष्ट्रों के नियमों व उपनियमों का पालन करना।

(vii) विश्व व्यापार को बढ़ाने में यथा संभव योगदान देना।

(viii) अन्य देशों की राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था में हस्तक्षेप न करना।

(ix) अन्य देशों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रतिकूल प्रभाव न डालना।

(x) अन्य राष्ट्र की गोपनीयता को प्रभावित न करना।

(xi) व्यावसायिक सौदों में नैतिकता बनाये रखना।

(xii) बहुराष्ट्रीय नियमों को चाहिए कि वे आचरण संहिताओं का पालना करते रहें।

व्यावसायिक नीतिशास्त्र (Business Ethics)

मूलतः नैतिकता एवं नीतिशास्त्र का एक ही अर्थ रहा हैं। नैतिकता लैटिन भाषा के शब्द (moralis) तथा नीतिशास्त्र ग्रीक भाषा के शब्द (ethos) से निकले हैं। दोनों ही मूल शब्दों का अर्थ 'रीति अथवा जीवन पद्धति' से था। पहले इन दोनों शब्दों का प्रयोग भी समान अर्थों में होता था लेकिन आज नैतिकता का प्रयोग सदाचार तथा नीतिशास्त्र का प्रयोग नैतिक व्यवहार, या व्यवस्था या ऐसे कार्यों के लिए होता है जिनका अनुसरण किया जाता है।

व्यावसायिक नीतिशास्त्र, व्यावसायिक आचरण एवं व्यवहार में दृष्टिगत होता है। व्यवसाय की नीतियों का निर्धारण इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि वे सामाजिक हितों की अभिवृद्धि एवं पूर्ति में सहायक हों, न कि केवल व्यावसायकि हितों की पूर्ति के लिए ही निश्चित हों। व्यावसायिक नीतिशास्त्र, वास्तव में व्यवसाय के आचरण एवं व्यवहार की एक सम्पूर्ण संहिता होती है। व्यावसायिक संहिताएं विभिन्न देशों, समाजों एवं व्यवसायों की विभिनन दशाओं वं परिस्थितियों पर आधारित होती है। सामाजिक एवं व्यावसायिक अपेक्षाएं भी इनके निर्धारण में एक महत्वपूर्ण योगदान देती है।

व्यावसायिक नीतिशास्त्र की मूल मान्यताएं (Basic Assumptions of Business Ethics)

प्रत्येक विषय अपनी कुछ मान्यताओं को लिए हुआ आगे बढ़ता है। सही मान्यताओं से ही विषय का सही विकास एवं एक स्पष्ट अभिन्न रूप दृष्टिगत होता है। मान्यताएं ही एक ऐसा आधार निर्मित करती हैं जिस पर बहुउद्देशीय क्रियाओं का जन्म होता है और इस प्रकार समाज का एक महत्वपूर्ण अंग–व्यवसाय, अपने समूह के विकास एवं कार्यक्षेत्र के विस्तार में एक सही भूमिका अदा कर सकता है।

व्यावसायिक नीतिशास्त्र की कुछ प्रमुख मान्यताएं निम्नलिखित हैं–

1. व्यावसायिक नीतिशास्त्र मानवीय भावनाओं की अपेक्षा मानवीय मूल्यों तथा सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. व्यावसायिक नीतिशास्त्र सत्यता, ईमानदारी, चरित्र, विश्वास, सद्विश्वास आदि नैतिक मानकों को व्यवसाय के क्षेत्र में अपनाने पर बल देता है।
3. व्यावसायिक नीतिशास्त्र सामाजिक अनुमोदन या स्वीकृति से अप्रभावित रहता है।
4. व्यावसायिक नीतिशास्त्र के मूल में शुभकामनाओं, सद्अभिप्रायों तथा शुभ–आकांक्षाओं का आधार होता है।
5. व्यावसायिक नीतिशास्त्र की एक महत्वपूर्ण मान्यता है कि व्यवसाय की दीर्घकालीन सफलता का सम्बन्ध व्यावसायिक नीतिशास्त्र के अनुपालना से है।
6. व्यावसायिक नीतिशास्त्र मानवीय मूल्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक साधनों की व्यवस्था करता है।
7. व्यावसायिक नीतिशास्त्र सामाजिक उत्तरदायित्वों का आधार माना जाता है।
8. व्यावसायिक नीतिशास्त्र केवल भावनाओं पर आधारित नहीं होता बल्कि व्यावसायिक वातावरण की वास्तविकताओं, तथ्यात्मक परिवर्तनों, नये मूल्यों व अवधारणाओं पर आधारित होता है।
9. व्यावसायिक नीतिशास्त्र समय नीतिशास्त्र को आधार मानता है।
10. व्यावसायिक नीतिशास्त्र व्यवसाय के आर्थिक उद्देश्यों तथा अन्य उद्देश्यों के बीच सामंजस्य बनाये रखने की भावना पर अधिक बल देता है।

हमारा यह मत है कि नीतिशास्त्र, नैतिकता एवं व्यावसायिक नीतिशास्त्र भिन्न–भिन्न हैं, इसीलिए व्यावसायिक नीतिशास्त्र की संरचना और इसके बदलते हुए स्वरूप में कानून एवं राजकीय प्रभाव होता है। केवल आदर्श की बातें करने से ही व्यवहार परिवर्तन एवं संरचना नहीं हो सकती। केवल राजकीय प्रभाव से ही व्यावसायिक नीतिशास्त्र प्रभावित होता है, ऐसा भी नहीं हैं कितने ही ऐसे घटक हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर किया गया है, जो व्यावसायिक नीतिशास्त्र पर प्रभाव डालते हैं, लेकिन उनमें कानून एवं राजकीय प्रभाव एक महत्वपूर्ण संस्थागत घटक के रूप में है। मानवीय दृष्टिकोण एवं कल्याण की बात प्रतिसत्ता के अभाव में शायद ही पनप सकती थी।

व्यावसायिक नीतिशास्त्र की विशेषताएं (Characteristics of Business Ethics)

व्यावसायिक नीतिशास्त्र की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. **यह एक गतिशील दर्शन है–** यह समाज के परिवर्तनशील नैतिक मानदण्डों व आचरण के आदर्शों को समाहित करता है तथा परिवर्तनशील पर्यावरण से उपजे नये दायित्वों को स्वीकार करता है तथा इनका समावेश करता है। यह व्यवसाय के गतिशील परिवतेश का एक आधारभूत दर्शन है।
2. **नैतिक मूल्यों पर आधारित–** व्यावसायिक नीतिशास्त्र व्यावसायिक प्रक्रियाओं व आचरण में उच्च नैतिक मूल्यों, आदर्शों व प्रमापों को बनाये रखने पर जोर देता है। यह नैतिकता के उच्च स्तरों को स्वीकार करता है।
3. **सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों से प्रभावित–** व्यावसायिक नीतिशास्त्र नीतिशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओं, मानकों, मूल्यों तथा संस्कृति के मुख्य आधारों पर मूल्यों से बहुत अधिक प्रभावित रहता है। विभिन्न समाजों एवं संस्कृतियों के लोगों की आस्थाओं, विश्वासों, संस्कारों परम्पराओं तथा रीति–रिवाजों का व्यावसायिक नीतिशास्त्र पर व्यापक प्रभाव पड़ता है।
4. **व्यावसायिक नीतिशास्त्र एक प्राचीन विचारधारा है–** सभ्यता के प्रारम्भ से ही मानव का व्यवहार नैतिक नियमों की मर्यादाओं में बंधा हुआ रहा है। मानव के मन में नैतिकता व नैतिक मूल्यों के प्रति सदैव से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ही विश्वास रहा है। समाज तथा सभ्यता के विकास के साथ–साथ व्यवसाय भी विकसित होता रहा है और व्यावसायिक नीतिशास्त्र में नवीन विचारों का समावेश हुआ है।

5. **सामाजिक कल्याण से प्रेरित–** व्यावसायिक नीतिशास्त्र सामाजिक कल्याण, प्रगति व समृद्धि व सामाजिक हित की भावना से प्रेरित है। यह सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यवसाय एवं मानवीय उद्देश्यों के आपसी सम्बन्ध को निर्धारित करता है। यह जनहित की दृष्टि से व्यवसाय के आचरण के नियम निर्धारित करता है।

6. **एक सार्वभौमिक दर्शन–** व्यावसायिक नीतिशास्त्र का दर्शन सर्वव्यापी है। इसका सीधा सम्बन्ध सत्य, सद्–आचरण एवं उच्च चरित्र को बनाये रखने से है। व्यवसाय एक मानवीय संगठन है और व्यवसाय की समस्याएं भी मानवी हैं अतः जहां भी व्यावसायिक क्रियाएं होंगी पर व्यावसायिक नीतिशास्त्र सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक होगा।

7. **धर्मशास्त्र, व्यावसायिक नीतिशास्त्र का आधार है–** व्यावसायिक नीतिशास्त्र का आधार धर्मशास्त्र है । धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों जैसे ईमानदारी, मानवता, सेवा, सद्व्यवहार, मानव कल्याण आदि के आधार पर व्यावसायिक नीतिशास्त्र का विकास हुआ है। समाज में धर्म का स्थान नीति से ऊपर रहा है।

8. **नैतिक उत्तरदायित्व को मान्यता–** व्यावसायिक नीतिशास्त्र व्यवसाय में उचित एवं अनुचित व्यवहारों को मानने का एक नैतिक उत्तरदायित्व हैं इसमें व्यवसायी पर कानूनी बाध्यता नहीं होती। व्यावसायिक नीतिशास्त्र स्व–अनुभूत नैतिकता के आधार पर दायित्वों को स्वीकार करने के लिए मार्ग दर्शन करता है।

9. **लक्ष्य एवं साधनों की नैतिकता पर बल–** व्यावसायिक नीतिशास्त्र व्यवसाय में पवित्र लक्ष्यों व उनकी पूर्ति के लिए पवित्र साधनों के विवेकपूर्ण चयन से सरोकार रखता है। यह इन दोनों सिद्धान्तों को मानता है कि पवित्र लक्ष्य साधनों के लिए प्रेरित करते हैं तथा साधन ही न्योचितता को दर्शाते हैं। लक्ष्य एवं साधन दोनों का नैतिक होना आवश्यक है।

10. **सामाजिक अस्वीकृति से अप्रभावित –** व्यावसायिक नीतिशास्त्र पर समाज की स्वीकृति या अस्वीकृति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता हे। नीतिशास्त्र के अनुसार लिये गये निर्णयों की समाज द्वारा आलोचना हो सकती है। किन्तु नीतिशास्त्र आचरण मानवीय सिद्धान्तों द्वारा शासित होता है, सामाजिक अनुमोदन या अस्वीकृत से नहीं।

11. **मानवीय पहलुओं से प्रभावित–** व्यावसायिक नीतिशास्त्र का आधार सदैव मानवीय रहा है। यह उन्हीं कार्यों, निर्णयों एवं व्यवहारों का अध्ययन करता है जो मानवीय पहलुओं से जुड़े होते हैं। जो निर्णय ग्राहकों कर्मचारियों स्वामियों, सरकार, समुदाय, प्रतिस्पर्धी संस्थाओं व सामाजिक हितों को प्रभावित करने वाले होते हैं, उन्हें अच्छा या बुरा अथवा उचित या अनुचित ठहराना नीतिशास्त्र का मुख्य कार्य होता है।

व्यावसायिक नीतिशास्त्र का महत्व एवं इसकी आवश्यकता
(Need and Important of Business Ethics)

जीवन के सभी क्षेत्रों में नैतिक मूल्यों के महत्व को स्वीकार किया जाता है। व्यवसाय में नैतिक मूल्यों एवं एक नीतिशास्त्र की आवश्यकता व्यवसाय के प्रारम्भ के साथ ही शुरू हुई। हाल ही के कुछ वर्षों में व्यावसायिक नीतिशास्त्र पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा है। अब यह माना जाने लगा है कि किसी भी व्यवसाय की दीर्घकालीन सफलता का सम्बन्ध व्यावसायिक नीतिशास्त्र से होता है।

व्यावसायकि नीतिशास्त्र के महत्व व आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए टॉमस गेरेट ने लिखा है कि "जिन्हें इस बात की पर्याप्त जानकारी है कि व्यक्ति होने का क्या अर्थ है वे यह तुरन्त जान लेंगे कि नीतिशास्त्र का अध्ययन क्यों आवश्यक है एवं नीतिशास्त्र के अनुकूल होना क्यों जरूरी है। इसका कारण यह नहीं है कि अच्छा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नीतिशास्त्र और अच्छा व्यवसाय हमेशा एक दूसरे के अनुकूल होता है। आखिकार व्यावसायिक कुशलता जीवन का केवल एक अंग ही है। इसका कारण वास्तव में यह पाया गया है कि नीतिशास्त्र का अध्ययन और व्यवसाय व्यक्तियों और समाज के विकास में सहायक होता है। नीतिशास्त्र के द्वारा व्यवसाय को व्यक्ति एवं समाज के सम्पूर्ण ढाँचे में व्यवस्थित किया जाता है। आधुनिक जटिल दुनियाँ में केवल सहज प्रवृत्ति और उत्तम भावनाएं ही हमारे पथ–प्रदर्शन के लिए पर्याप्त नहीं है। साधनों और साध्यों का अध्ययन भी आवश्यक है।"

समाज में व्यावसायिक नीतिशास्त्र का महत्व एवं इसकी आवश्यकता निम्नलिखित बिन्दुओं से और सुस्पष्ट होती है–

1. नैतिक मानकों एवं सिद्धान्तों के अनुरूप कार्य करने वाले व्यवसाय में सेवा नियोजकों, कर्मचारियों तथा श्रमिक संघों में मधुर सम्बन्ध स्थापित होते हैं। परिणामस्वरूप श्रमिक अधिक उत्पादन करने में सहयोग करते हैं और व्यवसायियों की सम्पत्तियों का लाभकारी विनियोग होता है।
2. व्यावसायिक नीतिशास्त्र व्यवसायी को श्रेष्ठ सामाजिक लक्ष्यों की स्थापना करके उनकी पूर्ति के लिए नैतिक व पवित्र साधनों को अपनाने के लिए प्रेरित करता है।
3. नैतिक मानकों व सिद्धान्तों के अनुरूप कार्य करने वाले व्यवसायी को समाज का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है तथा व्यवसायी को भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संतुष्टि प्राप्त होती है।
4. व्यावसायिक नीतिशास्त्र व्यवसाय में उच्च नैतिक मानदण्डों व आदर्शों की स्थापना करता है। नीतिशास्त्र की व्यवसाय में अच्छे और बुरे, सही और गलत निर्णयों, कार्यों व साधनों की व्याख्या करता है तथा व्यवसाय का मार्गदर्शन करता है।
5. व्यावसायिक नीतिशास्त्र नैतिक मूल्यों व आदर्शों का पालन करने की राह दिखाने के माध्यम से व्यक्तियों एवं समाज के विकास में सहायक होता है। यह व्यवसाय को व्यक्ति एवं समाज के जीवन के सम्पूर्ण ढाँचे में व्यवस्थित करता है।
6. व्यावसायिक नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों का पालन किये जाने से व्यवसायियों के विक्रय में वृद्धि होती है तथा ग्राहक नियमित रूप से वस्तुएं एवं सेवाएं क्रय करते हैं और नये ग्राहकों का सृजन होता है।
7. व्यावसायिक नीतिशास्त्र व्यवसायी की क्रियाओं व आचरण को सामाजिक हितों व लक्ष्यों के अनुरूप बनाता है तथा समाज एवं इसके विभिन्न वर्गों व संस्थाओं के साथ सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास करता है।
8. व्यावसायिक नीतिशास्त्र व्यवसायी के कार्य व्यवहारों, कार्य शैली व उसकी जीवन पद्धति में सुधार लाता है।
9. व्यावसायिक नीतिशास्त्र व्यवसायी वर्ग में उत्तम भावनाओं, आकांक्षाओं, कामनाओं का संचार करता है, जागृत करता है तथा उनके व्यवहारों को विवेकपूर्ण सिद्धान्तों पर आधारित करता है।
10. नैतिक मानकों व सिद्धान्तों का जिन व्यावसायिक संस्थाओं में पालन किया जाता है उनकी साख में वृद्धि होती है तथा एक अच्छी छवि बनती है। ऐसी संस्थाओं का कार्य अधिक सुचारू रूप से चलता है, कार्यकुशलता में वृद्धि होती है तथा सामाजिक लागतों में कमी आती है।
11. व्यावसायिक नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों का जिन व्यवसायों में पालन नहीं किया जाता है उनके प्रति लोगों का विश्वास उठ जाता है और इसका व्यावसायिक निष्पादन व लाभदेयता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12. व्यावसायिक नीतिशास्त्र समय नीतिशास्त्र को भांति शक्ति एवं साहस प्रदान करता है, उलझन व भ्रामक तथा कठिन परिस्थितियों में व्यवसाय को प्रकाश दिखाता है।

व्यावसायिक नीतिशास्त्र का क्षेत्र

(Need and Important of Business Ethics)

मानवीय आवश्यकताओं, अस्तित्व की समस्याओं और व्यवहारों की अनेकरूपताओं के कारण व्यावसायिक नीतिशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है। सद्भावना व्यावसायिक नीतिशास्त्र में ऐसे कितने ही मुद्दे सम्मिलित होते जा रहे हैं जिन्हें शायद पहले आवश्यक नहीं समझा जाता था। क्योंकि पहले नैतिकता का स्तर निश्चित रूप से उच्चतम था और इस प्रकार के दोषों की सम्भावनाएं नहीं हुआ करती थी। लेकिन जैसे–जैसे औद्योगीकरण, स्वतन्त्र व्यापार, राजकीय शिथिल नियन्त्रण और निजी हित की भावनाएं अधिक पनपने लगी, वैसे–वैसे ही नेतिकता के स्तर को बनाये रखने की आश्यता अधिक अनुभव की जाने लगी। व्यावसायिक नीतिशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित किये जाने वाले विषयों का विवेचन निम्नलिखित हैं–

1. **व्यावसायिक उद्देश्य–** इस उद्देश्य में यह निश्चित था कि एक उद्यमी अथवा व्यवसायी जो अपने साहस, श्रम और जोखिम उठाकर अन्य साधनों का उपयोग कर रहा है उसे प्रतिफल के रूप में लाभ चाहिए। मुख्यतः लाभ का उद्देश्य ही व्यापक था, लेकिन परिवर्तित परिस्थितियों में आज हम देखते हैं कि लाभ के उद्देश्य के साथ–साथ और इसके अतिरिक्त, सेवा का उद्देश्य तथा मानवीय उद्देश्यों की चर्चा ही नहीं होती, बल्कि इनको अपनाने तथा क्रियान्वित करने पर भी अधिक बल दिया जाता है। व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति उत्पन्न सजगता इस बात की द्योतक है कि लाभ प्राप्ति के अलावा व्यवसाय के अन्य उद्देश्य भी आवश्यक हैं।

2. **मानवीय सम्बन्ध एवं व्यवहार–** ऑलीवर शैल्डन ने जब पहली बार 1924–25 में मानवीय सम्बन्धों की बात की थी तो व्यावसायिक वर्ग ने उसे तथा इस विचार को पूर्णतः अविवेकशील होने की संज्ञा दी थी तथा कहा गया कि यह व्यावसायिक हितों की अवहेलना की चेष्टा है। लेकिन उसके बाद से आज तक हम देखते हैं कि यह विचार किस प्रकार प्रबल हुई हौर व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की नीति का एक अभिन्न अंग बन रही है। हम जानते है कि शोषण एवं दुर्व्यवहार एक सीमा के बाद सहन नहीं किया जा सकता है।

3. **भुगतान करने की क्षमता एवं इच्छा–** कितने ही विचारकों ने यह स्पष्ट किया है कि कामगारों को उनके द्वारा किये गये कार्य के अनुसार भुगतान किया जाना चाहिए। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति रहीं है कि व्यवसायियों की क्षमता होते हुए भी उनके द्वारा पर्याप्त एवं उचित पारिश्रमिक नहीं दिया गया। प्रारम्भ में इस दिशा में सरकार की उदासीनता रही लेकिन बाद में आयोग तथा बोर्ड आदि बिठाकर व्यवसायियों को बाध्य किया गया। इन सब के पीछे मूल कारण भुगतान करने की इच्छा का अभाव रहा है वरना जिन कामगारों के द्वारा उत्पादन व्यवस्था को संचालित किया जाता है उन्हें मात्र पेट भरने के लिए राशि प्राप्त करने में भी कठिनाई और प्रयास करने की क्या जरूरत रहती।

4. **राष्ट्रीय सम्पदा और उसका वितरण**– किसी देश में अनेक घटकों के योगदान से कुल राष्ट्रीय धन, सम्पदा का निर्माण होता है। इसमें व्यवसायी एवं उद्यमियों का विशेष योगदान रहता है। उत्पादन के विभिन्न साधन है जिनमें भूमि, श्रम, पूंजी, साहस आदि प्रमुख हैं सृजित आय का वितरण सृजन के प्रयासों के अनुपात में नहीं होता। इसका परिणाम बढ़ती हुए असमान्ताएं हैं। क्या यह सब नीतिशास्त्र के अनुसार ही हो रहा है? इस सन्दर्भ में नैतिकता की व्यावहारिकता की अधिक आवश्यकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. **प्रदूषण और सामाजिक हित–** आज प्रदूषण एक समस्या बनी हुई है और व्यवसायियों के सामाजिक उत्तरदायित्व में एक प्रमुख विषय बन गया है। औद्योगीकरण और उद्योगपतियों के इस पार्श्व प्रभाव को सामाजिक लागत भी कहा जाता है। शोर, जल, वायु आदि जैसे प्रदूषण ने अनेक संकट उत्पन्न कर दिये हैं और व्यवसायियों को भी इसका एहसास कराया जा रहा है कि यह सामाजिक हित में नहीं है। महानगरों और औद्योगिक एवं व्यावसायिक केन्द्रों में इस समस्या की गहनता को देखा जा सकता है। व्यवसायी वर्ग अब इस बारें में ध्यान देने लगा है। उत्पादन एवं उपभोग क्रियाओं में इस प्रकार के प्रदूषणों को कम किये जाने के प्रयास किये जा रहे हैं।

6. **कार्य की दशाएं एवं श्रम कल्याण–** शायद यह सबसे कम ध्यान दिये जाने वाला पहलू रहा है। कारखाने के अन्दर रोशनी, वायु, जल, कार्यस्थल, आराम, सुरक्षा, स्वच्छता, महिलाओं एवं बच्चों की कार्य–कुशलता पर ध्यान, जलपान, सुविधाएं आदि पहले नगण्य थी। समय के परिवर्तन ने व्यवसायियों का ध्यान इस तरफ खींचा है, उन्हें यह महसूस कराया गया है कि ये सब उनके ही हित में है कि वे अधिक सुविधाएं प्रदान करें। आज के संयन्त्र विन्यास और पचास वर्ष पूर्व के विन्यास की तुलना में यह सब स्पष्ट हो जाता है। सुरक्षाएं बढ़ी तो साथ ही असुरक्षाओं ने भी पीछा नहीं छोड़ा। श्रम–कल्याण आवश्यक हो गया–कारखानों के अन्दर और बाहर अनेक योजनाओं को क्रियान्वित किया जाने लगा है।

7. **कार्यनिष्ठा एवं कानून प्रियता–** व्यावसायिक दीर्घायु के लिए कार्यनिष्ठा, ईमानदारी और कानून मान्यता का प्रमुख स्थान रहा है। यदि व्यवसायी वर्ग ईमानदार है तो उसे ईमानदार ही दिखना चाहिए। उसके कार्य और अभिव्यक्तियां भी ईमानदार हों। उसके विज्ञापन, विवरण, लेखे, प्रलेख एवं पत्र–व्यवहार में यह सब प्रकट होना चाहिए। भय से कानून को मानना यह कोई नैतिकता की बात नहीं है। कानून प्रियता होना जरूरी है कानून सबके लिए है। वे सभी की रक्षा करते हैं। यद्यपि कई देशों में कानून बहुत मंहगा है, यह वहां की सरकार और व्यवस्था का दोष है। व्यवसायी विधि के प्रावधानों और सामान्य कानून के आधार पर क्रियाएं निष्पादित करनी चाहिए।

8. **उपभोक्ता को संरक्षण–** अनेक देशों में उपभोक्ता संगठन कार्यरत हैं उपभोक्ता की जारूकता ने व्यवसायियों की क्रियाओं को सन्तुलित बनाये रखने में सहयोग दिया है लेकिन कितने ही देशों में ऐसा नहीं होता। यह कहकर कि उपभोक्ता राजा है, क्रेता का बाजार है, वर्षो से सामान्य उपभोक्ता को बेवकूफ बनाया गया है। व्यवसायियों ने अपने हितों की पूर्ति में समान्य जन के हितों की अवहेलना की है यह अनैतिकता की वृद्धि का परिणाम हैं उपभोक्ताओं के हितों को व्यवसायी वर्ग के द्वारा संरक्षण दिया जाना चाहिए। क्या प्रत्येक स्तर पर सरकार के आदेशों और हस्तक्षेप की आवश्यकता है। क्या किसी वर्ग का अपना स्वाभिमान नहीं होता। इन सब बातों पर विचार करना होगा और स्वतः ही व्यवसायियों को मूल्य वृद्धि, मिलावट, बहुरूप सामग्री, प्रमापित बेईमानी, आकस्मिक एवं नियोजित कमी को समाप्त कर, उपभोक्ताओं के हितों की पूर्ति में सहयोग देना चाहिए।

9. **सार्वजनिक वितरण व्यवस्था–** आज सरकार भी व्यावसायिक क्षेत्र में है। उत्पादन से लेकर विपणन एवं वितरण व्यवस्था के लिए वह भी अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकती। निजी क्षेत्र भी अपनी व्यावसायिक क्रियाएं निष्पादित कर रहा है। अब तक का अनुभव यह रहा है कि वितरण व्यवस्था में सरकार के प्रयास अपर्याप्त और अव्यवस्थित रहे हैं समस्याएं करीब–करीब वैसी ही हैं। आवश्यकता इस बात की है कि एक दोषमुक्त वितरण प्रणाली का निर्माण किया जाये तथा उसे निष्ठापूर्वक लागू किया जाये। यह नैतिकता का तकाजा है।

10. **व्यापार प्रणालियाँ–** व्यापार प्रणालियों से सम्बन्धित कुछ ऐसे नैतिक मामले हैं जिन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इनमें फुटकर एवं थोक व्यापारियों द्वारा व्यापार परिषदों और संघों का निर्माण करके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वयं के विशिष्ट वितरण कार्यों को बनाये रखना प्रमुख है। व्यापार परिषदों की सहायता से व्यवसाय के विशिष्ट कार्यों को बनाये रखने के प्रयास किये जा रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप वितरण प्रणाली सम्बन्धी नैतिक मामले उभरने लगे हैं। थोक और विभिन्न प्रकार के फुटकर व्यापार के अस्तित्व एवं विकास सम्बन्धी मामले चर्चा का विषय बन गये हैं तथा व्यावसायिक नीतिशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश कर गये हैं।

11. **व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा–** व्यावसायिक अस्तित्व को बनाये रखने और दूसरों को समाप्त करने की एक विचित्र प्रतिस्पर्धा देखी जा रही हैं। यह सभी व्यवसायियों तथा समाज के लिए हानिकारक हैं। बड़े व्यवसायी अपनी वृहदता का दुरूपयोग नैतिक मूल्यों के विरूद्ध करते हैं ऐसा नहीं होना चाहिए। प्रगति एवं विकास में सभी को स्वतन्त्रता है तब फिर इस प्रकार का गतिरोध क्यो?

12. **नीति सम्बन्धी प्रश्न–** किसी संगठन के उद्देश्यों को उसकी नीतियों द्वारा भली–भांति देखा जा सकता है। नीतियां आर्थिक विकास, स्थायित्व, राष्ट्रीय लाभांश, रोजगार, सहभागिता, क्रय–विक्रय सेविर्गीय आदि से सम्बन्धित हो सकती है। संगठन एवं समूह की येागदान क्षमताओं का अनुमान भी विभिन्न नीतियों से लगाया जा सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि नीति निर्माण, नैतिकता और नैतिक मूल्यों के आधार पर किया जाना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक वातावरण

(International Business Environment)

1. अर्थ तथा परिचय (Meaning and Introduction)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक वातावरण तेजी से बदल रहा है। सूचना तकनीक ने विश्व को संकुचित बना दिया है। आज के वैश्वीकरण के युग में कोई भी अर्थव्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के प्रभाव से अछूती नहीं रह सकती। आजकर विभिन्न राष्ट्रों पारस्परिक निर्भरता तथा आर्थिक सहयोग बढ़ रहा है। आज हर प्रकार के व्यवसाय को चाहे वह संसार के किसी भी स्थान पर क्यों न हो उसे बदलते अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को ध्यान में रखना पड़ता है। इस प्रकार भारतीय आर्थिक वातावरण अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण से प्रभावित हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण, घरेलू वातावरण व विदेशी वातावरण के पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक वातावरण में आर्थिक वातावरण, राजानीतिक वातावरण कानूनी वातावरण, सामाजिक, सांस्कृतिक वातावरण तकनीकी वातावरण व अन्य तथ्य शामिल हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व वित्त को प्रभावित करते हैं। इन सभी तत्वों में से आर्थिक तत्व सबसे महत्वपूर्ण हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक वातावरण, विदेशी निवेश, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समझौतों, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था, आर्थिक स्थितियों, आर्थिक नीतियों आदि से सम्बन्धित हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी पूंजी के प्रवाह, विदेशी तकनीक, विदेशी उद्यम, विदेशी वस्तुओं व सेवाओं, विदेशी ब्रान्ड व विदेशी मीडिया आदि से जुड़ा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का योगदान न केवल विकासशील अपितु विकसित देशों में भी भी बढ़ता जा रहा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि ये बहुराष्ट्रीय कंपनियां किस कुशलता से विभिन्न देशों के बदलते वातावरण के साथ अपने आपको ढालती हैं। उदाहरण के तौर पर IBM, Coca-cola भारत में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के रूप में कार्य कर रही हैं। INFOSYS and WIPRO अमेरिका में बिरला उद्योग, अफ्रीका में कार्यरत है। यदि ये बहुराष्ट्रीय कंपनियां अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण का विश्लेषण नहीं करती तो इन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। एक बहुराष्ट्रीय कंपनी को निम्न विभिन्न प्रकार के वातावरण से गुजरना पड़ता है–

1. घरेलू वातावरण 2. विदेशी वातावरण 3. अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. **घरेलू वातावरण (Demestic Environment)-** इसका अभिप्राय उस देश के आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी, तकनीकी व सामाजिक, सांस्कृतिक वातावरण से है। जिस देश में MNC कार्य करती है (Environment of the country in which MNC operates) मुख्य तौर पर MNC विदेशी विनियोग के प्रति सरकार की नीति उपभोक्ता रूचि व प्राथमिकताएं व घरेलू प्रतियोगिता कानूनी व्यवस्था व MNC के प्रति लोगों के दृष्टिकोण से प्रभावित होती है।

2. **विदेशी वातावरण (Foreign Environment) -** इसका अभिप्राय उस देश के वातावरण से है जहां MNC का आधार है (Environment of the Country to which MNC belong i.e. Environment of Parent Country) इसमें आधार भूत देश के राजनीतिक, आर्थिक, कानूनी, तकनीकी वातावरण आदि शामिल हैं।

3. **अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण (International Environment)**- यह वातावरण घरेलू वातावरण व विदेशी वातावरण के पारस्परिक सम्बन्ध से बनता है। आज के वैश्वीकरण के युग में सभी देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि हो रही है। चाहे वे विकसित हैं या अल्प विकसित। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ सभी देशों को मिलना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए तथा विदेशी व्यापार को नियमित करने के लिए बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाये गये हैं। जैसे– I.M.F., World Bank, GATT, W.T.O, UNCTAD आदि। ये संगठन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नियमन व विकास (Regulation and Growth) के लिए समय–समय पर निर्देश जारी करते रहते हैं इस तरह के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के मुख्य घटक हैं।

MNCs को प्रभावित करने वाला अंतर्राष्ट्रीय वातावरण

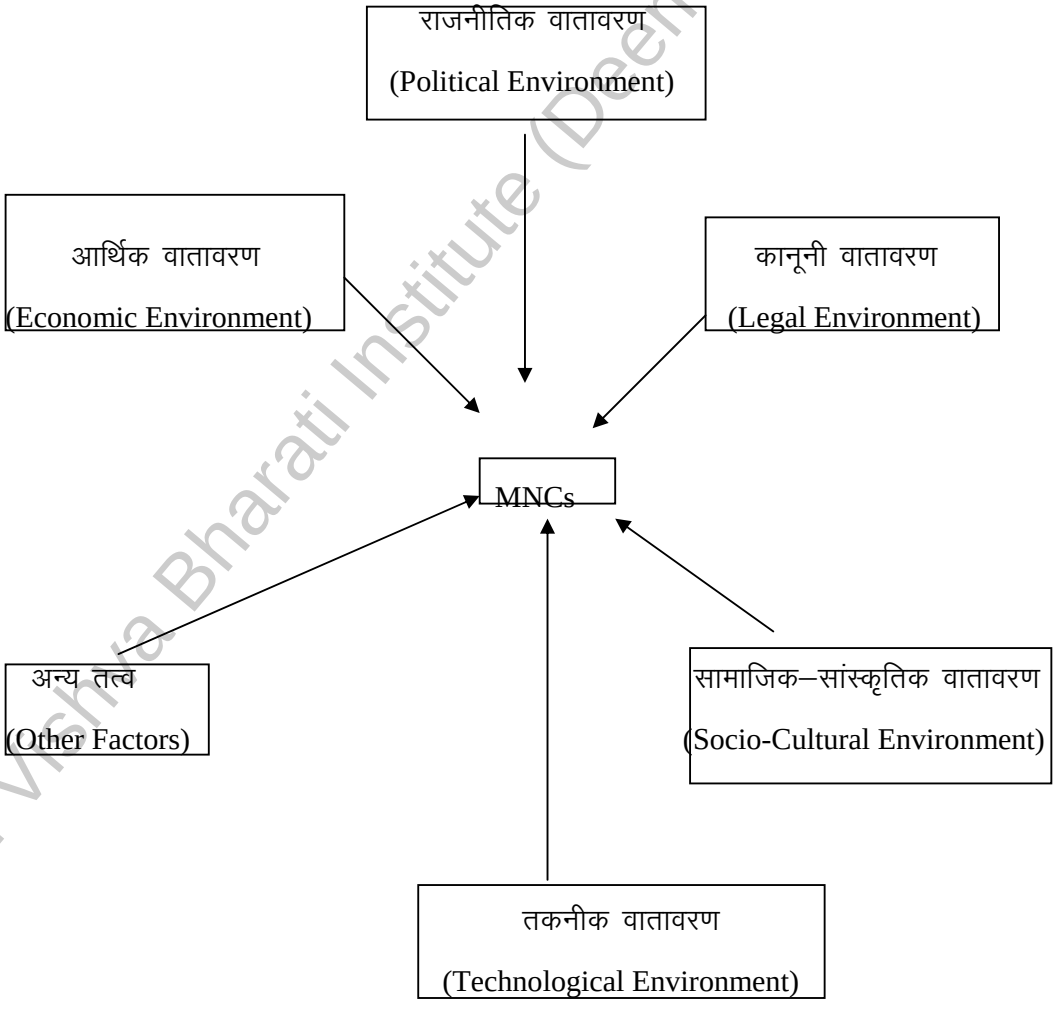

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

२. अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक वातावरण के अध्ययन की आवश्यकता (Need for the Study of International Business Environment)

अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के सभी तत्व किसी भी इकाई के वातावरण को प्रभावित करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जुड़ी व्यावसायिक इकाई की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि इस बदलते हुए अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के अनुसार अपनी नीतियों को बदला जाए। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण का प्रभाव विशेषकर ऐसी इकाईयों पर अधिक पड़ता है जो आयात–निर्यात के क्षेत्र में लगी है। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के अध्ययन का महत्व निम्न कारणों से स्पष्ट होता है:

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि (Increase in International Trade)
2. बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का बढ़ता योगदान (Increasing role of multinational corporations)
3. विदेशी निवेश में वृद्धि (Increase in foreign investment)।
4. विभिन्न देशों में वस्तुओं का स्वतन्त्र प्रवाह, अैरिफ और गैर–टैरिफ रूकावटों में कमी।
5. तकनीक का स्वतन्त्र प्रवाह (Free flowof Technology)।
6. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, जैसे–I.M.F, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन और अंकटाड का बढ़ता योगदान ।
7. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौतों में वृद्धि (Increase in International Trade Agreements)।
8. एक देश में आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी, सामाजिक–सांस्कृतिक, तकनीकी वातावरण का अन्य देशों के वातावरण पर प्रभाव ।
9. एक देश के आर्थिक संकट, व्यापार चक्रों, आतंकवाद, युद्ध आदि का अन्य देशों पर प्रभाव।

३. अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक वातावरण के घटक या प्रकार (Components/Constituents or Types of International Business Environment)

1. आर्थिक वातारण
2. राजनीतिक वातावरण
3. कानूनी वातावरण
4. सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण
5. तकनीकी वातावरण
6. अन्य तत्व

३.१ आर्थिक वातावरण (Economic Environment)

आर्थिक वातारण में उन सभी आर्थि घटकों को शामिल किया जाता है कि जो व्यवसाय को प्रभावित करते हैं। इसके अन्तर्गत आर्थिक दशाओं, आर्थिक नीतियों, आर्थिक व्यवस्था (Economic System), व्यापार –चक्र की अवस्था, विदेशी निवेश, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (I.M.F., विश्व बैंक, W.T.O. आदि), अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौतों आदि को शामिल किया जाता है। आर्थिक वातावरण, अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के अन्य सभी घटकों में से महत्वपूर्ण है। यह बहुत गतिशील होता है और विभिन्न देशों की सरकारी नीतियों व राजनीतिक दशाओं में आये बदलाव के साथ बदलता रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लगी व्यावसायिक इकाई न केवल अपने घरेलू देश के आर्थिक वातावरण से ही प्रभावित होती है बल्कि साथ–साथ ऐसे देश के आर्थिक वातावरण से भी प्रभावित होती है जिसके साथ यह इकाई आयात या निर्यात कर रही है। इसके अलावा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिये व इसका नियमन करने के लिए समय–समय पर विभिन्न नीतियां, नियम व निर्देश निर्धारित करते हैं। एक व्यापारिक इकाई को इन सभी नियमों व निर्देशों की भी जानकारी होना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आवश्यक है। महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठन इस प्रकार है– अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund), विश्व व्यापार संगठन, अंकटाड (UNCTAD) आदि। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न व्यापारिक समझौते किये जाते हैं। हाल के कुछ वर्षों में लगभग सभी विकासशील देशों में विदेशी पूंजी के प्रति दृष्टिकोण सकारात्मक हुआ हैं, अर्थात अब ये देश विदेशी पूंजी को आकर्षित करने मे लगे हैं। आजकल विकासशील देशों की बहुत सी कम्पनियां अमेरिका, इंगलैण्ड, जापान जैसे देशों के पूंजी बाजारों में धन एकत्रित कर रही हैं। आजकल विश्व–व्यापार तेजी से बढ़ रहा है, यह विभिन्न देशों में सकारात्मक आर्थिक वातावरण का सूचक है।

संक्षेप में आर्थिक वातावरण में निम्न को शामिल किया जा सकता हैः

(i) घरेलू देश का आर्थिक वातावरण

(ii) जिस देश के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाना है, उस देश का आर्थिक वातावरण

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा बनाये गये नियम

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौते

(v) विदेशी निवेश के प्रति दृष्टिकोण

(vi) व्यापार चक्र की अवस्था

(vii) विभिन्न देशों की आर्थिक नीतियां, आदि।

३.२ राजनीतिक वातावरण (Political Environment)

राजनीतिक वातावरण का व्यवसाय पर बहुत प्रभाव पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक वातवरण के संबंध में राजनीतिक वातावरण में निम्न शामिल हैः

(i) विदेशी निवेश, कोटा, टैरिफ (सीमा–शुल्क), MNCs की कार्य प्रणाली, मूल्य–नियन्त्रण, उदारीकरण, वैश्वीकरण निजीकरण आदि के बारे में सरकार का राजनीतिक दृष्टिकोण (Political Ideology of Government)

(ii) देश में राजनीतिक स्थिरता (Political Stability)।

MNC के संदर्भ में राजनैतिक वातावरण तीन तरह का हो सकता हैः

(a) **उस देश का राजनीतिक वातावरण जहां MNC कार्यरत है (Political Environment of the Country in which MNC operates) :** प्रायः अल्पविकसित देश विदेशी कम्पनियों को और विदेशी पूंजी निवेश को अविश्वास की नजर से देखते हैं। कई बार अल्पविकसित देश यह आरोप लगाते हैं कि ये विदेशी कंपनियां अधिक लाभ कमा रही है, करों की चोरी कर रही हैं, या लाभों का विदेशों में प्रत्यावर्तन (Repartriation of profits to their parent country) कर रही हैं आदि। परन्तु अब बहुत से देशों ने विदेशी पूंजी को आकर्षित करने के लिए बहुत से प्रोत्साहन व रियायतें देनी शुरू कर दी है।

(b) **उस विदेशी देश का राजनीतिक वातावरण जहां MNC आधार है (Political Environment of Foreign Country to which MNC belongs):** उस देश का राजनीतिक वातावरण भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को प्रभावित करता है जहां MNCs का आधार है। मूल देश सरकार का MNCs के प्रति दृष्टिकोण भी MNCs को प्रभावित करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(c) **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक वातावरण (International Political Environment) :** अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक वातावरण बहुत तेजी से बदल रहा है इसमें होने वाले बदलाव किसी देश की आर्थिक नीतियों को भी प्रभावित करते हैं जैसे– U.S.S.R. का विभाजन, अमेरिका–इराक युद्ध आदि। इन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रभावित किया है। कुछ प्रभावशाली विकसित देश जैसे USA, UK विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की नीतियों को प्रभावित करते हैं।

संक्षेप में विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय घटनाएं राजनीतिक वातावरण को प्रभावित करती हैं।

३.३ कानूनी वातावरण (Legal Environment)

कानूनी वातावरण से अभिप्राय विभिन्न नियमों, नीतियों व कानूनों से है, जो बहुराष्ट्रीय कंपनियों या विदेशी व्यापार को प्रभावित करते हैं। ये कानून उस देश की सरकार द्वारा बनाये जा सकते हैं, जहां MNC कार्यरत है या उस देश की सरकार द्वारा बनाये जा सकते हैं जहां MNC का आधार (Parent-Country) है या विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा बनाए जा सकते हैं। विदेशी व्यापार को घरेलू देश द्वारा बनाये नियमों से दूसरे देशों द्वारा बनाये नियमों से तथा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा बनाये गये नियमों से नियमित किया जाता है। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों जैसे – WTO, UNCTAD, ASEAN, SAARC आदि द्वारा विदेशी व्यापार से सम्बन्धित विभिन्न नियम बनाये गए हैं। इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित विवादों को निपटाने के लिये कुछ अन्य महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय संगठन जैसे–इन्टरनेशनल कोर्ट, संयुक्त राष्ट्र संघ आदि द्वारा नियम बनाए गए हैं।

३.४ सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण (Socio-Cultural Environment)

व्यवसाय समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है। व्यवसाय व समाज दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। संस्कृति समाज में रह रहे लोगों के सोचने व आपसी व्यवहार के ढंग को प्रभावित करती है। सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण के तत्व जैसे–शहरनीकरण, पारिवारिक व्यवस्था, धर्म, शिक्षा, आदतें, प्राथमिकताएं, भाषा, रीति–रिवाज एवं प्रथाएं, व्यावसायिक नीतिशास्त्र (Business Ethics), लोगों का विभिन्न व्यवस्थाओं के प्रति दृष्टिकोण आदि, व्यवसाय को प्रभावित करते हैं। वे सामाजिक सांस्कृतिक तत्व विभिन्न देशों में अलग–अलग होते हैं।

३.५ तकनीकी वातावरण (Technological Environment)

तकनीक 'विज्ञान या अन्य व्यवस्थित ज्ञान को व्यावहारिक कार्यों के लिये प्रयोग करने' को कहते हैं। इसके द्वारा व्यावहारिक कार्य सुव्यवस्थित ढंग से किये जाते हैं। पिछले 50 वर्षों में तकनीक का बहुत विकास हुआ है। तकनीक के विकास ने बहुत से लोगों के जीवन को बचाया है, मनुष्य के सुख–साधनों के लिए बिजली का निर्माण किया है, बहुत से नये उत्पादों को खोजा है, बहुत से कार्यों को मशीनों से सम्भव बनाया है, तथा मनुष्य के मानसिक कार्यों के लिए कम्प्यूटर को खोजा है। तकनीक की ज्ञान में विकास के कारण लोगों की जीवन शैली में परिवर्तन आ गया है। आज का व्यक्ति जिन वस्तुओं का प्रयोग कर रहा है वह पहले उनका प्रयोग नहीं कर रहा था। तकनीकी विकास द्वारा बने कुछ उत्पाद तो समाज के लिए आश्चर्यजनक है,जैसे हृदय शल्य चिकित्सा (Open Heart Surgery), किडनी ट्रांसप्लांटेशन (Kidney Transplantation), जन्म दर पर नियन्त्रण के लिए दवाइयाँ (Birth Control Pills) इत्यादि। तकनीकों ज्ञान की कुछ खोजे संसार के लिए विनाशकारी भी साबित हुई है, जैसे–हाइड्रोजन बम और मिसाइलें बहुत से नये उत्पादों जैसे–दूर संचार उत्पाद, यातायात, सूचना तकनीक, कम्प्यूटर, इन्टरनेट ने तो व्यवसाय के प्रबन्ध को बहुत अधिक प्रभाविभत किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तकनीकी ज्ञान में शीघ्र परिवर्तन व्यावसायिक इकाइयों के लिए समस्या पैदा करते हैं। जो इकाईयाँ तकनीकी परिवर्तनों के साथ स्वयं को नहीं ढाल पाती, वह व्यवसाय में ज्यादा देर तक नहीं टिक पाती। तेजी से बदलती टेक्नोलाजी से प्लांट तथा उत्पाद बहुत शीघ्र ही अप्रचलित (Obsolete) हो जाते है। आज के युग में उत्पादों का जीवन काल बहुत ही छोटा है। इस कारण केवल वही व्यवसायी अपने व्यापार में विकास कर सकता है जो लगातार, नवाचार और अनुसंधान पर ध्यान दे। नवाचार तथा अनुसंधान द्वारा एक व्यवसायी, नये उत्पादों को खोज सकता है या अपने वर्तमान उत्पादों की क्वालिटी सुधार सकता है। इससे व्यावसायिक इकाई अपने बाजार हिस्से में वृद्धि कर सकती है तथा प्रतियोगिता का सामना आसानी से कर सकती है। जापान में तेजी से विकास का कारण वहाँ के उद्योग द्वारा लगातार नवाचार और अनुसंधान पर जोर देना है। नये उत्पादों तथा उत्पादन के नये तरीको की रक्षा पेटेन्ट तथा कॉपीराइट से की जा सकती है। इस तरह की पेटेंट सुरक्षा से उन उद्योगों को बहुत लाभ होगा जिनमें अधिक नवाचार और अनुसंधान होता है। तकनीक के आसान आयात से विकासशील देशों की औद्योगिक कार्यकुशलता में काफी सुधार आता है।

अतः व्यावसायिक इकाईयों को अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी वातावरण में आये परिवर्तनों को विश्लेषित करते रहना चाहिए तथा नयी तकनीक को शीघ्रता से अपना लेना चाहिए।

३.६ अन्य तत्व (Other Factors)

कई बार एक देश में आया संकट विश्व के अन्य देशों को भी प्रभावित करता है। जैसे 1991 का खाड़ी युद्ध, इराक और अमेरिका के युद्ध। इससे विश्व में कच्चे तेल की कीमतों में तेजी आई और इसने पूरे विश्व को प्रभावित किया। इसी तरह अमेरिका के विश्व व्यापार सेंटर पर हुए हमले ने पूरे विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को प्रभावित किया। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बुरी तरह से प्रभावित हुआ। इसी तरह थाईलैंड में मुद्रा संकट और बैंकों के फेल (Currency Crisis and Failure of Banks) होने से अन्य देश जैसे मलेशिया, इन्डोनेशिया, पिलीपिन्स और कोरिया भी प्रभावित हुये हैं। हाल के समय में हुआ सब–प्राइम संकट तथा अमेरिका में निवेश बैंकों का दिवाला होने से न केवल अमेरिका की अर्थव्यवस्था पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा है, बल्कि इससे विश्व भर की अर्थव्यवस्था कुप्रभावित हुई है। इस संकट ने वैश्विक वित्तीय संकट का रूप ले लिया है तथा इससे विश्व की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं की विकास दर पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को भी एक देश में आए संकट के प्रभाव से बचने के लिए समय पर अपनी नीतियों में बदलाव लाना पड़ता है।

अतः यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय वातवरण के बहुत से तत्व व्यवसाय को प्रभावित करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण से निरन्तर परिवर्तन आ रहा है। बदलते अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में व्यावसायिक इकाई की, वातावरण के अनुसार समय रहते अपनी नीतियों में परिवर्तन कर लेना चाहिए।

४. अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक वातावरण (International Economic Environment)

अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के सभी घटकों में से आर्थिक वातावरण सबसे महत्वपूर्ण है। इसमें निम्न शामिल हैं–

(a) घरेलू अर्थव्यवस्था का आर्थिक वातावरण (Economic Environment of Domestic Economy)

(b) व्यापार चक्र की दशा (Stage of Business-Cycle)

(c) विदेशी निवेश (Foreign Investment)

(d) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं जैसे– अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, अंकटाड, विश्व व्यापार संगठन।

(d) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समझौते –जी.एस.पी., जी.एस.टी.पी., प्रति व्यापार (Counter- Trade)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.1 घरेलू अर्थव्यवस्था का आर्थिक वातावरण (Economic Environment of Domestic Economy)

आर्थिक वातावरण का अभिप्राय उन आर्थिक तत्वों से है, जिनका व्यवसाय के कार्य–संचालन पर प्रभाव पड़ता है, जैसे–आर्थिक व्यवस्था, आर्थिक–नीति, अर्थव्यवस्था की प्रकृति, व्यापार–चक्र, आर्थिक–संसाधन, आय–स्तर, आय और धन का वितरण इत्यादि। महत्पूर्ण आर्थिक तत्व निम्नलिखित हैं–

(a) आर्थिक स्थितियाँ (Economic Condition) – अर्थव्यवस्था की आर्थिक व्यवसाय को प्रभावित करती है। आर्थिक स्थितियों में आय स्तर, प्रति व्यक्ति आय, जनता की क्रय शक्ति, अर्थव्यवस्था में प्रचलित कीमत स्तर, पूंजी निर्माण की दर, औद्योगिक विकास की दर आदि को शामिल किया जाता है। आर्थिक स्थितियों का मांग के स्तर पर, उत्पादन की जाने वाली वस्तुओं की प्रकृति आदि पर प्रभाव पड़ता है।

(b) **आर्थिक नीतियाँ (Economic Policies)–** आर्थिक नीतियां सरकार द्वारा बनायी जाती है। इन नीतियों का व्यवसय पर प्रभव पड़ता है। व्यवसाय को अपनी नीतियों का निर्माण करते समय सरकार की आर्थिक नीतियों को ध्यान में रखना पड़ता है। इन आर्थिक नीतियों में आये बदलाव का व्यवसाय पर प्रभाव पड़ता है इसलिए बदलती हुई आर्थिक नीतियों के साथ व्यवसाय की नीतियों में बदलाव लाना पड़ता है। निम्न प्रमुख आर्थिक नीतियां व्यवसाय को प्रभावित करती है।

(i) मौद्रिक नीति (ii) राजकोषीय नीति (iii) निर्यात–आयात नीति

(iv) विदेशी निवेश नीति (v) औद्योगिक नीति ।

इन नीतियों के अलावा घरेलू सरकार, विदेशी कम्पनियों की क्रियाओं को नियमित करने के लिए विभिन्न प्रावधान बनाती है। विदेशी कम्पनियों को इन प्रावधानों का पालन करना होता है, जैसे–भारत सरकार ने विदेशी मुद्रा प्रबन्ध अधिनियम 1999 (Foreign Exchange Management Act) (FEMA) कम्पनी अधिनियम, 1956, कम्पनी बिल 2009 बनाये जाते हैं जो कम्पनियों की क्रियाओं को नियमित करते हैं।

(c) आर्थिक व्यवस्था (Economic System)– विभिन्न देशों में अलग–अलग आर्थिक व्यवस्थाएं प्रचलित हैं। किसी भी अर्थव्यवस्था की आर्थिक व्यवस्था और उसमें आने वाले परिवर्तन उस अर्थव्यवस्था की व्यावसायिक इकाइयों को प्रभावित करते हैं। इतना ही नहीं, किसी एक देश की आर्थिक व्यवस्था में बदलाव का दूसरे देशों की व्यावसायिक इकाईयों पर भी प्रभाव पड़ता है। किसी देश की आर्थिक व्यवस्था निम्न में से कोई हो सकती है।

(i) पूंजीवाद (Capitalism)- इसमें निजी क्षेत्र पर जोर दिया जाता है।

(ii) समाजवाद (Socialism)- इसमें सार्वजनिक क्षेत्र पर जोर दिया जाता है।

(iii) मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) इसमें निजी व सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों पर जोर दिया जाता है।

आजकर समाजवाद से पूंजीवाद की ओर झुकाव बढ़ रहा है। इसलिए अर्थव्यवस्था में निजीकरण और सार्वजनिक क्षेत्र में विनिवेश (Disinvestment) बढ़ रहा है। इसका अर्थव्यवस्था की विभिन्न व्यावसायिक इकाइयों पर प्रभाव पड़ता है।

4.2 व्यापारिक चक्र की अवस्था (Stage of Business Cycle)

व्यापारिक चक्र की निम्न दशायें होती हैं–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(i) समृद्धि (Prosperity) (ii) तेजी (Boom) (iii) अवनति (Decline) (iv) मंदी (Depression) (v) पुनरुत्थान (Recovery)

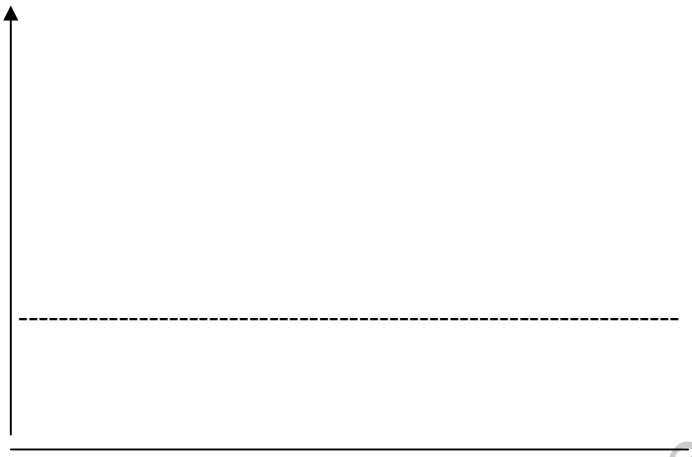

व्यापार चक्र की अवस्था किसी भी उद्यम के कार्य व लाभ को प्रभावित करती है। यदि अर्थव्यवस्था में तेजी (Boom) की स्थिति पाई जाती है तो इससे मांग बढ़ती है और व्यावसायिक इकाई की विक्री बढ़ती है। इसी तरह मंदी (Depression) की स्थिति में मांग में कमी आती है, और व्यावसायिक इकाई पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। अब वैश्वीकरण के कारण, एक देश में समृद्धि या तेजी की अवस्था, दूसरे देश को भी प्रभावित करती है। अब विश्व मंदी की अवस्था से धीरे–धीरे बाहर आ रहा है। पिछले कुछ वर्षों में कीमतों में गिरावट आयी है न केवल कम्प्यूटर के बल्कि विभिन्न इलेक्ट्रानिक मदों, संचार के उपलकरण, कार वस्त्र, आदि की कीमतों में गिरावट आयी है। स्विट्जरलैन्ड, स्वीडन, चीन हांगकांग सिंगापुर, ब्राजील, अमेरिका आदि देशों में कीमतों में गिरावट आयी है। मंदी की स्थिति के कारण बहुत से देश सकल घरेलू उत्पाद की लक्षित वृद्धि दर को प्राप्त करने में असफल रहे हैं। इस समय बहुत से देश मांग की कमी तथा अतिरिक्त उत्पादन क्षमता के कारण अति उत्पादन क्षमता के कारण अति उत्पादन (Problem of Surplus Production) की समस्या का सामना कर रहे हैं। विभिन्न देश मंदी की दशा से छुटकारा पाने के लिये प्रयास कर रहे हैं। उदाहरण के लिए भारतीय सरकार ने निर्माणी व सेवा क्षेत्र को बहुत सी रियायतें दी है। चीन ने भी कीमतों में और गिरावट को रोकने के लिये कीमत–नियन्त्रण किया है, ताकि मंदी की स्थिति से निपटा जा सके। वर्ष 2008–09 में आई वैश्विक मंदी के कारण पूरी विश्व अर्थव्यवस्था में मांग का स्तर कम हो गया है। यह मंदी 81 वर्ष पूर्व आई 1929 की महामंदी के बाद सबसे बुरी मंदी है। वर्ष 2009–10 में विश्व की सभी अर्थव्यवस्थाएं धीरे–धीरे मंदी के प्रभाव से बाहर आ रही है। IMF के एक अनुमान के अनुसार 2010 में विश्व उत्पादन में वृद्धि होने की संभावना है।

4.3 विदेशी निवेश (Foreign Investment)

विदेशी निवेश का अभिप्राय 'एक राष्ट्र द्वारा किसी दूसरे राष्ट में किये गये निवेश' से हैं। यह निवेश सरकार द्वारा या निजी क्षेत्र द्वारा किया जा सकता है। आज कर विश्व के अधिकांश भाग में विदेशी निवेश के स्वतन्त्र प्रवाह से विदेशी निवेश का महत्व और भी बढ़ गया है। विदेशी निवेश निम्न दो प्रकार का होता है–

1. विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (Foreign Direct Investment (FDI)- विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का अभिप्राय विदेशी कम्पनियों द्वारा भारत में पूर्व स्वामित्व वाली कम्पनियां बनाने और उनका प्रबन्ध करने से हैं इसके अन्तर्गत प्रबन्ध करने के उद्देश्य से अंशों को खरीद कर अधिग्रहण (Acquire) की गई कम्पनी भी शामिल हैं। इस तरह के निवेश में उद्यम का पूरा जोखिम विदेशी निवेशक ही उठाता है और विदेशी निवेशक ही उद्यम के पूरे लाभ या हानि के लिए जिम्मेवार होता है। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का एक अन्य रूप विदेशी सहयोग है। विदेशी सहयोग में विदेशी और घरेलू उद्यमी मिलकर संयुक्त उद्यम (Joint venture) स्थापित करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. पोर्ट फोलियो निवेश (Portfolio Investment) – इस के निवेश में विदेशी निवेशक विदेशी कम्पनियां या विदेशी संस्थागत निवेशक (Foreign Institutional Investor) किसी अन्य देश की कम्पनियों के अंशों या ऋण पत्रों में निवेश करते हैं इस तरह के निवेश में विदेशी निवेशक इकाई का प्रबन्ध अपने हाथों में नहीं लेते बल्कि उस इकाई का प्रबन्ध एवं नियंत्रण घरेलू देश पर ही छोड़ दिया जाता है। यदि यह निवेश ऋण पत्रों में किया जाय तो विदेशी निवेशक को एक निश्चित ब्याज मिलता है और यदि यह निवेश अंशों में किया जाय तो निश्चित लाभांश की कोई गारन्टी नहीं होती। इस प्रकार के निवेश में निवेशकर्ता को ही जोखिम नहीं उठाता तथा न ही प्रबन्ध में भाग लेता है।

4.3 अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं (International Organisation Institutions)

वर्ष 1930 तक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में किसी न किसी रूप में स्वर्णमान (Gold Standard) प्रचलित था। इस व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में स्वर्णमुद्रा (Gold Currency) या ऐसी मुद्रा जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण में परिवर्तनशील हो उसका प्रयोग किया जाता था। स्वर्णमान की कमियों के कारण इसे 1930 में अधिकतर देशों द्वारा बन्द दिया गया। स्वर्णमान के बन्द होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में रिक्तता आ गयी। अधिकतर देशों ने यह अनुभव किया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान के लिए उन्हें ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो विभिन्न देशों की मुद्रा में विनिमय दर निर्धारित करे। ऐसे में 1944 में यह निर्णय लिया गया कि सभी देशों के आर्थिक विकास के लिए दो संस्थाएं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) व विश्व बैंक की स्थापना की जावे। 1945 में (IMF) तथा विश्व बैंक की स्थापना की गयी। इसके कुछ वर्षों के बाद ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए 1947 में सीमा शुल्क और व्यापार पर सामान्य समझौते (General Agreement on Tariffs and Trade-GATT) की शुरूआत की गयी। इस समझौते का मुख्य उद्देश्य सीमा शुल्क कम करके स्वतंत्र बाजार को बढ़ावा देना था। 1995 में गैट के स्थान विश्व व्यापार संगठन की स्थापना की गयी। अल्प विकसित देशों में व्यापार और विकास को बढ़ावा देने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 1964 में संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन (UNCTAD) की स्थापना की गयी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में निम्न मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कार्य कर रहे हैं–

१. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund-IMF)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) की स्थापना 27 दिसम्बर, 1945 को हुई। IMF की स्थापना USA में ब्रेटन बुड्स सम्मेलन (Bretton Woods Conference) में हुयी। इसकी स्थापना विश्व व्यापा के संतुलित विकास अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग तथा सदस्य देशों के भुगतान शेष की अस्थायी असंतुलन की समस्या को सुलझाने के उद्देश्य से की गयी है। मुद्रा कोष के सदस्य दो प्रकार के होते हैं – 1. मौलिक सदस्य (Original Member) तथा साधारण सदस्य (Ordinary Member) वे सब देश जिनके प्रतिनिधियों ने ब्रेटन बुड्स सम्मेलन में भाग लिया था कोष के मौलिक सदस्य कहलाते हैं। जो सदस्य दिसम्बर 1945 के पश्चात् बने हैं साधारण सदस्य कहा जात है। 1945 में फण्ड के 44 देश सदस्य थे। अब इसके सदस्यों की संख्या बढ़कर 186 हो गयी है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक/विश्व बैंक (International Bank for Reconstruction and Development (World Bank)

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक का उद्देश्य द्वितीय विश्व युद्ध के फलस्वरूप नष्ट होने वाली अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण तथा अल्प विकसित देशों का आर्थिक विकास के लिए पूंजी की व्यवस्था करना था इस बैंक ने जो 1945 से अपना कार्य आरम्भ किया। विश्व बैंक का उद्देश्य विभिन्न देशों को विकासात्मक कार्यों के लिए वित्त उपलब्ध कराना तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि करना है। कोई भी देश जो मुद्रा कोष का सदस्य है वह विश्व बैंक का भी सदस्य स्वतः ही बन जाता है। जिन देशों ने 31 दिसम्बर 1945 को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश की सदस्यता स्वीकार कर ली थी वे सभी विश्व बैंक के मूल सदस्य (Founder Member) माने जाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस समय विश्व बैंक के 186 देश सदस्य हैं। कोई भी देश विश्व बैंक को सूचना देकर इसकी सदस्यता त्याग सकता है। यदि कोई देश विश्व बैंक के नियमों का पालन नहीं करता तो उसे इसकी सदस्यता से हटाया जा सकता है।

३. विश्व व्यापार संगठन (World Trade Organisation)

वर्ष 1947 में प्रशुल्क एवं व्यापार सम्बन्धी सामान्य करार (गैट–GATT) शुरू किया गया। 1994 में उरुग्वे अधिवेशन में 124 गैट सदस्य देशों ने यह समझौता कि विदेशी व्यापार को बढ़ावा देने के लिए टैरिफ में कमी की जाय तथा गैर–टैरिफ बाधाओं को दूर किया जाय। इस समझौते में यह तय किया गया कि गैट के स्थान पर नया संगठन बनाया जाय। इस समझौते परिणाम स्वरूप गैट का स्थान विश्व व्यापार संगठन ने ले लिया। विश्व व्यापार संगठन ने एक जनवरी 1995 से अपना कार्य शुरू किया। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। जो बहुपक्षीय व्यापार (बहुत देशों के मध्य व्यापार) को तथा स्वतंत्र विश्व व्यापार को बढ़ावा देता है। इसके द्वारा टैरिफ बाधाओं में कमी व निर्यात प्रतिबन्धों के समाप्ति पर जोर दिया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य स्वतंत्र विश्व व्यापार विनेश को स्वतंत्र प्रवाह वस्तुओं व सेवाओं का सदस्य देशों के मध्य स्वतंत्र व्यापार तथा बौद्धिक सम्पत्ति को पेटेन्ट द्वारा सुरक्षित करना है। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष व विश्व बैंक के अलावा विश्व व्यापार संगठन भी एक बहुत महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। इस समय विश्व व्यापार संगठन के 153 सदस्य देश हैं।

४. संयुक्त राष्ट्र व्यापार विकास सम्मेलन (अंकटाड) (United Nations Conference on Trade and Development)

विकासशील देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए और आर्थिक विकास को तेज करने के लिए 1964 में अंकटाड की स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) द्वारा की गई। अब अंकटाड के 12 सम्मेलन हो चुके हैं अंकटाड के मुख्य उद्देश्य है– (i) विकासशील देशों के आर्थिक विकास में वृद्धि (ii) विकासशील देशों के निर्यात में बढ़ोतरी (iii) विकासशील देशों को विकास के लिए अधिक वित्तीय सहायता उपलब्ध करवाना (iv) अति अल्पविकसित देशों के विकास के लिए विशेष कार्यक्रम चलाना।

४. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समझौते (International Trade Agreement)

समय–समय पर विदेशी व्यापार को ऐच्छित दिशा में निर्देशित करने के लिए विभिन्न राष्ट्रों के बीच व्यापारिक समझौते किये जाते हैं। ये समझौते कुछ पड़ोसी देशों के मध्य विभिन्न विकासशील देशों के मध्य या विकासशील व विकसित देशों के मध्य हो सकते हैं इन समझौतों में विदेशी व्यापार से सम्बन्धित शर्तें तय की जाती हैं जो सभी सदस्य देशों को मान्य हों। इन समझौतों का उद्देश्य विदेशी व्यापार को बढ़ाना। व विदेशी व्यापार की रूकावटों को दूर करना है। मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समझौते निम्नलिखित हैं–

(i) सामान्यकृति अधिमान व्यवस्था (Generalised System of Preferences-GSP)- यह विकसित व विकासशील देशों के मध्य व्यापारिक समझौता है। इसके द्वारा विकसित देश विकासशील देशों को विदेशी व्यापार पर विभिन्न टैरिफ व गैट–टैरिफ रियायतें प्रदान करते हैं।

(ii) व्यापारिक अधिमानों की विश्व व्यवस्था (Global System of Trade Preferences-GSTP)- यह विकासशील देशों के मध्य किया गया व्यापारिक समझौता है। इसके द्वारा विकासशील देश अन्य विकासशील देशों को विदेशी व्यापार पर टैरिफ व गैर–टैरिफ रियायतें प्रदान करते हैं।

(iii) प्रति व्यापार समझौता (Counter Trade Agreement)– प्रति व्यापार ऐसा अनुबन्ध है जिसमें निर्यात करने के लिये उसी मूल्य का आयात करना होता है। यह समझौता दो राष्ट्रों के बीच होता है जिसमें एक देश दूसरे देश से इस शर्त पर आयाता करता है कि दूसरा देश भी एक निश्चित समयावधि के अन्तर्गत पहले देश से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बराबर मूल्य की वस्तुओं का आयात करेगा। इस तरह के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विदेशी मुद्रा की आवश्यकता नहीं पड़ती और देश के भुगतान शेष पर कोई भार नहीं पड़ता । यह एक तरह का वस्तु विनिमय व्यापार (Barter Trade) है।

विश्व व्यापार की प्रवृत्तियाँ और विश्व व्यापार में विकासशील देशों की समस्याएं

(Trends in World Trade and Problems of Developing Countries in World Trade)

विश्व व्यापार की प्रवृत्तियां (Trends in World Trade)

विश्व व्यापार की प्रवृत्तियों का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है–

(1) विश्व के निर्यातों में वृद्धि (Increase in World's Exports) : विश्व के निर्यात व्यापार में बहुत वृद्धि हुई है। वर्ष 1950 में विश्व निर्यात केवल 55 विलियन डालर थे। वर्ष 2008 में ये बढ़कर 16.026 बिलियान डालर हो गये। इस प्रकार इन 58 वर्षों में श्वि निर्यातों में 291 गुणा वृद्धि हुई। इसे निम्न तालिक से स्पष्ट किया गया है–

विश्व निर्यात में प्रवृत्तियां (Trends in World Exports)

वर्ष (Year)	विश्व निर्यात (World's Export) (In billion U.S. dollars)
1950	55
1960	113
1970	280
1980	1846
1990	3311
2000	6143
2005	10431
2006	12083
2007	13899
2008	16026

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विश्व–निर्यातों के बढ़ने के मुख्य कारण विभिन्न देशों द्वारा टैरिफ व गैर–टैरिफ रूकावटों में कमी, बहुपक्षीय व्यापार, संचार और यातायात के साधनों का विकास, वेल की कीमतों में भरी वृद्धि, विश्व–व्यापी मुद्रा–स्फीति (World wide inflation) आदि हैं।

2. वस्तु विश्व व्यापार में शीर्ष निर्यातक (Top Exporters in Merchanding World Trade) :- वर्ष 2008 में वस्तु–विश्व–व्यापार मं पहले पाँच शीर्ष निर्यातक देशों का हिस्सा, कुल विश्व निर्यात का 34.8 प्रतिशत है। ये पांच बड़े निर्यातक देश जर्मनी, चीन, अमेरिका, जापान तथा नीदरलैंड है। विश्व निर्यातों में भारत का क्रम 27वां है। और भारत का कुल विश्व निर्यात में हिस्सा मात्र 1.1 प्रतिशत है। निर्यातों के मूल्य, विश्व–निर्यातों में प्रतिशत व विभिन्न देशों की रैकिंग को आगे तालिका में दिखाया गया है।

वस्तु-विश्व-निर्यात व्यापार-२००८ (World's Merchandise (Goods) Export Trade-2008

देश का नाम (Name of Country)	निर्यात राशि (Amount of Exports) In billion U.S. dollar)	कुल विश्व निर्यात में प्रतिशत (% in Total World's Exports)	विश्व निर्यात में क्रम (Ranking in World Exports)
जर्मनी	1461.9	9.1	1
चीन	1428.3	8.9	2
यू.एस.ए.	1287.4	8.0	3
जापान	782.0	4.9	4
नीदरलैंड	633.0	3.9	5
भारत	177.5	1.1	27
संपूर्ण विश्व	16026.4	100	--

विश्व का सबसे बड़ा निर्यातक देश जर्मनी है। इसका विश्व के कुल निर्यातों में हिस्सा 9.1 प्रतिशत है। विकासीशील देशों में से चीन एक बड़ा निर्यातक देश उभर कर आया है। इस समय चीन का विश्व के शीर्ष निर्यातकों में से दूसरा स्थान है।

3. वस्त–विश्व व्यापार में शीर्ष आयातक (Top Importers in Merchandising-World Trade) : विश्व व्यापार में सबसे बड़ा आयातक देश अमेरिका है। इसका विश्व के कुल आयातों में हिस्सा 13.2 प्रतिशत है। भारत का विश्व आयातों में क्रम 16 वां हैं और भारत का कुल विश्व आयात में हिस्सा 1.8 प्रतिशत है। विश्व के पांच बड़े आयातक देश अमेरिका, जर्मनी, चीन, जापान और फ्रांस हैं। इन पांचों देशों का संयुक्त रूप से विश्व आयातों में हिस्सा 36.3 प्रतिशत है। आयातों की राशि आयातों का विश्व आयात में प्रतिशत और विभिन्न देशों के आयातों में क्रम को निम्न तालिका में दर्शाया गया है।

वस्तु-विश्व-आयात व्यापार-२००८ (World's Merchandise (Goods) Import Trade-2008

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

देश का नाम (Name of Country)	आयात राशि (Amount of Imports) In billion U.S. dollar)	कुल विश्व आयात में प्रतिशत (% in Total World's Imports)	विश्व आयात में क्रम (Ranking in World Imports)
यू.एस.ए.	2169.5	13.2	1
जर्मनी	1203.8	7.3	2
चीन	1132.5	6.9	3
जापान	762.6	4.6	4
फ्रांस	705.6	4.3	5
भारत	293.4	1.8	16
संपूर्ण विश्व	16340.4	100	--

4. सेवाओं में विश्व व्यापार (World Trade in Service) – सेवाएं एक अन्य ऐसा क्षेत्र है जिसमें विश्व व्यापार तेजी से बढ़ रहा है। सेवा क्षेत्र में पर्यटन बैंकिंग, बीमा, दूरसंचार, सलाहकारी (Consultancy) विज्ञापन, साफ्टवेयर, मीडिया, सेवायें बिजनेस आउट सोर्सिंग (काल सेंटर) सूचना तकनीकी सेवायें, यातायात आदि शामिल किये जाते हैं। वर्ष 2008 में सेवा क्षेत्र में विश्व का कुल निर्यात 3857 बिलियन डालर रहा। सेवा क्षेत्र में सबसे बड़ा निर्यातक अमेरिका है। इसका अकेले ही सेवाओं के विश्व निर्यात में 13.8 प्रतिशत हिस्सा है। सेवा क्षेत्र के पहले पांच बड़े निर्यातक देश अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस और चीन है। इन पांचों बड़े निर्यातकों का सेवाओं के विश्व निर्यात में संयुक्त हिस्सा 35.8 प्रतिशत है। सेवाओं के निर्यात में भारत का स्थान 9वां हैं व कुल विश्व की सेवाओं के निर्यात में इसका हिस्सा 2.7 प्रतिशत है।

सेवा क्षेत्र में पांच बड़े आयातक देश अमेरिका, जर्मनी, ब्रिटेन, जापान और चीन है। इनका विश्व की सेवाओं के आयात में संयुक्त हिस्सा 33.5 प्रतिशत है। सेवाओं के आयात में भारत का स्थान 13वां है। विश्व के कुल आयात में भारत का हिस्सा 2.4 प्रतिशत है। सेवा क्षेत्र में विश्व का सबसे बड़ा आयातक देश अमेरिका है। इसका कुल विश्व आयात में हिस्सा 10.5 प्रतिशत है।

सेवाओं में विश्व निर्यात २००८ (World's Exports in Service – 2008)

देश का नाम (Name of Country)	निर्यात की राशि (Amount of Exports) In billion U.S. dollar)	कुल विश्व निर्यात में प्रतिशत (% in Total World's Exports)	विश्व निर्यात में क्रम (Ranking in World Exports)
यू.एस.ए.	521.4	13.8	1

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ब्रिटेन	283.0	7.5	2
जर्मनी	241.6	6.4	3
फ्रास	160.5	4.2	4
चीन	146.4	3.9	5
भारत	102.6	2.7	9
संपूर्ण विश्व	3857	100	--

सेवाओं में विश्व आयात २००८ (World's Imports in Service-2008)

देश का नाम (Name of Country)	**आयात राशि (Amount of Imports) In billion U.S. dollar)**	**कुल विश्व आयात में प्रतिशत (% in Total World's Imports)**	**विश्व आयात में क्रम (Ranking in World Imports)**
यू.एस.ए.	367.9	10.5	1
जर्मनी	283.0	8.1	2
ब्रिटेन	196.2	5.6	3
जापान	167.4	4.8	4
चीन	158.0	4.5	5
भारत	83.6	2.4	13
संपूर्ण विश्व	3594.6	100	--

5. विकासशील देशामें के निर्यात (Exports of Developing Countries)- विकासशील देशों में विश्व व्यापार के क्षेत्र में पांच बड़े देश चीन, ह्वांकांग, ताईवान, कोरिया, सिंगापुर है। इन पांचों देशों का सभी विकासशील देशों के निर्यात संयुक्त हिस्सा 50 प्रतिशत है। अर्थात सभी विकासशील देशों के कुल निर्यात में आधा हिस्सा तो इन पांच विकासशील देशों का ही है। 1997 से 2008 तक की अवधि में विकासशील देशों के व्यापार वृद्धि दर विकसित देशों की व्यापार वृद्धि दर से तेज रही है। वर्ष 2008 में विश्व निर्यातों में 14.3 प्रतिशत से वृद्धि हुई जबकि विकासशील देशों के निर्यातों से 21.1 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई अर्थात विकासशील देशों के निर्यात अधिक गति से बढ़ रहे हैं। वर्ष 2008 में विकासशील देशों का कुल विश्व निर्यात में हिस्सा 38.9 प्रतिशत है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6. विश्व व्यापार की संरचना (Composition of World Trade)- विश्व व्यापार में बहुत तरह की वस्तुओं का आयात–निर्यात किया जाता है। इनमें से खाद्यान्न कृषि क्षेत्र का कच्चा माल ईंधन (fuel) धातु व आयस्क (metal and Ores), वस्त्र, रासायनिक पदार्थ मशीनरी यातायात संयत्र, हीरे जवाहरात, कम्प्यूटर, साफ्टवेयर, चमड़े का सामान आदि प्रमुख हैं। पहले अधिकतर विश्व व्यापार कृषि उत्पादों ईंधन अयस्कों, वस्त्रों आदि का होता था लेकिन अब विश्व व्यापार की संरचना में बदलाव आया है। अब विश्व व्यापार में इन परम्परागत वस्तुओं के निर्यात के साथ–साथ बहुत सी अन्य वस्तुओं व सेवाओं का निर्यात होने लगा है। अब मशीनरी, कम्प्यूटर, साफ्टवेयर, बैंकिंग, जहाजरानी, दूरसंचार व पर्यटन आदि क्षेत्र में विश्व व्यापार तेजी से बढ़ रहा है।

7. विश्व व्यापार में क्षेत्रीय समूहों का विकास (Growth of Regional Blocs in World Trade)- कुछ क्षेत्रीय समूहों के विश्व व्यापार के हिस्से में वृद्धि हुई है। विश्व व्यापार में यूरोपियन समुदाय (European Community-EC) उत्तर अमेरिका स्वतंत्र व्यापार समझौता (North American Free Trade Agreement -NAFTA)- यूरोपियन स्वतंत्र व्यापार एसोसियेशन (European Free Trade Association-EFTA), दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों की एसोसियेशन (Association of South East-Asian-Nations- ASEAN), दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (South Asian Association for Regional Cooperation- SAARC) दक्षिणी एशियाई स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र (South Asian Free Trade Area-SAFTA) आदि के व्यापार में बहुत वृद्धि हुई है। वर्ष 2005 में 211 क्षेत्रीय समझौते कार्यरत थे। 2007 के अन्त में इन क्षेत्रीय समझौतों की संख्या बढ़कर 300 हो गयी ।इन क्षेत्रीय समूहों का उद्देश्य अपने अपने क्षेत्र में स्वतंत्र व्यापार को बढ़ावा देना और विभिन्न देशों के आर्थिक सहयोग में वृद्धि करना है।

8. विश्व व्यापार में द्विपक्षीय व्यापार की ओर बदलाव (Shift from Bilateral Trade to Multilateral Trade) - वर्ष 1994 तक अधिकतर विश्व व्यापार द्विपक्षीय था। द्विपक्षीय व्यापार में दो देश आपस में व्यापारिक समझौता करते हैं। विश्व व्यापार संगठन में विकास से बहुपक्षीय व्यापार को बढ़ावा मिला है। अब अधिकतर व्यापार द्विपक्षीय व्यापार समझौतों के स्थान पर बहुपक्षीय व्यापार समझौतों द्वारा किया जाता है। बहुपक्षीय व्यापार में बहुत से राष्ट्रों में व्यापार समझौता एक साथ किया जाता है। वर्तमान में विश्व व्यापार संगठन में 153 सदस्य देश हैं विश्व व्यापार संगठन के स्तर पर यदि कोई व्यापारिक समझौता होता है तो यह एक साथ 153 देशों पर लागू होता है। बहुपक्षीय व्यापारिक समझौतों से विश्व व्यापार को बढ़ावा मिला है।

9. प्रतिबन्धित व्यापार से स्वतंत्र व्यापार की ओर झुकाव (Shift from Restricted Trade to Free Trade) – पहले विश्व व्यापार पर बहुत से टैरिफ और गैर टैरिफ प्रतिबन्ध लगाये थे। यह प्रतिबन्ध आयात कोटा (आयातक देश द्वारा आयात की कुल मात्रा के सम्बन्ध में तय की गयी अधिकतम सीमा) आयात शुल्क, स्वैच्छिक आयात प्रतिबन्ध (Voluntary Import Restriction), लाइसेंस प्रथा, अनुदान, व्यापारिक प्रतिबन्ध (Trade Prohibitions/bans), आदि है। परन्तु अब धीरे–धीरे यह प्रतिबन्ध कम होते जा रहे हैं और विश्व व्यापार संगठन के निर्देशानुसार विश्व व्यापार की रूकावटों को कम किया जा रहा है और दोनों ही टैरिफ व गैर–टैरिफ प्रतिबन्धों को हटाया जा रहा है। अन्य शब्दों में विश्व व्यापार में स्वतंत्र व्यापार में वृद्धि हो रही है। उदाहरण के लिए जनवरी 2006 से दक्षिणी एशियाई स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र (South Asian Free Trade Area-SAFTA) के शुरू होने से दक्षिणी एशियाई देशों में विदेशी व्यापार पर टैरिफ कम हो गया है तथा वस्तुओं का स्वतंत्र प्रवाह हो रहा है।

10. विश्व व्यापर अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की प्रवृत्तियां (Trends of International Liquidity in World Trade) – अन्तर्राष्ट्रीय तरलता से अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए विदेशी मुद्रा की उपलब्धता से है। पहले विश्व व्यापार के भुगतान में केवल स्वर्ण (Gold) को ही प्रयोग किया जाता था बाद में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश द्वारा विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Right) शुरू करने से विश्व व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हुई। वर्तमान में कुछ मुख्य देशों के मुद्राएं जैसे अमेरिका का डालर फ्रांस का फ्रैंक जर्मनी का मार्क जापान का येन ब्रिटेन का पौंड को विश्व व्यापार में भुगतान के लिए प्रयोग किया जा रहा है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि हुई है और विदेशी व्यापार को बढ़ावा मिला है।

11. विश्व व्यापार में व्यापार शर्तों का बदलता रूप (Changing Pattern of Terms of Trade in World Trade) – व्यापार की शर्तों का अभिप्राय उस दर से है जिस पर एक देश की वस्तुओं दूसरे देश की वस्तुओं के साथ बदलाव किया जाता है। यह एक देश के निर्यातों क्रय क्षमता को आयातों के रूप में मापता है। यह एक देश की निर्यात कीमतों और आयात कीमतों के सम्बन्ध को प्रकट करता है। विश्व व्यापार से एक देश को होने वाले लाभ उस देश की व्यापार शर्तों पर निर्भर करते हैं। यदि एक देश का व्यापार शर्तें सकारात्मक हो तो उसे विश्व व्यापार के लाभों का अधिक हिस्सा प्राप्त होता है।

पहले विकासशील देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल होती थी। इससे उन्हें विश्व व्यापार से अधिक लाभ नहीं मिलते थे। इन देशों के प्रतिकूल व्यापार शर्तों के कारण अधिक लागत पिछड़ी तकनीक प्राथमिक उत्पादों का निर्यात मोल भाव करने की कम क्षमता (Weak Bargaining Power) आयात प्रतिस्थापन का अभाव आदि थे परन्तु अब विकासशील देशों के आर्थिक विकास में सुधार आने से इनके तकनीकी स्तर बढ़ने से इनकी निर्भरता विकसित देशों पर कम होने से इनकी मोलभाव करने की क्षमता (Bargaining Capacity) बढ़ गयी है। इससे इनकी व्यापार शर्तों में सुधार आया है। अब विकासशील देशों के व्यापार शर्तें हमेशा प्रतिकूल नहीं होती है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ विकसित देशों के साथ–साथ विकासशील देशों को भी मिलने लग गया है।

12. एशियाई देशों में बढ़ता व्यापार (Rising Trade in Asian Nations) - एशियाई देश विश्व व्यापार में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। वर्ष 2008 में विश्व व्यापार में 31 प्रतिशत योगदान एशियाई देशों का था। सकल घरेलू उत्पाद के PPP आधार पर लगाये गये अनुमान में विश्व की चार बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में तीन देश एशिया से है। इस आधार पर चीन जापान तथा भारत का विश्व में क्रमशः दूसरा तीसारा व चौथा स्थान है।

13. उपनिवेश देशों के विश्व व्यापार में प्रवृत्तियां (Trends in World Trade of Colonial Countries) – उपनिवेश के कारण बहुत से देश पहले केवल कच्चे माल का निर्यात करते थे औरा माल का आयात करते थे। इनके शासक देश इन उपनिवेश देशों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में शोषण करते थे। ये शासक देश उपनिवेश देश से कम कीमत पर कच्चा माल खरीदकर इन्हें बहुत अधिक कीमत पर तैयार माल बेचते थे। इन उपनिवेश देशों का अधिकतर व्यापार शासक देश के साथ ही होता था। उदाहरण के तौर स्वतंत्रता से पहले भारत से कच्चा माल इंग्लैंड को औ तैयार माल इंग्लैंड से भारत को भेजा जाता था। उपनिवेश प्रथा खत्म होने के बाद इन उपनिवेश देशों में औद्योगिक विकास हुआ है। इन देशों के निर्यातों में वृद्धि हुई। अब यह उपनिवेशक बहुत से देशों से व्यापार कर रहे हैं और अब यह केवल कच्चे माल का ही निर्यात न करके तैयार माल का भी निर्यात करते हैं अब विश्व व्यापार से होने वाले लाभ का हिस्सा इन देशों को भी मिल रहा है।

विकासशील देशों की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी समस्याएं (Problems of Developing Countries Related to International Trade)

1. भुगतान शेष की समस्या विश्व (Problem of Balance of Payments) – अल्पविकसित देशों की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से संबन्धित मुख्य समस्या उनका प्रतिकूल भुगतान शेष है। इसका कारण यह है कि इनके आयात, निर्यातों की तुलना में अधिक होते हैं। इससे इन देशों का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है। प्रतिकूल भुगतान शेष की दशा में विकासशील देशों को विदेशों से ऋण लेना पड़ता है। इन विदेशी ऋणों पर व्याज देना पड़ता है। इस तरह विकासशील देशों पर विदेशी ऋणों व ब्याज का भार बढ़ जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. व्यापार की शर्तों सम्बन्धी समस्या (Problem Related to Terms of Trade) – किसी देश के आयात और निर्यात में जिस दर पर विनिमय होता है उसे व्यापार की शर्तें (Terms of Trade) कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक अन्य समस्या व्यापार की शर्तों का प्रतिकूल होता है। निर्धन देशों की व्यापार की शर्तों के प्रतिकूल (Unfavourable) रहने के कारण उनकी आय का काफी भाग धनी देशों में जाता रहता है। इसका अल्पविकसित देशों के विकास पर काफी बुरा प्रभाव पड़ा है। इस तरह व्यापार की शर्तें विकसित देशों के लाभ की रहती है तथा अल्प विकसित देशें को हानि उठानी पड़ती है। विकासशील देशों की व्यापार की शर्तें प्रायः निम्न कारणों से प्रतिकूल होती हैं– 1. पिछड़ी तकनीक 2. मोलभाव करने की क्षमता की कमी 3. विकासशील देशों के निर्यातों की कम लोच मांग 4. विकासशील देशों में सुदृढ़ क्षेत्रीय व्यापार संगठनों का अभाव 5. विकसित देशों द्वारा प्रतिस्थापन वस्तुओं का उत्पादन 6. विकासशील देशों में आयात प्रतिस्थापन वस्तुओं का न होना आदि।

3. प्राथमिक उत्पादों के निर्यात में कम वृद्धि (Less Growth in Exports of Primary Products)- प्राथमिक पदार्थों का अर्थ कृषि क्षेत्र के उत्पादों से है जैसे चाय, काफी, चावल, रबड़ आदि। विकासशील देशों के अधिकतर निर्यात प्राथमिक पदार्थों के हैं पर निम्न कारणों से विकासशील देशों के प्राथमिक पदार्थों का निर्यात बढ़ नहीं पा रहा है। इससे विकासशील देशों का विश्व निर्यातों में हिस्सा कम होता जा रहा है। उनका व्यापार शेष प्रतिकूल होता जा रहा है और ये देश विदेशी ऋणों के जाल में फंस गये हैं।

(i) प्राथमिक उत्पादों की मांग को आय लोच बहुत कम होती है। इसका अभिप्राय है कि उपभोक्ताओं की आय में एक निश्चित वृद्धि से प्राथमिक उत्पादों की मांग में बहुत ही कम वृद्धि होगी। अतः प्राथमिक उत्पादों की मांग में वृद्धि होने की बहुत ही कम संभावना है जैसे–खाद्यानों (Foodgrans), चीनी, चाय, काफी, आदि।

(ii) विकसित देशें में जनसंख्या वृद्धि दर बहुत ही कम है इसलिए विकसित देशें में प्राथमिक वस्तुओं की मांग बढ़ने की सम्भावना भी कम है।

(iii) प्राथमिक पदार्थों की मांग पर कृत्रिम प्रतिस्थापन वस्तुओं (Synthetic Substitutes) की उपलब्धता का भी प्रथाव पड़ता है। कई कृषि पदार्थो जैसे कपास, रबड़, जूट आदि के कृत्रिम प्रतिस्थापन उपलब्ध हैं। इनके फलस्वरूप प्राथमिक वस्तुओं की मांग कम होती है तथा इनकी कीमतें नहीं बढ़ने पाती।

4. पुरानी व पिछड़ी तकनीक (Backward Technology) - विकासशील देशों में विकसित देशों की तुलना में पुरानी और पिछड़ी तकनीक का प्रयोग किया जाता है। पुरानी तकनीक से बनाये गए उत्पाद घटिया किस्म के होते हैं। यही नहीं उनकी उत्पादन लागत भी अधिक होती है। अतः विकासशील देशों के उत्पाद अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में विकसित देशों के उत्पादों की बराबरी नहीं कर सकते। इससे विकासशील देशें के निर्यातों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

5. आवश्यक आयात (Essential Impoorts)-विकासशील देश प्रायः आवश्यक पदार्थो जैसे–पेट्रोलियम उत्पाद, मशीनरी, तकनीक, खादें, दवाइयां आदि का आयात करते हैं। इनके आयात को कम नहीं किया जा सकता। इन आवश्यक आयातों का भुगतान करने के लिए विकासशील देशों को प्रायः मंहगे विदेशी ऋणों पर निर्भर होना पड़ता है।

6. राशिपतन (Dumping) - बहुत से विकसित देश अपने उत्पादों को विकासशील देशों में बड़े ही कम मूल्य पर बेचते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य विकासशील देशों के घरेलू उद्योगों को नुकसान पहुंचाना है।

7. उपभोक्ता उत्पादों की अधिक मांग (More Demand of Consumption Goods) - विकसशील देशों की जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है। इसके कारण विकासशील देशों में उपभोक्ता वस्तुओं की मांग बहुत तेजी से बढ़ रही है। इससे विकासशील देशों को अधिक आयात करने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त जनसंख्या विस्फोट से उपभोक्ता वस्तुएं अपने देश में ही लग जाती है और निर्यात करने के लिए कम मात्रा बचती है। इससे निर्यात

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कम हो जाते हैं। अतः जनसंख्या विस्फोट के कारण, उपभोक्ता वस्तुओं का आयात बढ़ जाता है, निर्यात कम हो जाता है जिसका व्यापार शेष (Balance of Trade) बुरा प्रभाव पड़ता है।

8. पिछड़ा औद्योगिक ढांचा (Backward Industrial Structure) - विकसशील देशों का औद्यौगिक देशें की तुलना में काफी पिछड़ा हुआ है। इस पिछड़े औद्योगिक ढांचे के कारण हैं–पूंजी की कमी, पुरानी तकनीक, कुशल उद्यमियों की कमी आदि। विकासशील देशों में पूंजीगत सामान बनाने वाले उद्योग (Capital Goods Industries) बहुत कम है। परिणामस्वरूप विकासशील देशों में औद्योगिकीकरण के लिए मूलभूत सुविधाओं (Basic Requisites) का अभाव पाया जाता है। इससे इन देशों के उद्योग पिछड़ जाते हैं। पिछड़े उद्योगों के कारण, विकासशील देशों से निर्मित और अर्ध–निर्मित वस्तुओं का निर्यात बहुत ही कम होता है।

9. पिछड़ा सेवा क्षेत्र एवं अद्योसंरचना (Backward Tertiary Sector and Infrastructure) - विकसशील देशों में सेवा क्षेत्र जैसे व्यापार, बैंकिंग, बीमा और अद्योसंरचना, विकसित देशों की तुलना में काफी पिछड़ा हुआ है। यह विकासशील देशों के विकास में बहुत बड़ी बाधा है। पिछड़े सेवा क्षेत्र और पिछड़े अद्योसंरचना से औद्योगिकीकरण पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इस कारण से हमारे औद्योगिक– उत्पाद अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में विदेशी उत्पादों की बराबरी नहीं कर सकते हैं। पिछड़ा सेवा क्षेत्र और पिछड़ी अद्योसंरचना विकासशील देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में रूकावट है।

10. विदेशी प्रतिस्पर्धा (Foreign Competition) - विकसशील देशों के निर्यात उत्पाद, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अधिक प्रतिस्पर्द्धा का सामना कर रहे हैं। वैश्वीकरण के कारण अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पहले से बहुत बढ़ गया है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्द्धा का स्तर बढ़ गया है। उदाहरण के लिये भारत मुख्यतः जूट, चाय, कपड़े का निर्यात करता है। परन्तु अब इन उत्पादों में विदेशी प्रतिस्पर्द्धा बढ़ गई है। अब जूट के निर्यात में बंग्लादेश हमारा प्रतियोगी बन गया है। श्रीलंका और इण्डोनेशिया चाय उद्योग में तथा कोरिया और चीन कपड़ा उद्योग में भारत के प्रतियोगी हैं। इससे हमारे निर्यातों पर बुरा प्रभाव पड़ा है।

11. कच्चे तेल की कीमतों में वृद्धि (Increase in the Price of Crude Oil) – प्रायः विकसशील देश तेल का आयात करते हैं। पेट्रोलियम उत्पादों की कीमत में बहुत अधिक वृद्धि होने से सभी विकासशील देश बुरी तरह से प्रभावित हुए। इससे विकासशील देशों का कुल आयात बिल काफी बढ़ गया। पेट्रोलिय उत्पादों की कीमत बढ़ने से विकासशील देशों की घरेलू अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा और विकासशील देशों का व्यापार शेष प्रतिकूल हो गया।

12. ऊँचा घरेलू मूल्य स्तर (High Domestic Price Level) – पिछड़ी हुई तकनीक के कारण, विकासशील देशों के उत्पादों की लागत, विकसित देशों की तुलना में काफी अधिक हैं। अतः विकासशील देशों में मूल्य स्तर ऊंचे हैं। विकासशील देशों के उत्पाद महंगे होने के कारण विकसित देशों के उत्पादों की बराबरी नही कर सकते हैं।

13. उद्यमियों की कमी (Lack of Enterpreneurs) – विकासशील देशों में अनुभवी तथा कुशल उद्यमियों की कमी होती है। ये उद्यमी विदेशी व्यापार करने से झिझकते हैं। इनके पास विदेशी व्यापार के लिये पर्याप्त पूंजी व अनुभव का अभाव होता है।

14. अन्य समस्याएं (Other Problems) – विकासशील

(i) घटिया किस्म (Poor Quality) – विकासशील देशों के उत्पादों की क्वालिटी, विकसित देशों के उत्पादों की तुलना में घटिया होती है।

(ii) सीमित बाजार (Limited Market) – विकासशील देशों के उत्पाद बहुत ही कम देशों में विकते हैं। इससे विकासशील देशों का निर्यात बढ़ नहीं पाते जबकि विकसित देशों के उत्पाद बहुत ज्यादा देशों में बिकते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(iii) प्रचार की कमी (Lack of Publicity) – अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में विकासशील देशों के उत्पाद का अधिक प्रचार नहीं होता। इससे विदेशों में विकासशील देशों के उत्पादों की मांग नहीं बढ़ती, जिससे विकासशील देशों के निर्यात नहीं बढ़ते ।

(iv) विसित देशों द्वारा लगाई गयी टैरिफ व गैर–टैरिफ रूकावटें (Tariff andf Non-tariff Barriers imposedby Developed Countries) – विकसित देशों ने विकासशील देशों से आने वाले आयातों पर विभिन्न टैरिफ व गैर–टैरिफ रूकावटें लगा रखी हैं, जैसे–कोटा, टैरिफ डॅयूटी, पैकिंग अधिनियम, सुरक्षा नियम (Tariff-duties, Packing Regulations, Safety norms etc.) आदि। इससे विकासशील देशों के निर्यातों पर बुरा प्रभाव पड़ा है।

(v) अनुचित व्यापार व्यवहार (Unfair-Trade Practices) – कई बार विकासशील देशों के निर्यातक अल्पकालीन लाभ कमाने के लिए अनुचित व्यापार व्यवहारों में लग जाते हैं। वे दिखाये गये सैम्पल (Samples) के अनुसार माल नहीं भेजते। इससे विदेशी आयातकों का विश्वास उठ जाता है।

विकासशील देशों की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी समस्याओं को दूर करने के लिये सुझाव

(Suggestions to Overcome Problems of Developing Countries related to International Trade)

1. आधुनिक तकनीक का प्रयोग
2. विकासशील देशों के आपसी व्यापार को बढ़ावा देना।
3. विकासशील देशों की घरेलू अर्थव्यवस्था में आयात प्रतिस्थापित वस्तुओं को निर्माण करना।
4. निर्यातों का विविधीकरण करना।
5. विकासशील देशों द्वारा सुदृढ़ क्षेत्रीय व्यापार संगठन बनाना।
6. घरेलू मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण रखना।
7. विकासशील देशों में जनसंख्या पर नियंत्रण रखना जिससे निर्यात के लिए अधिक वस्तुएं बच सके।
8. विकासशील देशों की सरकारों द्वारा घरेलू उत्पादों का विदेशी बाजारों में अधिक प्रचार करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विदेशी व्यापार और आर्थिक विकास
(Foreign Trade and Economic Growth)

परिचय एवं अर्थ (Introduction and Meaning) –

विदेशी व्यापार का तात्पर्य अन्य देशों को उत्पाद बेचने या उनसे उत्पाद खरीदने से है। आर्थिक विकास का तात्पर्य राष्ट्रीय आय में वृद्धि, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, लोगों के जीवन स्तर में सुधार आदि से है। विदेशी व्यापार आर्थिक विकास के रास्तें में आने वाली बाधाओं को दूर करने में सहायता करता है। पूंजी उत्पादों की कमी, आधुनिक तकनीक व अन्य आवश्यक कच्चा माल जैसे– तेल, पेट्रोल, गैस की कमी को विदेशी व्यापार से पूरा किया जा सकता है।

प्रो. हैवरलर का विचार था कि, "19वीं शताब्दी में अल्पविकसित देशें के विकास में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है तथा भविष्य में भी उतने ही महत्वपूर्ण योगदान की सम्भावना है।"

प्रो. हिक्स के अनुसार, "विदेशी व्यापार के फलस्वरूप अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास की गति में तीव्र वृद्धि होती है। उनको उन्नत तकनीक के अवसर प्राप्त होते हैं। बाजार के क्षेत्र का विस्तार होता है व आवश्यक विदेशी वस्तुओं की प्राप्ति होती है। देश में उत्पादन आय तथा रोगार में वृद्धि होती है। अरब देशों, सिंगापुर, ब्राजील, थाईलैंड, जापान, कोरिया, ताईवान, ह्वांगकांग आदि देशों की उन्नति का मूल कारण विदेश व्यपार है।"

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास पर लाभदायक प्रभाव
(Beneficial Effects of Foreign Trade on Development) –

विदेशी व्यपार के विकास पर निम्नलिखित लाभदायक प्रभाव पड़ते हैं–

1. बाजार के आकार में विस्तार (Expansion in the Size of Market) – विदेशी व्यापार से दोनों विकसित तथा विकासशील देशों के बाजार के आकार में विस्तार होता है। विकसित देशों के पास आधिक्य औद्योगिक उत्पादन (Surplus Industrial Production) है। कुछ विकासशील देशों के पास भी कुछ प्राथमिक उत्पादों का आधिक्य उत्पादन है। जैसे –चाय, काफी, जूट, सूती वस्त्र, मशाले आदि। विदेशी व्यापार से इस आधिक्य उत्पादन को दूसरे देशों के बाजारों में बेचा जा सकता है। विदेशी व्यापार से बाजार का आकार राष्ट्रीय से अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है।

2. तकनीकी प्रगति (Technical Progress) - विदेशी व्यापार के कारण अल्प विकसित देशों को विकसित देशों की नयी तकनीक नव प्रवर्तनों (Innovations) तथा नये आविष्कारों का प्रयोग करने का अवसर प्राप्त होता है। विदेशी व्यापार से अल्पविकसित देश उच्च तकनीक का आयात करके आधारभूत व भारती उद्योग जैसे–लोहा, इस्पात, सीमेन्ट, खाद, रसायन आदि की स्थापना कर सकते हैं। यह आधारभूत उद्योग अल्प विकसित देश के आर्थिक विकास के लिए बहुत आवश्यक हैं। नयी तकनीकों का प्रयोग करने से लागत कम होती है। इससे कीमतें कम हो जाती हैं। इस तरह विदेशी व्यापार के फलस्वरूप अल्पविकसित देश विकसित देशों के आधुनिक तकनीकी ज्ञान नये आविष्कारों तथा उत्पादन के नये तरीकों को ग्रहण करके विकास की गति को तीव्र कर सकते हैं।

3. स्वस्थ प्रतिस्पर्धा (Healthy Competition) - विदेशी व्यापार देश में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा को जन्म देता है। इसके फलस्वरूप उत्पादन की कुशलता में वृद्धि होती है। वस्तुओं की लागतें कम होती हैं। तथा समस्त जनता को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लाभ प्राप्त होता है। स्वस्थ प्रतियोगिता के कारण देश की जनता का अकुशल घरेलू निर्माता शोषण नहीं कर सकते । विदेशी निर्माताओं से प्रतियोगिता का सामना करने के लिए घरेलू निर्माता अपनी कार्य कुशलता में सुधार लाते है। इससे देश में कुशल उद्योगों की स्थापना संभव होती है। इस आर्थिक विकास का अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

4. तुलनात्मक लाभ (Comparative Advantage) – विदेशी व्यापार द्वारा विभिन्न देश अपने साधनों का उपयुक्त प्रयोग कर सकते हैं। प्रत्येक देश उसी उत्पाद को बनाता है जिसके निर्माण में वह तुलनात्मक रूप से अधिक सक्षम है। इस उत्पाद को बनाकर उसका निर्यात भी करता है। दूसरी तरफ यह देश ऐसे उत्पाद को स्वयं नहीं बनाता जिसके निर्माण यह अधिक सक्षम नहीं है। अपितु ऐसे उत्पाद को उन देशों से आयात करता है। जिनकी इस उत्पाद के निर्माण में अधिक निपुणता व कुशलता है। अन्य शर्तों में विदेशी व्यापार के कारण प्रत्येक देश अपनी जरूरत सभी उत्पादों को स्वयं नहीं बनाता बल्कि उन्हीं उत्पादों को बनाता है जिसमें इसका विशिष्टीकरण है। इससे विशिष्टीकरण के लाभ जैसे–उत्पादन की कम लागत, कम कीमतें, उत्पाद की अच्छी क्वालिटी आदि प्राप्त होती है। इसी तरह कुछ सेवाओं की दशा में भी कुछ देशों में तुलनात्मक लागत कम आती है जैसे – भारत में मेडिकल सेवा, विकसित देशों की तुलना में सस्ती है। इसका लाभ बहुत से देशेां के लोग उठा रहे हैं। अतः विदेशी व्यापार द्वारा साधनो का सर्वोत्तम प्रयोग होता है।

5. मुद्रा स्फीति पर नियन्त्रण में सहायक (Helps to Check Inflation)- विकासशील देशों में प्रायः जनसंख्या बहुत अधिक होती है इससे अर्थ व्यवस्था में कुल मांग बहुत अधिक होती है। इन देशों में कृषि उद्योग भी पिछड़े होते हैं। इनकी उत्पादकता कम होने के कारण आवश्यक उत्पादों की पूर्ति कम होती है। इस तरह अधिक मांग व कम पूर्ति के कारण मुद्रा स्फीति का दबाव बना रहता है। कई बार आवश्यक उत्पादों की कीमतें इतनी अधिक बढ़ जाती है कि जनसाधारण उन ऊंची कीमतों का भुगतान करने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसी दशा में आयात द्वारा आवश्यक उत्पादों की पूर्ति बढ़ाकर इनकी बढ़ती कीमतों को रोका जा सकता है।

6. प्राकृतिक आपदा का सामना करने में सहायक (Helps to Face Natural Calamity) – प्राकृतिक आपदा बाढ़, सूखा, सुनामी, भूचाल आदि के रूप में हो सकती है। बाढ़ व सूखा कृषि उत्पादन को खूब प्रभावित करते हैं इससे कृषि पर आधारित उद्योगों को भी नुकसान होता है। इसी तरह उद्योग –प्रस्त क्षेत्रों (Indusrial belts) में यदि भूचाल आ जाय तो इससे औद्योगिक इकाइयों को बहुत नुकसान होता है। ऐसी दशा में प्राकृतिक आपदा से पीड़ित क्षेत्रों में आवश्यक उत्पादों की कमी हो जाती है इस कमी को आयात द्वारा पूरा किया जा सकता है।

7. प्राकृतिक साधनों के पूर्ण प्रयोग में सहायक (Helps to Exploit Natural Resources) – कुछ देशों के पास प्राकृतिक साधनों की भरमार है। ये प्राकृतिक साधन उनकी घरेलू आवश्यकताओं से कहीं अधिक है। यह देश इन प्राकृतिक साधनों को निर्यात करके विदेशी मुद्रा कमा सकते हैं जैसे– अरब देशों के पास तेल साधनों की भरमार है। यह देश आधिक्य तेल (Surplus Oil) अन्य देशों को निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित करते हैं। यदि विदेशी व्यापार न होता तो इन देशों के ये आधिक्य प्राकृतिक साधन व्यर्थ हो जाते। निर्यात के बिना इनका पूर्ण प्रयोग संभव नहीं था।

8. रोजगार अवसरों का सृजन (Creation of Employment Opportunities) – विदेशी व्यापार प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से रोजगार अवसर उत्पन्न करता है। आयात व निर्यात व्यवसाय में संलग्न व्यक्तियों के लिए यह प्रत्यक्ष रोजगार उत्पन्न करता है। इसके अलावा निर्यात किये जाने वाले उत्पादों के निर्माण में भी कई व्यक्ति संलग्न हैं। अतः विदेशी व्यापार निर्यात उत्पादों के निर्माण में लगे व्यक्तियों के लिए भी प्रत्यक्ष रूप से रोजगार अवसर उत्पन्न करता है।

9. पूंजी निर्माण को बढ़ावा (Promote Capital Formation) - पूंजी निर्माण का तात्पर्य निवेश के स्टाक में वृद्धि से है। विदेशी व्यापार लाभप्रद निवेश अवसर प्रदान करता है। यह लोगों को अपनी बचतें विदेशी व्यापार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

निवेश करने के लिये प्रेरित करता है। इस तरह लाभप्रद निवेश अवसर उत्पन्न करके यह निवेश वृद्धि में सहायक है। निवेश वृद्धि पूंजी निर्माण को बढ़ाती है।

10. राष्ट्रीय आय में वृद्धि (Increase in National Income) – विदेशी व्यापार राष्ट्रीय आय की वृद्धि में सहायक है। विदेशी व्यापार अर्थ व्यवस्था में उत्पादन क्रियाओं को बढ़ावा देता है। प्राकृतिक साधनों के पूर्ण उपयोग में सहायता करता है। उच्च तकनीक व पूंजी उत्पाद का आयात करके घरेलू निर्माणी इकाईयों की उत्पादकता बढ़ती है। कृषि क्षेत्र व सेवा क्षेत्रों में भी आधुनिक तकनीक के आयात से उत्पादकता बढ़ती है। इन सबसे अर्थव्यवस्था में उत्पादन बढ़ता है। जिससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

11. जीवन स्तर में सुधार (Increase in Standard of Living) – विदेशी व्यापार द्वारा लोग उन उत्पादों का भी प्रयोग कर सकते हैं जिनका निर्माण उनके अपने देश में नहीं हो रहा है। विदेशी व्यापार के कारण लोग विदेशों में निर्मित उच्च क्वालिटी उत्पादों को खरीद सकते हैं या प्रयोग कर सकते हैं। इस तरह विदेशी व्यापार घरेलू अर्थव्यवस्था में उच्च क्वालिटी व आधुनिकतम उत्पादों की उपलब्धता संभव बनाता है इससे लोगों के जीवन स्तर में सुधार आता है।

12. औद्योगीकरण को बढ़ावा (Promote Indusrialisation) – अल्पविकसित देशाों के औद्योगिक विकास के लिए विदेशी व्यापार का एक महत्वपूर्ण लाभ यह होता है कि इनके फलस्वरूप यह देश औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक पूंजीगत वस्तुओं जैसे मशीनरी मध्यवर्ती वस्तुएं तथा औद्योगिक कच्चे माल का आयात करके अपने देश का औद्योगिकीकरण कर सकते हैं। औद्योगिकीकरण से आर्थिक विकास में तेजी आती है।

13. महत्वपूर्ण शैक्षणिक प्रभाव (Important Educational Effects) – विदेशों में विज्ञान, इंजीनियरिंग, प्रबन्ध आदि के क्षेत्र से संबन्धित अच्छी पुस्तकें व मैगजीने उपलब्ध है। इन अच्छी पुस्तकों व मैगजीनों को आयात करके अल्पविकसित देश तकनीकी, वैज्ञानिक व प्रबन्धकीय शिक्षा को बढ़ावा दे सकते हैं। इसके अलावा अल्पविकसित देशों को विकसित देशों की सफलताओं और असफलताओं से सीखने का अवसर प्राप्त होता है। विदेशी व्यापार के फलस्वस्प अल्प विकसित देश विकसित देशों के तकनीकी ज्ञान, नये आविष्कारों और कुशल प्रबन्ध को ग्रहण करके विकास की गति को तीव्र कर सकते हैं।

14. सांस्कृतिक आदान–प्रदान (Cultural Exchange) – विदेशी व्यापार से विभिन्न देशों में रहने वाले लोग एक दूसरे के संपर्क में आते हैं। इससे वे एक दूसरे की संस्कृति अच्छे मूल्यों में सीखते हैं।

15. विभिन्न राष्ट्रों के बीच मधुर सम्बन्ध (Good Relation among Different Nations)- विदेशी व्यापार से विभिन्न देशों के आपसी सम्बन्धों में मधुरता आती है। इससे विश्वशांति में वृद्धि होती है व समूचे विश्व के विकास को बढ़ावा मिलता है।

विदेशी व्यापार के विकास पर हानिकारक प्रभाव
(Harmful Effects of Foreign Trade on Development) –

विदेशी व्यापार के अल्प विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए निम्नलिखित प्रभाव हैं–

1. असंतुलित विकास (Lopsided Development) – विदेशी व्यापार के कारण अल्पविकसित देशों में दोहरी अर्थव्यवस्था उत्पन्न हो गयी है। इसका अभिप्राय यह है कि इन देशों के कुछ थोड़े से भाग में जहां निर्यात वस्तुओं के उद्योग स्थापित हुए हैं। विकास हुआ है। परन्तु देश का अधिकतर भाग निर्धन और पिछड़ा हुआ रह गया है। इस प्रकार देश में क्षेत्रीय असमानता बढ़ी है।

2. लाभ की सीमित संभावना (Limited Possibility of Gain) – अल्पविकसित देशों को विदेशी व्यापार से मिलने वाली लाभ की संभावनाएं भी बहुत सीमित हैं। इनका मुख्य कारण यह है कि अल्पविकसित देश मुख्य रूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

से प्राथमिक पदार्थों (Primary Project) का निर्यात करते हैं। परन्तु उनके निर्यातों को निम्नलिखित कारणों से हानि उठानी पड़ रही है। (i) विकसित देशों में अधिकतर कृषि उत्पादन की मांग की आय लोच (Income Elasticity) कम है। (ii) कई विकसित देश कृषि पदार्थों के आयात के सम्बन्ध में संरक्षण की नीति अपना रहे है। (iii) कृषि पदार्थों के स्थान पर कृत्रिम वस्तुओं (Synthetic Goods) का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। उपरोक्त कारणों के फलस्वरूप प्राथमिक पदार्थों के निर्यात से अल्प विकसित देशों को होने वाली आय निरन्तर कम होती जा रही है। इसलिए व्यापार को अल्प विकसित देशों के विकास का इंजन नहीं माना जा सकता।

3. राशिपातन (Dumping) – यदि कोई देश अपने उत्पाद को दूसरे देश में कम कीमत पर बेचता है जिसका उद्देश्य दूसरे देश के घरेलू उद्योगों को नुकसान पहुंचाना है तो उसे राशिपातन कहा जाता है। विकसित देशों के राशिपातन व्यवहार से अल्प विकसित देशों को नुकसान होता है।

4. बचत पर बुरा प्रभाव (Bad Effect on Savings)– आयातित उत्पादों के अधिक उपभोग से लोगों का खर्च बढ़ता है। खर्च के बढ़ने से बचत में कमी आती है। बचते कम होने से पूंजी निर्माण में कमी आती है। लोग उत्पादक सम्पत्तियों में निवेश न करके व्यर्थ उपभोग पर अधिक खर्च करते है। इसे अर्थव्यवस्था में पूंजी निर्माण में कमी आती है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शन प्रभाव (International Demonstration Effect) – विदेशी व्यापार का अल्पविकसित देशों पर पड़ने वाला प्रदर्शन प्रभाव उनके विकास के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि विदेशी व्यापार के कारण अल्पविकसित देशों के लोगों में भी विदेशों में उत्पन्न विलासिता तथा दिखावट वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है। इस प्रकार इन देशों के लोग अपनी बढ़ती हुई आय का अधिक भाग विदेशी उपभोग वस्तुओं को खरीदने में खर्च कर देते हैं। यदि सरकार इन वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगाती है तो लोग काले बाजार (Black Market) में इन वस्तुओं को खरीदने लगते हैं। इसके फलस्वरूप देश में स्मगलिंग और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। इसका इन देशों की अर्थव्यवस्था का बुरा प्रभाव पड़ता है।

6. व्यापार की शर्तों में गिरावट (Deterioration in Terms of Trade) – किसी देश के आयात और निर्यात में जिस दर पर विनिमय होता है उसे व्यापार की शर्तें कहते है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक अन्य समस्या व्यापार की शर्तों का प्रतिकूल होना है। निर्धन देशों की व्यापार शर्तों के काफी समय तक प्रतिकूल (Unfavorable) रहने के कारण उनकी आय का काफी भाग धनी देशों में जाता रहता है। इसका अल्प विकसित देशों के विकास पर काफी बुरा प्रभाव पड़ता है। इस तरह व्यापार की शर्तें विकसित देशों के लाभ की रहती हैं। तथा अल्प विकसित देशों को हानि उठानी पड़ती है।

7. घरेलू रोजगार पर बुरा प्रभाव (Bad Effect on Domestic Employment) – जब कोई देश कुछ ही उत्पादों का निर्माण करता है और बाकी उत्पादों का आयात करता है तो इससे रोजगार के अवसरों में कमी आती है जो उत्पाद अब आयात किये जा रहे हैं इनके घरेलू उत्पादन में संलग्न व्यक्ति बेकार हो जाते हैं। इसके अलावा पूंजी प्रधान तकनीक के आयात से भी रोजगार कम अवसर उत्पन्न होते है। इस तरह आयात करने से घरेलू रोजगार पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

8. भुगतान शेष के प्रतिकूल होने की समस्या (Problem of Unfavourable Balance of Payments)- यदि किसी देश के आयात निर्यात से अधिक है तो इससे भुगतान शेष प्रतिकूल हो जाता है प्रायः विकासशील देशों का भुगतान शेष प्रतिकूल हो जाता है। इस घाटे को पूरा करने हेतु इन देशों को विदेशी ऋण लेना पड़ता है। जिससे देश पर ब्याज का भार बढ़ जाता है।

9. घरेलू अर्थव्यवस्था में उत्पादों की कमी (Deficiency of Goods in Domestic Economy) – अधिक निर्यात करने से घरेलू बाजार में उस उत्पाद की पूर्ति कम हो जाती है। पूर्ति के कम होने से घरेलू बाजार में उस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्पाद की कीमतों में बहुत वृद्धि हो जाती है। उदाहरण के तौर पर वर्ष 1996–97 में भारत ने अरब देशों को बहुत अधिक मात्रा में प्याजों का निर्यात किया इससे इस वर्ष में प्याजों की कीमत साधारण कीमत पांच रूपये प्रति किलो से बढ़कर 80 रूपये हो गयी।

10. घरेलू उद्योगों को हानि (Set Back ot Domestic Industry) – सस्ते आयात की दशा में आयातित उत्पादों की मांग बढ़ जाती है। इससे उस उत्पाद को बनाने वाली घरेलू औद्योगिक इकाइयों को हानि होती है। जैसे–चीन से खिलौने के आयात से भारत के घरेलू खिलौने निर्माताओं को हानि हुयी है।

11. भ्रष्टाचार में वृद्धि (Increase in Corruption) – आयात व निर्यात सम्बन्धी कार्य विधियां बहुत जटिल होती है इसके लिये सरकारी अधिकारियों विभिन्न अनुमोदन (Approvals) लाइसेंस कोटा आदि लेने पड़ते है। प्रायः आयातको व निर्यातको को सरकारी अधिकारियों से यह आवश्यक अनुमोदन लेने के लिए उन्हें रिश्वत देनी पड़ती है। इससे रिश्वतखोरी को बढ़ावा मिलता है।

12. अत्यधिक आपसी निर्भरता (Over Interdpendence) – विदेशी व्यापार से आत्म निर्भरता कमी आती है व एक देश की दूसरे देशों पर पर निर्भरता बहुत अधिक बढ़ जाती है।

इस प्रकार विदेशी व्यापार के आर्थिक विकास पर पड़ने वाले प्रभावों से यह पता चलता है कि विदेशी व्यापार विशिष्टीकरण को बढ़ावा देता है इससे साधनों का उपयुक्त उपयोग होता है, यह एकाधिकार प्रवृत्तियों को रोकता है, अल्पविकसित देशों के औद्योगिक विकास में सहायक होता है।

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. आई.बी.आर.डी. का पूरा नाम क्या है?
   Write the full name of IBRD.
2. डब्लू.टी.ओ. क्या है?
   What is W.T.O.?
3. सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों को परिभाषित कीजिए।
   Define Socio-cultural value?
4. व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व को परिभाषित कीजिए।
   Define the social responsibilities of Business.
5. व्यावसायिक नीतिशास्त्र क्या है?
   What is Business ethics?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. विश्व बैंक के क्या कार्य हैं?
   What are the function of World Bank?
2. काउन्टर ट्रेड नीति क्या है?
   What is counter Trade Policy?
3. निजीकरण की प्रमुख विशेषताओं को समझाइये।
   Discuss the main features of privatisation.

निबन्धात्मक प्रश्न

1. विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य तथा मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए।
   Discuss the objectives of main functions of World Trade Organisation.
2. टिप्पणी लिखिए– Write short notes
   (अ) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष IMF
   (ब) आई.एम.एफ. के कार्य– Function of IMF
   (स) आई.एम.एफ. की भूमिका Role of IMF
3.. व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की प्रमुख विशेषताएं बताइए।
   Discuss the main characteristics of Social Responsibilities of business.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun